ओ३म्

# मीमांसा दर्शनम्

पं० देवदत्त शर्मा उपाध्याय

ओ३म्

महर्षि जैमिनिप्रणीतम्-

# मीमांसा-दर्शनम्

भाष्यकार :

**विद्याभास्कर पं० देवदत्तशर्मोपाध्याय एम०ए०**

प्राचीन-व्याकरण, नव्य-व्याकरण, वेदान्ताचार्य,
पोस्टाचार्य, साङ्ख्य-योग-मीमांसातीर्थ,
प्राध्यापक-दर्शनविभाग, गवर्नमेण्ट
संस्कृत कालेज, वाराणसी

प्रकाशक :

**सत्यधर्म प्रकाशन**

चलभाष : ०९२१३३-२६५५२, ०९८१२५-६०२३३

प्रकाशक : **सत्यधर्म प्रकाशन**
चलभाष : ०९२१३३-२६५५२, ०९८१२५-६०२३३

प्राप्ति-स्थान : **गुरुकुल भैयापुर-लाढ़ौत,**
रोहतक (हरयाणा)

**संस्करण** : प्रथम, २००७ ई०

**मूल्य** : १२५.०० रुपये

**प्राप्ति-स्थान** : **१. हरयाणा साहित्य-संस्थान**
महाविद्यालय गुरुकुल, झज्जर-१२४ १०३ (हरयाणा)
**२. आर्यसमाज मन्दिर, काकरिया**
रायपुर दरवाजे के बाहर, अहमदाबाद (गुजरात)
**३. कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, चोटीपुरा**
जिला ज्योतिनगर (मुरादाबाद) उत्तरप्रदेश
**४. आर्यसमाज मन्दिर सहजपुर बोघा,**
अहमदाबाद (गुजरात)
**५. दयानन्दमठ दीनानगर,** जिला गुरदासपुर (पंजाब)
चलभाष : ०९४१७३-३६६७३

शब्द-संयोजक : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स,** कैलाशनगर, दिल्ली-३१
दूरभाष : ०१७४५-२७४५६८, ०९२५५९-३५२८९

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली-११००३१

# प्रकाशकीय

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञों के अनुष्ठान की चर्चा अपने ग्रन्थों में की है। इन यज्ञों में अग्निहोत्र सबसे छोटा होते हुए भी इसकी गणना पंचमहायज्ञों में की गई है। "**जरामर्यं वैतत्सत्रं यदग्निहोत्रम्**"। अग्निहोत्र को जरामर्यसत्र शास्त्रों ने माना है। मनुष्य का शरीर जरा=बुढापे से जीर्ण-शीर्ण हो जावे अथवा मृत्यु होने तक प्रतिदिन दोनों सन्धिवेलाओं में अग्निहोत्र करना चाहिये। इतना दीर्घसूत्र होने के कारण ही इस की गणना पांच महायज्ञों में की गई है। प्रत्येक गृहस्थ के लिये इन पांच महायज्ञों को अनुष्ठान अनिवार्य बतलाया है। किन्तु अग्निहोत्र तो प्रथमाश्रमी विद्यार्थी और गृहत्यागी वानप्रस्थी के लिये भी अवश्यकरणीय कर्म है। इस पर स्वामी दयानन्द सरस्वती सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में लिखते हैं—

"प्रश्न-क्या इस होम करने के बिना पाप भी होता है? उत्तर—हां। क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न हो के वायु और जल को बिगाड़कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त कराता है उतना ही पाप उसी मनुष्य को होता है। इसलिये उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक वायु वा जल में फैलाना चाहिये। —अच्छे पदार्थ खिलाना पिलाना भी चाहिये, परन्तु उससे अधिक होम अधिक करना उचित है, इसलिए होम का करना अत्यावश्यक है।"

महर्षि जैमिनि ने अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त सभी याज्ञिक अनुष्ठानों का विधान इस मीमांसा दर्शन में किया है। इस कर्मकाण्ड निर्णायक दर्शन के पठन-पाठन का प्रचलन वर्तमान में बहुत न्यून है, विशेष तथा उत्तर भारत में तो नाम मात्र ही कहा जा सकता है। द्वादशाध्ययात्मक इस महत्त्वपूर्ण दर्शन पर व्यासमुनिकृत व्याख्या इस समय अनुपलब्ध होने के कारण वर्तमान में सबसे प्राचीन शाबरभाष्य ही उपलब्ध है। वह भी संस्कृत में होने के कारण जनसाधारण की समझ से परे है। उसी के आधार पर पण्डित आर्यमुनि, आचार्य देवदत्त उपाध्याय, पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक आदि ने भी हिन्दी में भाष्य किये हैं, जो वेदानुकूल कहे जा सकते है।

मध्यकाल में यज्ञों में पशुबलि का प्रचलन, वेदों में मांसभक्षण आदि

का दुष्प्रचार भी इस दर्शन को ठीक से न समझने के कारण स्वार्थी लोगों ने किया।

हिन्दी भाषा में सरल और संक्षिप्त इस तीन अध्यात्मक भाष्य के कर्ता आचार्य देवदत्त लिखते हैं—

**केचिद् वदन्ति पशुपक्षिबलिप्रदं हा।**
**केचिद् वदन्ति भुवि मद्यप्रवर्धकं हा।**
**केचिद् वदन्ति भुवि पशुयागविधायकं हा।**
**शास्त्रं श्रुतिज्ञमुनिजैमिनिना प्रणीतम्॥ २॥**
**भाष्यं मयापि विहितं यदि संस्कृते स्यात्,**
**स्यादेव चाद्य सुमहान् जनतोपकारः।**
**तस्माच्च सर्वहितकामनयैव हिन्द्याम्,**
**विज्ञा! व्यधायि शुभसुन्दरभाष्यमेतत्॥**

मीमांसा दर्शन में कुछ लोग यज्ञों में पशु-पक्षियों की बलि का विधान बतलाते हैं। कुछ मद्य-मांस खाने की बात करते हैं किन्तु वेदज्ञ विद्वान् जैमिनिकृत इस दर्शन में ऐसा कुछ भी वेदविरुद्ध विधान नहीं है। साधारण जनता के उपकार के लिए ही मैंने हिन्दी में यह सुन्दर भाष्य किया है।

वास्तव में इस यज्ञ-कर्म-काण्ड विधायक महान् शास्त्र को समझने के लिये इस शास्त्र के ज्ञाता विद्वानों के चरणों में बैठकर अध्ययन करने और इसमें वर्णित यज्ञ-पत्रों और क्रियाकलापों को प्रत्यक्ष क्रियात्मक रूप में देखने की आवश्यकता है। मीमांसादर्शन के विद्वानों से सहयोग लेकर कम से कम गुरुकुलों में इस परम्परा को बनाये रखना बहुत आवश्यक है।

**—आचार्य सत्यानन्द 'नैष्ठिक'**
प्रकाशक

ओ३म्

असतो मा सद् गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय।

# प्राक्कथन

महानुभाव!

आज इस संसार में ऐसा कौन होगा, जिसने कि भारत-भूमि (आर्यावर्त) के नामश्रवण से अपने कर्णकुहरों को पवित्र न किया हो। जिस भारत में गौतम, कपिल, कणाद, व्यास, जैमिनि, पतञ्जलि जैसे दर्शनशास्त्रप्रणेता-महर्षि, शिवि-कर्ण-दधीचि-हरिश्चन्द्र जैसे दानी, द्रोण-भीष्म-भीम-अर्जुन सदृश बलशाली, युधिष्ठिर सदृश धर्मात्मा, सती, सीता-सावित्री-सुलोचना सदृशी पतिव्रतपरायणा, अङ्गना तथा काली, कराली-दुर्गा और चण्डी जैसी वीरङ्गनायें हो चुकीं। इतना ही नहीं, अपितु जिस देश को मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र और नन्दनन्दन ब्रजनन्दन भगवान् कृष्णचन्द्र ने भी अपनी-अपनी जीवनलीला का केन्द्र बनाया था। जिसके विषय में आज भी, संस्कृत पाठशालाओं को तो जाने दो, स्कूलों तक की पुस्तकों में पढ़ाया जाता है—

**'गायन्ति देवाः किल गीतकानि**
**धन्यस्त्वहो भारतभूमिभागः।.......'** इत्यादि।

अर्थात् देवतालोग भी गीत गा-गाकर प्रशंसा करते हैं, कि अहो भारतभूमि तू धन्य है।

भगवान् मनु भी अपनी पुस्तक मनुस्मृति में लिखते हैं—

**एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**
**स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥**

अर्थात् इस देश में पैदा हुए ब्राह्मणों के समीप से पृथिवी भर के संपूर्ण मनुष्य अपने-अपने चरित्रों की शिक्षा ग्रहण करें।

हा हन्त! आज उसी भारत में कुछ दिन पूर्व, सदियों से विदेशियों द्वारा पददलित भारत को स्वतन्त्र कराते समय पाकिस्तान बन जाने के

कारण भारतमाता के अङ्ग-भङ्ग होने पर भारत के प्यारे लाल और ललनाओं की जो कलङ्कपूर्ण दुर्दशा हुई, उसका नाम लेने में भी जिह्वा थर्राती है। नवजातशिशुओं को भाले की नोंक और तलवार के घाट उतारा गया। भूख और प्यास से बिलखते हुए लाल और ललनाओं को निन्दित कुचेष्टाओं द्वारा (यमपुर) यमराज के द्वार पर पहुँचाया गया। माताओं का सतीत्व अपहरण किया गया। भगिनियों को भरपूर भयभीत कर भारी संख्या में भगाया गया। अधिक क्या कहें—इसको यहीं समाप्त करते हैं, क्योंकि—

**कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः**

अर्थात् पापियों के पाप का वर्णन करने में भी पाप लगता है।

बन्धुवर्ग! और क्या कहें, जिस भारत-देशवासियों के सम्बन्ध में कविकुल-चक्र-चूड़ामणि पण्डितप्रवर 'बाण' ने लिखा है कि—

**जगुर्गृहेऽभ्यस्तसमस्तवाङ्मयैः**
**ससारिकैः पञ्जरवर्तिभिः शुकैः।**
**निगृह्यमाणा वटवः पदे पदे**
**यजूंषि सामानि न यस्य शङ्किताः।**

अर्थात् जिसके घर पर, वेदादि समस्त वाङ्मय के जाननेवाले पिंजरे में बैठे हुए तोता-मैनाओं द्वारा पद-पद में अशुद्धि निकाल देने के कारण, वेदपाठी-बच्चे यजुः, साम आदि का पाठ डरते-डरते कर रहे हैं, कि कहीं पुनः कोई अशुद्धि न निकाल दें।

इतना ही नहीं, किन्तु यह भी प्रसिद्धि है, कि जब शङ्कराचार्य मण्डनमिश्र से शास्त्रार्थ करने के लिए उसके नगर में पहुँचे, और मण्डनमिश्र का घर जानने के लिए कुएँ पर पानी भरती हुई पनिहारियों से पूछा कि मण्डनमिश्र का कौन-सा घर है, तब पनिहारियों ने उत्तर दिया कि—

**स्वतः-प्रमाणं परतः-प्रमाणम्**
**कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।**
**द्वारेषु नीडान्तरसन्निरुद्धाः**
**अवेहि तन् मण्डनमिश्रधाम॥** इत्यादि...

अर्थात् जिसके घर के द्वार पर पिंजरे में बैठे हुए पक्षी, वेद स्वतः प्रमाण है या परतः प्रमाण है, इस बात पर शास्त्रार्थ कर रहे हों, बस समझ लेना, कि वही मण्डनमिश्र का घर है, इत्यादि।

मान्यवृन्द!

इन पूर्वोक्त उदाहरणों के दिग्दर्शन से पता चलता है कि भारत में कभी वेद शास्त्रादि का ज्ञान अपनी उन्नति की चरम सीमा को पहुँचा हुआ था। परन्तु खेद से कहना पड़ता है, कि आज उस ज्ञान की भारत में पूर्व की अपेक्षा ठीक विपरीत अवस्था है। वेद और शास्त्रादि के ज्ञान की प्रौढ़ता तो पृथक् रही, किन्तु उनके नाम तक भी आज भारतवासी भलीभाँति नहीं जानते। जो काशी संस्कृतविद्या के सम्बन्ध में समग्र विश्व में प्रसिद्ध है, क्या आज उसमें कोई भी विद्वान् यह कह सकता है कि वेदों की (११३१) शाखाओं के अमुक-अमुक नाम हैं, उनका पठन-पाठन तो पृथक् रहा। वेदों का तो क्या कहना, दर्शनों (शास्त्रों) का भी अध्ययनाध्यापन देश में बहुत ही कम हो गया है। बहुत ही कम छात्र दर्शनों को पढ़ते हैं, और उनमें भी महर्षि-जैमिनि-प्रणीत 'मीमांसा-दर्शन' तो लुप्तप्राय: ही होता जा रहा है। संस्कृत भाषा के केन्द्र काशी जैसी पुरी में भी जहाँ कि आज भी सहस्रों पण्डित विद्यमान हैं, मीमांसा-शास्त्र के मर्मज्ञ खोज करने पर उनमें एक दर्जन भी न मिल सकेंगे। पण्डितों का ही यह अभाव नहीं, अध्ययनकर्ता विद्यार्थियों की भी यही दशा है। प्रतिशत (सौ में एक) एक छात्र भी मीमांसा विषय को नहीं पढ़ता। इसका यह अभिप्राय नहीं, कि मीमांसा-शास्त्र कोई भी ऐसी अगम्य वस्तु है जिसको कि कोई पढ़ ही न सकता हो। हाँ इतनी बात अवश्य है कि मध्यकाल में बौद्ध, जैन आदि अनेक प्रतिस्पर्धी अवैदिक जनों के प्रचण्ड प्रभाव एवं प्रचार से, तथा '**अहं ब्रह्मास्मि**' के तात्पर्य को ठीक-ठीक न समझनेवाले नवीन वेदान्तियों के अनुयायी साधु और पण्डितों के अनर्गल प्रवचन एवं दूषित प्रचार से, और विद्वज्जनों की अकर्मण्यता से वैदिक-कर्मकाण्ड और उसके प्रबल प्रतिपादक मीमांसा-शास्त्र के प्रचार को बहुत ठेस (क्षति) पहुँची। और जनता में प्रचार न होने के कारण कर्मकाण्ड की प्रक्रिया आदि, एवं उसके प्रतिपादक मीमांसा-शास्त्र के संस्कार भी समाप्त हो गये। और इतने समाप्त हुए, कि पढ़ते हुए अब वह मीमांसा शास्त्र लोगों को अगम्य और असंभव-सा प्रतीत होता है, तथा उस पर कोई शीघ्र विश्वास नहीं करता। इस शास्त्र के संस्कार न रहने ही के कारण जहाँ यह लिखा हुआ है, कि 'आजीवन दर्शपूर्णमास यज्ञ करे', वहाँ आज उनकी विधि और पात्र तो पृथक् रहे, उनके नाम तक भी लोग भूल गये। जब कोई उनके नाम और विधि को बतलाता है, तो बड़े-से-बड़े विद्वान् को एक स्वप्न-सा होता है। इतना ही नहीं, आर्यों के

गर्भाधानादि षोडश (१६) संस्कार भी यथाविधि और यथासमय होने बन्द हो गये। यज्ञोपवीत जैसे परमपवित्र संस्कार की भी यह गति है कि ब्रज के समीपादि प्रदेशों में कहीं-कहीं वह विवाह के समय ही होता है, चाहे उस यज्ञोपवीत धारण करने वाले की आयु कितनी भी क्यों न हो। और सो भी विधि आदि कुछ नहीं, केवल (यज्ञोपवीत) ही पहिना दिया जाता है।

## महर्षि स्वामी दयानन्द का प्रयत्न

इस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड की अवहेलना और उस कर्मकाण्ड के एकमात्र-पोषक मीमांसा-शास्त्र की जनता में अज्ञता और दुरवस्था को देख कर आर्यसमाज के प्रवर्तक, वैदिकधर्म के प्रबल समर्थक, महर्षि स्वामी दयानन्द जी महाराज ने देश में पुनः यज्ञादि वैदिककर्मकाण्ड के प्रचार का वीणा (बेड़ा) उठाया। और पञ्चमहायज्ञविधि, संस्कारविधि आदि की रचना कर प्रत्येक आर्य को प्रतिदिन अग्निहोत्र-यज्ञादि करने की आवश्यक प्रेरणा की। इतना ही नहीं, उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में दर्शनों में सर्वप्रथम पूर्वमीमांसा (मीमांसा-दर्शन) को ही पढ़ने के लिए लिखा है। उनका उद्देश्य था, कि जब आर्य वैदिक-यज्ञादि कर्मकाण्ड करने लगेंगे, तो तत्प्रतिपादक मीमांसा-शास्त्र का भी अवरुद्ध प्रचार एवं पुनरुद्धार पुनः जनता में हो जायगा। और इन शास्त्रों के मूलभूत वेदों के प्रति मानवमात्र की आस्था बढ़ जायगी, तथा वेद शास्त्रादि के अप्रचार के कारण जो इस अन्धकारमय युग में विधर्मियों नास्तिकों एवं वाममार्गियों ने, अहिंसा के प्रतीक विशुद्ध यज्ञादि कर्मकाण्ड और मधुपर्क आदि में, मनुष्यमात्र के लिए अभक्ष्य पशुपक्ष्यादि बलि का विधान कर, जो उन (वेदशास्त्रादि) को दूषित घृणित और कलङ्कित किया है, जिसके कि भ्रामक प्रचार से नास्तिकों को अपनी संख्या बढ़ाने में सहायता मिली है, उन सब अवैदिकों के अस्त्रों का निवारण हो जायेगा, तथा नास्तिकों के सिद्धान्तरूप बालू की भित्तियां वैदिक-स्रोत के प्रबलप्रवाह से पूर्णतया ध्वस्त हो जावेंगी, और यज्ञादि वैदिक-कर्मकाण्ड आमूल-चूड परिवर्तित हो, पुनः उस आर्ष वैदिक परम्परा के अनुसार जगत् में प्रचलित हो जाएगा। जिसके कि कारण मनुष्यमात्र अपने चरम-लक्ष्य परमपुरुषार्थ मोक्ष तक पहुँच सकेगा।

## यज्ञों में पशुबलि का निषेध

मान्यवृन्द!

संसार में सदा.दो प्रकार के मनुष्य देखने में आते हैं, एक तो

दैवी-प्रकृति के दूसरे आसुरी-प्रकृति के, अर्थात् एक उत्तम और दूसरे अधम। दैवी-प्रकृति के अर्थात् उत्तम मनुष्य सदा अभ्युदयकारी कृत्यों को करते रहते हैं, और आसुरी-प्रकृति-वाले अर्थात् अधम मनुष्य सदा विनाश-कारी कार्यों में रत रहते हैं। यही कारण है कि उन आसुरी-प्रकृतिवाले पुरुषों ने अपनी प्रकृति के अनुसार यज्ञ श्राद्ध, मधुपर्कादि में मांसादि का विधान बतला दिया। धर्मशास्त्र, वेद आदि के भाष्य भी अपनी अधमप्रकृति के अनुसार उसी भांति के कर डाले, जिससे कि भोली-भाली अज्ञ जनता की मद्य-मांसाशन के प्रति और भी रुचि बढ़ गई। यहां तक कि लोग यज्ञ, श्राद्ध, मधुपर्क आदि में स्पष्टरूप से (खुले आम) मांसादि का व्यवहार करने लगे। और मनुस्मृति आदि जैसे धर्मग्रन्थों में भी श्राद्ध में सूकरादि के मांस का विधान मिला दिया गया। इन सब बातों का परिणाम यह निकला, कि महात्मा 'बुद्ध' जैसे महानुभावों को भी यज्ञादि और तत्प्रतिपादक हमारे वेद शास्त्रों से मुख मोड़ लेना पड़ा। चाहिये तो यह था कि वे स्वतः वेदों को पढ़ते, और देखते कि वेदों में क्या लिखा है, तब जैसा उचित होता करते। परन्तु उन का भी क्या दोष है, क्योंकि वे इतने बड़े विद्वान् न थे, कि जो वेदादिकों को पढ़कर स्वयं अर्थ लगा सकते।

## स्वामी दयानन्द

परन्तु वेदों का पुजारी महर्षि स्वामी दयानन्द इन विधर्मियों के इस कुकृत्य को सहन न कर सका। उसने बड़ी कड़ी लेखनी उठाई, और यज्ञादि में पशुबलि आदि का घोर विरोध किया।

वास्तव में यदि जनता महाभारत को भी पढ़ लेती, तो भी इस भ्रम में न पड़ती। महाभारत शान्तिपर्व उत्त०मो०ध० अध्याय ९ में लिखा है, कि—

**सुरा मत्स्याः पशोर्मासं द्विजातीनां बलिस्तथा।**
**धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु विद्यते॥**

अर्थात् सुरा, मछली और पशु पक्षी आदि का बलि-देना धूर्तों का निकाला हुआ है, वेदों में इसका कहीं भी विधान नहीं किया गया।

मनु ने भी लिखा है कि—

**न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।**
**प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥**

अर्थात् मद्यमांस के खाने में कोई दोष नहीं है, इस प्रकार की साधारण

अधम लोगों की प्रवृत्ति होती है, परन्तु इनसे सदा बचा रहना ही अभ्युदयकारी है।

और भी विचारिये—कि 'यज्ञ' शब्द 'यज' धातु से बना है, जिसका कि अर्थ देवपूजा, सङ्गतिकरण, और दान है। कहीं भी मारना अर्थ नहीं है। यज्ञ शब्द का पर्यायवाची जो 'अध्वर' शब्द है, उसका तो स्पष्ट अर्थ है—कि हिंसारहित को ही अध्वर कहते हैं। पुनः यज्ञ में हिंसा कैसी? अतः पूर्वोक्त महाभारत का कथन सर्वथा ठीक प्रतीत होता है कि यज्ञादि में मांसादि का विधान धूर्तों ने कल्पित किया है।

कोई कहते हैं—'**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति**' इत्यादि। किन्तु यह कथन सर्वथा अनर्गल और अप्रामाणिक है। सांख्यतत्त्वकौमुदी के रचयिता वाचस्पतिमिश्र ने स्पष्ट कर दिया है कि याज्ञिक-हिंसा से भी पाप लगता है, अत एव उसके लिए प्रायश्चित्त का भी विधान है। अतः (याज्ञिकी) हिंसा में पाप नहीं लगेगा, यह मांसाहारी, पापी एवं मूर्खों की धारणा है। किन्हीं का कहना है कि उपर्युक्त वाक्य का यह अभिप्राय है कि यज्ञादि करने से जो विषैले कीड़े-मकोड़े आदि नष्ट हो जाते हैं, और प्राणियों को सुख पहुँचता है। तथा जो प्राणियों को कष्ट पहुँचाने वाले हिंसक जीव-जन्तुओं को वेद वध करने की आज्ञा देता है-जैसा कि—(अथर्ववेद का० ४ अ० १ सू० ३ मं० ४) में दुष्टहिंसक विषैले वन्य पशुओं के नाश करने की आज्ञा है, तथा (अथर्ववेद कां० २ अनु० ५ सूक्त० ३२ मं० ५) में क्रिमियों के नाश करने की विधि है। (अथर्ववेद कां० १२ अनु० १ सू० १ मन्त्र ५९) में तो (पुरुषादश्चरन्ति) से स्पष्ट कहा गया है कि जो जीव (पशु) पुरुषों को खा जावें, वे वध्य हैं। मनुस्मृति में भी जो लिखा है, कि-

**या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।**
**अहिंसामेव तां विद्यात्.......... ॥**

इसका भी यही अभिप्राय है कि वेदविहित हिंसक-जीवों की हिंसा हिंसा नहीं है, अपितु अहिंसा ही है। सन्ध्या में कहा गया '**योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः**' इत्यादि मन्त्र भी इसी बात का द्योतक है। अतः इस पूर्वोक्त प्रकार की 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (जो वैदिकी हिंसा है उसको हिंसा नहीं माना जाता)' इसी को मूल आधार मानकर मांसाहारी लोग उपयोगी-पशु गाय, बकरी आदि को भी मारने काटने लग गये, और जनता में यह भ्रम फैला दिया-कि यज्ञ में काटा गया पशु सीधा स्वर्ग को चला जाता है, तथा वह पुनः जी भी जाता है—इत्यादि।

बन्धुवर्ग! हमारा तो यह कहना है कि यज्ञ का दूसरा पर्यायवाची शब्द 'अध्वर' है, अत: वह हिंसा का प्रतीक हो ही नहीं सकता। इस कारण यज्ञादि में पशवादि बलि की संभावना करना निश्चय ही आकाशपुष्प के समान है, महाभारत के कथनानुसार वास्तव में धूर्तों ने ही यह पशुबलि आदि चलाई है।

जगत्प्रसिद्ध पञ्चतन्त्र नाम की पुस्तक के काकोलूकीय प्रकरण में विष्णुशर्मा ने स्पष्ट अपना तात्पर्य प्रकट किया है-कि 'अज' पुराने चावलों का नाम है, धूर्तों ने उसका अर्थ 'बकरा' करके यज्ञादिकों को दूषित कर दिया है—इत्यादि।

**'अश्वमालभेत, गामालभेत, अजाजावीमाभेत, पुरुषमालभेत'** (तैत्तिरीय-ब्राह्मण ३ प्रपाठक ९ अनुवाक ८ में), तथा **अग्नीषोमीयं पशुमालभेत**-इत्यादि में जो आङ्पूर्वक लभ् धातु का मारना अर्थ किया है, वह सर्वथा असत्य अप्रामाणिक और भ्रमात्मक है। वहाँ तो स्पर्श करना अर्थ है। महीधर जैसा वाममार्गी भाष्यकार भी 'आलभेत' का अर्थ 'स्पर्शकरना' करता है। 'लभ्' धातु का प्राप्त करना अर्थ संस्कृतज्ञों में आबालवृद्ध प्रसिद्ध है। मीमांसाशास्त्र 'आलभेत' का अर्थ (त्याग, स्पर्श और प्राप्ति) ही मानता है। इसी 'आलभेत' का भ्रमात्मक मारनारूप अर्थ मानकर अज्ञानियों ने यज्ञादिकों को कलङ्कित कर डाला। और वेदविरोधी नास्तिकों को जनता में वेदों के प्रति घृणा और अश्रद्धा फैलाने का अवसर दिया। और वैदिक यज्ञादिरूप कर्मकाण्ड का लोप करा दिया।

यज्ञ में यूप (स्तम्भ) भी पशुओं को बाँधकर दूध निकालने आदि के उपयोग के लिए होता था, न कि पशुओं को बाँधकर काटने आदि के लिए। क्योंकि यज्ञ में दूध और दधि की आवश्यकता होती थी। यज्ञस्थल में ही दूध निकालकर उसका दधि जमाया जाता था।

ऋग्वेद **'यत्र त्रणम्'** (२।३।११।१३) इत्यादि में लिखा है—कि जिस पात्र का माँस से स्पर्श हो गया हो, उसमें भोजन न पकावे।

'अथर्ववेद **'यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षाधिदेवने'** (६।७।१) में लिखा है-कि मांस, मदिरा और जुआ-ये सब त्याज्य हैं। इस कथन की और भी पुष्टि के लिए अथर्ववेद (८।७।२३), तथा यजुर्वेद का ३३वाँ अध्याय और गोपथब्राह्मण उत्तरभाग प्रपाठक ३, विशेषरूप से द्रष्टव्य हैं।

जब कि यजुर्वेद में **'पशून् पाहि'**, **'गा मा हिंसी:'** का विधान मिलता है, और ऋग्वेद में **'य: पौरुषेण'** इत्यादि मन्त्रों में पशुओं के नाश करनेवालों

के लिए ग्रीवोच्छेदनरूप दण्ड का विधान प्रतिपादित है। तथा अथर्ववेद- **'एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्'** में गवादि पशुओं की पेवसी और उनके मांसाशन का सर्वथा निषेध लिखा है, तो कौन समझदार व्यक्ति यह कह सकता है कि यज्ञादिकों में गवादि पशुओं का मांसादन करना चाहिये। वेदोंके इस प्रकार के मांसपरक अर्थ करनेवालों की कृपा से ही, वेद-विरोधी, नासमझ, पाषण्डियों को यह कहने का भी अवसर मिल गया कि—

**त्रयो वेदस्य कर्तारो भाण्डधूर्तनिशाचराः-इत्यादि** (चार्वाक)।

इन्हीं बुद्धि के शत्रु मांसाहारियों ने वेद, शास्त्रादिकों के भाष्यादि भी किये, और अपनी मनोवृत्तियों के अनुसार उन सब में स्थान-स्थान पर सुरा-मांसादि निन्दनीय वस्तुओं का, जो कि आर्यों के लिए सर्वथा त्याज्य हैं, उनका समावेश कर दिया। भोली जनता उन्हीं भाष्यों को प्राचीन एवं प्रामाणिक मानने लगी। इसका परिणाम यह निकला कि औरों का तो कहना ही क्या, काशी जैसी पवित्र नगरी का अधिकांश विद्वत्समाज भी 'यज्ञादिकों में पशुबलि आदि की भावना से अछूता न रह सका।

मनुस्मृतिकार ने भी पूर्वोक्त मांसादि निषेधपरक वेदादि वचनों को दृष्टि में रखते हुए हिंसा के निवारणार्थ आठ प्रकार के हिंसक बतलाये, और **'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'** के सिद्धान्त का डिण्डिमघोष किया। परन्तु इतने पर भी इन वाममार्गी धर्मान्धों ने मीमांसा के इस सूत्र **'जाघनी चैकदेशत्वात्'** (३ अ० ३ पा० २० सू०) से सम्बन्ध रखनेवाले **'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति'** इस वचन का यह अर्थ कर डाला कि (पशु की जांघनीं अर्थात् पूँछ को काटकर यज्ञ करे)। परन्तु मीमांसा का यह अभिप्राय नहीं था। वहाँ तो यह भाव था कि पशु की पूँछ पकड़कर पशुदान करने के उपरान्त पत्नी संयाज-नामक चार आहुतियाँ दे इत्यादि, न कि पशु की पूँछ काटकर उसे नष्ट कर दे-इत्यादि। इसी भाँति-**'मांसन्तु सवनीयानाम्'**-इत्यादि अन्य सूत्रों में पूर्वोक्त आर्षसिद्धान्त के अनुसार व्याख्या कर लेनी चाहिये।

मीमांसाके प्रसिद्ध भाष्यकर 'शबर स्वामी' भी 'हिंसा च प्रतिषिद्धा' इत्यादि प्रकार से हिंसा का प्रत्यक्ष निषेध मानते हैं। अतः मीमांसा-शास्त्र में कहीं भी पशु के मारने अथवा उसके मांस के खाने का विधान नहीं है।

इन्हीं वामी (वाममार्गी) मांसाहारी टीकाकारों के, तथा उनके अनुयायी कवियों के और तथाविध पौराणिकों के वचनों को प्रमाणित मान कर ही "सरिता" नामक जैसी छोटी-छोटी पत्रिकायें भी मांसादि का विधान

बतलाकर हमारे वेद शास्त्रों को दूषित करने के लिए कटिबद्ध हो गईं।

सज्जनो! परन्तु उन पत्रिकाओं का यह एक दुःसाहसमात्र है। क्योंकि जिस आधार को लेकर वे चलती हैं, वह आधार ही उनका निर्मूल है। हम उन भाष्य, कवि और पुराणों के वचनों को ही कपोलकल्पित स्वार्थपूर्ण और निराधार मानते हैं। अतः उनका यह कहना उसी प्रकार का है, जैसा कि सूर्य के ऊपर धूलि फेंकना। अर्थात् सूर्य के ऊपर धूलि फेंकनेवाले के मुख पर ही धूलि गिरती है, सूर्य का कुछ नहीं बिगड़ता। इसी भांति वेद-शास्त्रों का कुछ नहीं बिगड़ता, वह कलङ्क (दूषण) तो उन्हीं को कलङ्कित कर उनके लेखक और संचालकों की दूषित मनोवृत्तियों का द्योतक हो जाता है।

इन्हीं उपर्युक्त वाममार्गावलम्बी मांसाहारियों ने झूठे-झूठे ऐसे-ऐसे कपोलकल्पित देवी-देवताओं की कल्पना की, और ऐसा-ऐसा उनका भक्ष्य, बलि आदि बतलायी, कि जिससे उनको मांसादि खाने का सुभीता हो जावे। इन्होंने वेद धर्मशास्त्रादि के प्रबल मांसविरोधी वचनों की कोई परवाह नहीं की। यज्ञ, देवतापूजन तथा श्राद्धादि के बहाने से ये प्राणियों का वध करने लगे, और अपने इन दुष्कर्मों से विरत न हुए।

विद्वद्वर! सोचने की बात है कि जहां यज्ञादिकों में इतनी सुगन्धित वस्तुयें डाली जाती हैं, वहां इन दूषित और दुर्गन्धयुक्त वस्तुओं का डालना कैसे संभव हो सकता है? जब अग्नि में एक बाल (केश) के जलने की दुर्गन्ध को भी मनुष्य सहन नहीं करता, तो कहिये इतने पशु-पक्षी आदि के मांस के जलने की दुर्गन्ध को कैसे सहन कर सकता है। अत एव बहुतों ने तो लिख भी दिया कि-

**पशुश्चेत् निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।**
**स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥**

मान्यवर!

'स्थालीपुलाकन्याय' के आधार पर इतने से ही आप पाठकवृन्द समझ गये होंगे, कि यज्ञादिकों में मांसादि की प्रथा महाभारत आदि के कथनानुसार धूर्त और वञ्चकों द्वारा कल्पित एवं प्रचालित है। अतः श्रेष्ठ पुरुषों को इस मांसादि की बलि, भक्षण आदि से सदा पृथक् करना चाहिये, तथा अपने सदुपदेश से दूसरों को भी पृथक् करना चाहिये। अब विस्तार के भय से इस कथन को यहीं समाप्त कर वार्तान्तर का प्रारम्भ करते हैं।

# विशेष-वक्तव्य

इसके प्रकाशक-जि०-नैनीताल तहसील-बहेढ़ी, ग्राम-नरसुआ निवासी श्रद्धेय श्री मुन्शी "कल्याणराय" जी के सुपुत्र, संप्रति बरेली-निवासी श्री प्रेमशङ्कर जी आर्य हैं। धर्मप्रिय होने के कारण लोकोपकार की दृष्टि से ऋषि-मुनि-प्रणीत प्राचीन आर्षग्रन्थों का छपाना ये अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर आपने यज्ञादि-वैदिक-कर्मकाण्डों को प्रायः लुप्त होते हुए देख, उनके एकमात्र-पोषक, दर्शनशिरोमणि 'मीमांसा-दर्शन' का भाष्य सरल-हिन्दी-भाषा में कराकर प्रकाशित किया है।

विद्वद्वृन्द!

उपर्युक्त प्रकाशक महोदय की प्रबल-प्रेरणा और आग्रह-वश ही पठन-पाठनादि कार्यान्तरों के बाहुल्य होने के कारण सर्वथा समय न होने पर भी मुझे इस दर्शन का भाष्य करने के लिए अति कठिनता से समय निकालना पड़ा। शीघ्रतावश भाष्यकरने के उपयोगी समग्र साधनों के न जुटने पर भी 'शाबरभाष्य, अधिकरणन्यायमाला, मीमांसासूत्रपाठ, चारों-वेद, श्रौतसूत्र आदि कतिपय ग्रन्थों की सहायता से यह भाष्य किया है। इस भाष्य की विशेष टिप्पणियां कहीं-कहीं सरल संस्कृतभाषा में भी लिख दी गई हैं। जो कि इस भाष्य के सौष्ठव को और भी बढ़ा देती हैं। महानुभाव! अब तक जो भी इस दर्शन का हिन्दीभाषाविषयक भाष्य सामने आया, वह सब अशुद्ध था। पर इस भाष्य में भाषा की प्राञ्जलता और ग्रन्थकार के अभिप्राय की ओर विशेष ध्यान रक्खा गया है। परन्तु पुनरपि समयाभाव के कारण अपनी योग्यता के अनुसार जैसा मैं चाहता था, वैसा न कर सका। अग्रिम संस्करण तदनुरूप ही प्रकाशित किया जायेगा।

इसके अतिरिक्त मैंने महानुभावों की सेवार्थ निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना, भाष्य अथवा संपादन किया है।

| सं० | नाम | विषय | विशेष |
|---|---|---|---|
| १. | सन्धि-विषय (हिन्दी टीका सहित) | व्याकरण, | विश्वविद्यालय कांगड़ी |
| २. | धातु-पाठ | ,, | ,, |
| ३. | अष्टाध्यायी-भाष्य (हिं.टी. सहित) | ,, | अपूर्ण |
| ४. | मनुस्मृति-भाष्य (हिं.टी.स.) | धर्मशास्त्र | अपूर्ण |
| ५. | प्रत्याख्यान-संग्रह संपादन, (सं.टी.सहित) | व्याकरण | |

६. तत्त्वपरिशुद्धि संपादन (सं.टी.सहित) अब तक कहीं भी मुद्रित नहीं हुआ है। ग. सं. का. काशी

आशा है कि पाठकवृन्द इनके अध्ययन से लाभ उठाकर मेरे परिश्रम को सफल बनाने की कृपा करेंगे।

## ग्रन्थ परिचय

१-सूत्र से पूर्व 'सं' लिखकर संदर्भ लिखा गया है।

२-सूत्र के नीचे 'प० क्र०' ऐसा लिखकर पदच्छेदपूर्वक क्रमशः शब्दार्थ लिखा गया है।

३-तदनन्तर 'भा०' ऐसा लिखकर सूत्र का भावार्थ लिखा गया है।

४-सूत्र से पूर्व लिखे गये''पू०प०' शब्द से 'पूर्व पक्ष', और 'उ०प०' शब्द से उत्तर पक्ष, एवं 'पू०उ०प०' शब्द से पूर्वपक्षी का उत्तरपक्ष, तथा 'उ०पू०प०' शब्द से उत्तरपक्षी का पूर्वपक्ष, और 'सि०प०' शब्द से सिद्धान्त पक्ष, इसी प्रकार सूत्र से पूर्व लिखे गये 'उ०प०स०' अथवा 'उ०प० सहा०' शब्दों से उत्तरपक्षसहायक और 'पू०स०' अथवा 'प०प० सहा०' शब्दों से पूर्वपक्षसहायक यह अर्थ करना चाहिये।

५-सूत्रों के ऊपर अधिकरणन्यायमाला (जैमिनीयन्यायमाला) के प्रायः क्रमशः संख्यासहित अधिकरणों का उल्लेख किया गया है। पहले कुछ सूत्र अधिकरण लिखने से छूट गये हैं। पाठकमहानुभावों को पढ़ते समय उनका सन्निवेश कर लेना चाहिये।

६-इस दर्शन की प्राचीन और नवीनमुद्रितपुस्तकों में कहीं कहीं पाठभेद मिलता है। कहीं-कहीं किसी पाद की सूत्रसंख्या में भी विषमता हो गई है।

७-इस ग्रन्थ में टिप्पणियाँ कहीं-कहीं संस्कृतभाषा में लिखी गई हैं। तथा कहीं-कहीं 'सूचना-(१)' इत्यादि प्रकार से नम्बर डाल कर लिखी गई हैं। प्रायः टिप्पणियों में ही भाष्यपठित वाक्य, किस ग्रन्थ के किस स्थल के हैं, इसका परिचय दिया गया है। कहीं-कहीं मूलभाष्य में ही उनका परिचय दे दिया गया है।

८-टिप्पणियों में कहीं-कहीं प्रसङ्ग से आई हुई उपयोगी बातों का भी उल्लेख कर दिया गया है।

९-'देव आचार्य' शब्द से 'आचार्य देवदत्तशर्मोपाध्याय' समझना चाहिये।

१०-पदक्रम-लिखते हुए सूत्रानुकूल अर्थ करने के कारण कहीं-कहीं भाषा की प्राञ्जलता और शब्दार्थ में सूक्ष्मभेद-सा आ गया है।

११-इस भाष्य के पढ़ने से पूर्व कुछ मीमांसा के सिद्धान्तों का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। तभी भलीभाँति भाष्य पढ़ने का आनन्द प्राप्त हो सकता है।

**—आचार्य देवदत्त शर्मोपाध्याय**

## भाष्यलेखनस्थानम्

निर्मलसंप्रदायशिरोमणि महामहिम श्री महन्त वावनभगवान् सिंह महोदयाधिकृत-चैतन्यमठ।

विश्वेश्वरगञ्ज, वाराणसी।

# अथ मीमांसा-दर्शनम्

प्रणम्य परमात्मानं गिरानन्दं च सद्गुरुम्।
अपवर्गफलनिष्ठायां, मीमांसाभाष्यमुच्यते॥

## प्रथमोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०-महर्षि जैमिनि अभ्युदय और मोक्ष के हेतु वेदोक्त धर्म का विवेचन करते हैं।

**अथातो धर्मजिज्ञासा॥ १॥**

प०क्र०-(अथ) वेदाध्ययन के पश्चात् (धर्मजिज्ञासा) धर्म जानने की इच्छा, (अतः) अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्ति का साधन है।

भा०-जन्म जन्मान्तर में अभिलषित कार्यों का उदय और दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति द्वारा परमानन्द प्राप्ति, दोनों, धर्म से मिलते हैं, अतः इस धर्म की अभिलाषा होनी चाहिये।

पू०प०-सं०—धर्म किसे कहते हैं ?

**उ०प०—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः॥ २॥**

प०क्र०—(चोदनालक्षणः) विधान में आये (अर्थः) भाव को (धर्मः) धर्म कहते हैं।

भा०—वेदाज्ञापूर्वक जिस कर्म के करने की प्रेरणा हो, वह धर्म का लक्षण है। अर्थात् विधि विधान पूर्वक जिस कर्म को करने से जन्म जन्मान्तर में परमानन्द मिले, उस वेदप्रतिपाद्य विधिवत् कर्म का अनुष्ठान, धर्म के लक्षण का द्योतक है।

सं०—धर्म प्रमाण की परीक्षा की स्थापना करते हैं।

**सि०प०—तस्य निमित्तपरीष्टिः॥ ३॥**

प०क्र०—(तस्य) उस वेदोक्त धर्म की (निमित्तपरीष्टिः) प्रमाण परीक्षा है।

भा०—धर्म के विषय में केवल वेदाज्ञा ही प्रमाण है, अतः प्रमाण परीक्षा की स्थापना श्रेष्ठ है।

सं०—प्रत्यक्ष-प्रमाण धर्म में काम नहीं आता।

**सि०प०—सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्॥ ४॥**

प०क्र०—(पुरुषस्य) पुरुष को, (इन्द्रियाणां) इन्द्रियों का (सत्सम्प्रयोगे) कार्य-वस्तुओं से संयोग होने पर (बुद्धिजन्म) जो ज्ञान होता है (तत्) उसका नाम ही (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष है। वह (अनिमित्तं) धर्म में प्रमाण नहीं, क्योंकि (विद्यमानोपलम्भनत्वात्) वह विद्यमान पदार्थों की इन्द्रियों के संयोग से प्राप्ति करता है।

भा०—आभ्यन्तर और बाह्य उभय भेद इन्द्रियों के होते हैं। यह इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय से सम्बन्ध उत्पन्न कर तत् तत् पदार्थ का बोध उत्पन्न करा सकती हैं, और इसी सम्बन्ध के ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण माना है। परन्तु अतीन्द्रिय वस्तु का ज्ञान किस प्रकार हो, जहाँ कि इन इन्द्रियों का सम्बन्ध ही नहीं है। इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण धर्म में सर्वथा लागू नहीं। इसी प्रकार न अनुमान प्रमाण काम में लाया जा सकता है, क्योंकि अनुमान का भी दृष्टान्त में नियम से सम्बन्ध माना जाता है, और उसके दूसरे अज्ञात सम्बन्धी का ज्ञान उद्गत होना अनुमान होता है। परन्तु अतीन्द्रय पदार्थ में तुलनात्मक धर्म अनुमान से इसलिये परे है, कि जिसका प्रत्यक्ष नहीं, उसका अनुमान कैसा!

सं०—अतः शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है, अतः वेद स्वतः प्रमाण है, उसको कहते हैं।

**सि०प०—औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्॥ ५॥**

प०क्र०—(शब्दस्य) वेदवाक्यस्थ प्रत्येक पद (अर्थेन) स्व अर्थ से (औत्पत्तिकः) स्वाभाविक (सम्बन्धः) सम्बन्ध रखता है। (तस्य) धर्म के (ज्ञानं) यथार्थ ज्ञान के साधन (उपदेशः) ईश्वरोपदिष्ट होने से (च) तथा (अनुपलब्धे, अर्थे) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अप्राप्त-(अव्यतिरेकः) व्यभिचारी और विरोधी नहीं होने पर भी (बादरायणस्य) व्यासजी के मत में (तत्) वह वचन (अनपेक्षत्वात्) अपने अर्थ सत्यता के कारण (प्रमाणं) धर्म में स्वतः प्रमाण है।

सं०—शब्द नित्य है, अतः पूर्व पक्ष करते हैं।

**पू०प०—कर्मैके तत्र दर्शनात्॥ ६॥**

प०क्र०—(एके) कोई कोई (कर्म) शब्द को कार्य मानते हैं। (तत्र) शब्द में (दर्शनात्) प्रयत्न पाया जाता है।

भा०—जो यत्न से प्राप्त होनेवाली वस्तु है वह अनित्य होगी, इस नियम से शब्द भी यत्न से सिद्ध होता है, अत: वह अनित्य हो जायगा, क्योंकि वह कार्य हो गया, अत: अनित्यता आती है।

सं०—पुन: अनित्यता दिखलाते हैं।

**पू०प०—अस्थानात्॥ ७॥**

प०क्र०—(अस्थानात्) न ठहरने वाला होने से भी।

भा०—नित्य वस्तु स्थिर होती है, शब्द उच्चारण काल के अनन्तर नहीं रहता, अत: अनित्य सिद्ध है।

सं०—दूसरा अनित्यता हेतु यह भी है।

**पू०प०—करोति-शब्दात्॥ ८॥**

प०क्र०—(करोति शब्दात्) यज्ञदत्त ने शब्द किया, इस विषय व्यवहार से भी उसकी अनित्यता होती है।

सं०—और हेतु से भी अनित्यता है।

**पू०प०—सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात्॥ ९॥**

प०क्र०—(सत्त्वान्तरे च) इस तथा अन्य देशस्थ पुरुष में (यौगपद्यात्) एक ही समय में प्राप्ति होने से भी शब्द अनित्य है।

भा०—एक शब्द अनेक देशान्तर में मिलने से भी उसकी अनित्यता को बतलाता है, जो देवदत्त यहाँ 'गौ' शब्द कह रहा है, देशान्तर में यज्ञदत्त भी 'गौ' शब्द कहता है। अत: यदि एक नित्य शब्द होता तो एक काल में ही, एक अथवा अनेक देश में, दो व्यक्तियों में उसकी समान उपलब्धि न होती। अत: शब्द नाना हैं और नाना होने से अनित्य भी हैं।

सं०—अन्य हेतु भी दिया जाता है।

**पू०प०—प्रकृतिविकृत्योश्च॥ १०॥**

प०क्र०—(च) तथा (प्रकृतिविकृत्यो:) प्रकृति या विकृति के कारण शब्द अनित्य है।

भा०—शब्द में एक अक्षर के स्थान में दूसरा आने अर्थात् आगम और लोप होने से भी अनित्य है, क्योंकि प्रकृति विकृति रूप होता रहता है,

अतः शब्द अनित्य है।

सं०—और भी हेतु हैं।

**पू०प०—वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य॥ ११॥**

प०क्र०—(च) तथा (कर्तृभूम्ना) अधिक शब्द बोलने वालों के कारण से (अस्य) शब्द के (वृद्धिः) बढ़ते देखे जाने से भी शब्द अनित्य है।

भा०—पुरुष प्रयत्न से वृद्धि को प्राप्त होने वाली वस्तु अनित्य होती है। शब्द भी पुरुष प्रयत्न से बढ़ता है, अतः अनित्य है।

सं०—अब इन सबका उत्तर दिया जाता है।

**उ०प०—समन्तु तत्र दर्शनम्॥ १२॥**

प०क्र०—'तु' किन्तु (तत्र) नित्य तथा अनित्य मानने वालों में (दर्शनम्) शब्द का क्षणमात्र दर्शन होना (समं) समतुल्य है।

भा०—अनित्यवादी शब्द को प्रयत्न से उत्पन्न मानते हैं, और नित्यवादी के भी मत में प्रयत्न से उद्भूत है, अतः दोनों मतों में उत्पन्न और उद्भूत (प्रकट) होने के आगे क्षण की समानता है, अतः वह प्रयत्न सिद्ध नित्य है।

सं०—पूर्व पक्ष सातवें सूत्र का जो है, उसका उत्तर।

**उ०प०—सतः परमदर्शनं विषयानागमात्॥ १३॥**

प०क्र०—(सतः) शब्द के होते हुए भी (अदर्शनं) जो दूसरे क्षण में दर्शन न होना है, वह (परं) केवल (विषयानागमात्) शब्द के व्यक्त न होने से।

भा०—अर्थात् जो यह कहा गया कि उच्चारण के अनन्तर शब्द नहीं रहता, अतः वह अनित्य है, यह समीचीन नहीं। उसका उस समय अदर्शन नहीं है, किन्तु उसका अभिव्यञ्जक (बोलनेवाला) न रहने से वह प्रतीत नहीं होता। अतः शब्द नित्य है।

सं०—आठवें सूत्र के पूर्व पक्ष का उत्तर यह है।

**उ०प०—प्रयोगस्य परम्॥ १४॥**

प०क्र०—(परम्) किन्तु (प्रयोगस्य) पचति, करोति क्रिया आदि उच्चारण के भाव=अभिप्राय से हैं।

भा०—'पचति' पकाता है, 'करोति, करता है यह क्रियायें उच्चारण

के अभिप्राय से हैं, न कि बनाने के अर्थात् उसका मूल=मौलिकोच्चारण कर्त्ता है, अतः शब्द नित्य है।

**उ०प०—आदित्यवद्यौगपद्यम्॥ १५॥**

प०क्र०—(यौगपद्यम्) एक शब्द का अनेक देशों में सम काल में होना (आदित्यवत्) सूर्य के समान समझना चाहिये।

भा०—जैसे एक सूर्य एक समय में अनेक देशों में दिखाई देता है, इसी प्रकार शब्द, स्वरूप से नानात्व को प्राप्त नहीं, अतः नित्य है।



सं०—दशवें सूत्र का उत्तर यह है।

**उ०प०—शब्दान्तरमविकारः॥ १६॥**

प०क्र०—(अविकारः) जहाँ 'इ' के स्थान में 'य' होता है, वह विकारवश नहीं, किन्तु (शब्दान्तरम्) यकार से वहाँ अन्य शब्द की प्रतीति है।

भा०—'य' अक्षर यदि 'इ' अक्षर का विकार होता, तो यकार के ग्रहण में इकार का नियमपूर्वक ग्रहण होना चाहिये था, क्योंकि जिसका जो विकार है, वह अपनी प्रकृति के ग्रहण कराने में नियम रखता है। अतः यकार इकार का विकार नहीं, केवल शब्दान्तर मात्र है।*

सं०—ग्यारहवें सूत्र का उत्तर यह है।



**उ०प०—नादवृद्धिपरा॥ १७॥**

प०क्र०—(नादवृद्धिपरा) अधिक बोलनेवालों के कारण नाद की वृद्धि है, न कि शब्द की।

भा०—सावयव पदार्थ घटता बढ़ता है, न कि निरवयव, शब्द निरवयव है, अतः वृद्धि रहित है, अतः शब्द नित्य है।

सं०—अब शब्द की नित्यता सिद्ध करते हैं।

**उ०प०—नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्॥ १८॥**

प०क्र०—(नित्यः) शब्द नित्य (स्यात्) है, (तु) अनित्य नहीं, (दर्शनस्य) उसका उच्चारण (परार्थत्वात्) श्रोता के ज्ञान के लिये होने से।*

भा०—यदि शब्द न बोला जाता, तो श्रोता को कुछ भी लाभ न

---

* महाभाष्य में लिखा है कि पाणिनि आचार्य के मत में आदेश विकार नहीं, किन्तु शब्दान्तरमात्र है, क्योंकि शब्द नित्य है। म० १, १, २०

होता, अर्थ के ज्ञान का कारण शब्द माना है।

सं०—शब्द की नित्यता में अन्य हेतु भी है।

**उ०प०—सर्वत्र यौगपद्यात्॥ १९॥**

प०क्र०—(सर्वत्र) सब शब्दों में (यौगपद्यात्) एक ही समय में प्रत्यभिज्ञा होने से।

भा०—जिसको पूर्व देखा जावे और फिर वही देखा जावे, ऐसी प्रत्यभिज्ञा किसी भी प्रमाण से नहीं हट सकती। अतः शब्द स्थायी है, क्षणिक नहीं, अतः नित्य है।

सं०—और भी शब्द के नित्यत्व का हेतु देते हैं।

**उ०प०—संख्याभावात्॥ २०॥**

प०क्र०—(संख्याभावात्) संख्या के भाव अर्थात् होने से भी शब्द नित्य है।

भा०—उच्चारण करने वाले ने एक शब्द कई बार कहा, यह भी शब्द के नित्यत्व में प्रमाण है।

सं०—शब्द के नित्य होने में और भी हेतु है।

**उ०प०—अनपेक्षत्वात्॥ २१॥**

प०क्र०—(अनपेक्षत्वात्) शब्द का नाश हो गया, इसका कारण न जानने से भी वह नित्य है।

भा०—घट टूट गया, पट फट गया। इसके फट जाने फूट जाने पर भी, नाश का ज्ञान है और पूर्व भी था, कि टूटे फटेगा। परन्तु शब्द के नाश का कारण नहीं जाना गया। अतः शब्द निरवयव है, और उसके नाश का कारण नहीं जानने से वह नित्य है।

पू०प०—शब्द वायु का कार्य है, अतः उसकी उत्पत्ति होने से वह अनित्य है।

**उ०प०—प्रख्याभावाच्च योगस्य॥ २२॥**

प०क्र०—(योगस्य) शब्द में वायु के अंश अर्थात् अवयव सम्बन्ध का (प्रख्याभावात्) श्रवणेन्द्रिय से प्रत्यय न होने से (च) एवं त्वचा इन्द्रिय से शब्द का स्पर्श-प्रत्यक्ष नहीं होने से।

भा०—जो जिसका कार्य है, उसका उसके अवयवों से सम्बन्ध होता है, जैसे तन्तु का पट का अवयवावयविरूप सम्बन्ध है। अतः यदि

शब्द वायु का कार्य होता, तो श्रवणेन्द्रिय से शब्द में भी वायु के अवयवों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष होता, परन्तु ऐसा नहीं है, अतः शब्द वायु का कार्य नहीं। दूसरे वायु का स्पर्श गुण भी उसमें नहीं, क्योंकि त्वचा से प्रत्यक्ष नहीं है।

सं०—शब्द के नित्यत्व में दूसरा हेतु।

**उ०प०—लिङ्गदर्शनाच्च॥ २३॥**

प०क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनाच्च) वेद में शब्द के नित्य चिह्न मिलने से भी।

भा०—पूर्व पुण्य-प्रभाव से वेद-प्राप्ति-योग्यतावश ऋषियों ने ईश्वर की प्रेरणा से अपने हृदय में वेद-शब्द पाया, इससे भी शब्द का नित्यत्व अबाधित एवं प्रमाणित है।

पू०प०—सं०—कहते हैं कि शब्द तथा शब्दार्थ नित्य हों भी, तौ भी वेद-वाक्य धर्म में प्रमाण रूप नहीं।

**उत्पत्तौ वाऽवचनास्स्युरर्थस्यातन्निमत्तत्वात्॥ २४॥**

प०क्र०—(वा) पूर्व पक्ष का स्थापक है। (उत्पत्तौ) शब्द एवं शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य होने से वेदवाक्यस्थ पदों से पदार्थबोध यद्यपि हो भी, तो भी (अवचनाः स्युः) वाक्यार्थ बतलाने वाले नहीं, (अर्थस्य) क्योंकि अर्थ का ज्ञान (अतन्निमित्तत्वात्) वाक्य से होता है न कि पदों से।

भा०—पद पदार्थ का सम्बन्ध नित्य है, वर्णसमुदाय भी नित्य है, अतः पदों से पदार्थज्ञान तो निश्चय ही होगा। परन्तु पदसमुच्चयरूप वाक्य और उसके अर्थ का नित्य सम्बन्ध नहीं होता, कारण कि वाक्यार्थ पदार्थों से विचित्र होता है, और पद का पदार्थ से सम्बन्ध होता है, न कि वाक्यार्थ से।

सं०—इसका यह समाधान है।

**उ०प०—तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्॥ २५॥**

प०क्र०—(तद्भूतानां) स्व-अर्थों में वर्तमान पदों का (क्रियार्थेन) क्रियावाची पदों के साथ (समाम्नायः) पाठ होने से उनका समुदाय ही वाक्यार्थ ज्ञान होता है, (अर्थस्य) वाक्यार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में (तन्निमित्तत्वात्) पदार्थज्ञान ही एक कारण है, अन्य नहीं।

भा०—जिन पदों में क्रिया हो, वह वाक्य, अंन्यथा वाक्य नहीं बनता।

पदों का अपने अर्थों से नित्य सम्बन्ध है। बिना पदार्थों के वाक्यार्थ कोई वस्तु नहीं, यह क्रिया पद से स्वयं बनता है। अतः वेद-वाक्य अपने अर्थबोध कराने में अन्य के आश्रित नहीं। अतः धर्म में वह स्वतः प्रमाण है।

पू०प०—सं०—पदों से पदार्थज्ञान संभव है न कि वाक्यार्थ का।

**उ०प०—लोके सन्नियमात्प्रयोगसन्निकर्षः स्यात्॥ २६॥**

प. क्र.—(लोके) यथा लोक में (सन्नियमात्) नियम से सम्बन्ध होने से वेद में भी (प्रयोगसन्निकर्षः) गुरुपरम्परा से पद-पदार्थ-सम्बन्ध जानकर वाक्यार्थ की उत्पत्ति (स्यात्) होती है।

भा.—पद एवं पद-पदार्थ-सम्बन्ध-ज्ञान वाक्यार्थ-ज्ञान का कारण है, उसी प्रकार गुरुपरम्परा से वेद में भी पद पदार्थ-सम्बन्धज्ञान से सुख-कामनादि के लिये अग्निहोत्रादि कार्य हैं। क्योंकि वेद-वाक्य आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि और तात्पर्य के बोधक हैं।

सं०—वेदवाक्य अपने अर्थबोध कराने में अन्य की अपेक्षा रहित हैं। अतः स्वतः प्रमाण हैं। अतएव अपौरुषेय भी हैं।

**पू०प०—वेदाँश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः॥ २७॥**

प०क्र०—(च) और (एके) कोई-कोई (वेदान्) वेदों को अनित्य मानते हैं, (पुरुषाख्याः) बनानेवाले पुरुषों के नाम का (सन्निकर्षं) सम्बन्ध होने से।

भा०—वेदों में ऋषियों के नाम पाये जाने से प्रतीत होता है कि उन्हीं ऋषियों के बनाये हैं। अतः अपौरुषेय नहीं। और भी हेतु है।

**पू०प०—अनित्यदर्शनाच्च॥ २८॥**

प०क्र०—(च) और (अनित्यदर्शनात्) जन्म मरण धर्मवान् पुरुषों के नाम वेदों में हैं। अतः वह पौरुषेय हैं।

भा०—ऐसे भी नाम आते हैं कि जिनका अस्तित्व इस भूमण्डल पर कभी भी था। अतः यह पीछे रचे गये हैं, आदि सृष्टि में भी नहीं। अतः पौरुषेय हैं।

सं०—समाधान करते हैं।

**उ० प०—उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्॥ २९॥**

प. क्र.—(तु, पूर्व पक्षा खण्डनार्थ है, (शब्दपूर्वत्वम्) वेद रूप शब्द में नित्यत्व (उक्तं) पूर्व ही कह आये हैं।

भा.—वेद को पिछले सूत्र में नित्य सिद्ध कर आये हैं, पुनः उसके अनित्यत्व की आशङ्का निरर्थक ही है। वेद अपौषेय एवं नित्य हैं, अनित्य नहीं।

सं०—जो कि व्यक्तियों के नाम वेद में हैं, उनका कारण।

**उ० प०—आख्याः प्रवचनात्॥ ३०॥**

प०क्र०—(आख्याः) वेद में नामादि (प्रवचनात्) अध्ययन अध्यापन के कारण हैं।

भा०—जिस ऋषि ने वेद मन्त्र का चिरकाल तक अध्ययन अथवा अध्यापन कराया, वह मन्त्र उसके नाम से प्रसिद्ध हो गया, न कि रचयिता की दृष्टि से है।

सं०—वेदों में अनित्य पुरुषों के नाम हैं, इसका समाधान।

**उ०प०—परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्॥ ३१॥**

प०क्र०—(तु) किन्तु जो शब्द वेदों में तुग्र और भुज्युः आदि आये हैं, वह (परं) केवल (श्रुतिसामान्यमात्रम्) शब्दसामान्यमात्र के अतिरिक्त कुछ नहीं। वह नाम नहीं।

भा०—इन शब्दों के अर्थ देखने से प्रतीत होता है कि यह नाम नहीं, किन्तु शब्दमात्र हैं, और योगिक अर्थ को बतलाते हैं। अतः वेद पौरुषेय नहीं।

पू०प०—सं०—वेद में जन्म-मरणशील मनुष्यों के नाम नहीं, तौ भी प्रमाण नहीं हो सकते। क्योंकि उसमें असम्बद्ध बातें हैं, यह भी कारण है।

**उ०प०—कृते वा विनियोगस्स्यात्कर्मणः सम्बन्धात्॥ ३२॥**

प०क्र०—(वा) शब्द शङ्का-निवारणार्थ है। (कृते) वहाँ यज्ञ कर्म करने के लिये (विनियोगः) प्रेरणा (स्यात्) है। (कर्मणः) यज्ञरूप कर्म का (सम्बन्धात्) सम्बन्ध मिलने से।

भा०—वेदों में यज्ञरूप कर्म करने की प्रेरणा है, और कर्म का जीव के साथ सम्बन्ध भी है, जैसे 'यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत' अथर्व। १९। १। ६। विद्वानों ने परमात्मा की दी हुई वस्तु से यज्ञ को विस्तार दिया आदि असंभव बातें नहीं, किंतु सार्थक कर्म करणीय हैं, अतः वेद सर्वथा स्वतः प्रमाण हैं।

प्रथमः पादः समाप्तः॥

## अथ द्वितीयपादः प्रारभ्यते

सं०—शब्द, शब्दार्थ और उसके सम्बन्ध को नित्य सिद्ध करके वेद स्वतः प्रमाण बतलाये। अब कर्म के ठीक-ठीक अर्थ न देने वाले वाक्यों के सम्बन्ध में कहते हैं।

**पू०प०—आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते॥ १॥**

प०क्र०—(आम्नायस्य) वेद के (क्रियार्थत्वात्) कर्म का बोधक होने से (अतदर्थानां) जिनसे अर्थ अर्थात् कर्मबोध नहीं होता, वह (आनर्थक्यम्) अर्थ-हीन हैं, अर्थात् अनर्थक हैं। (तस्मात्) अतः वह (अनित्यम्) अर्थात् अप्रमाण (उच्यते) कहे जाते हैं।

भा०—कुछ ऐसे वाक्य वेदों में आते हैं कि जिनके अर्थ ही नहीं हैं, और अनर्थ सुबोध (वेद) जन्य नहीं। अतः यह दोष होने से प्राणी के लिये उपादेय नहीं, क्योंकि उसमें कर्तव्य का उद्बोधन किया ही नहीं गया। अतः अप्रमाण हैं। क्योंकि जिसमें वस्तुप्रयोगविधि नहीं, और वस्तु-स्वरूप-मात्र बतलाये हैं, वह सिद्धार्थ कहलाते हैं, न कि अनर्थ वाक्यसमूह।

**पू०प०—शास्त्रदृष्टविरोधाच्च॥ २॥**

सं०—और भी कथन करते हैं कि—

**पू०प०—तथा फलाभावात्॥ ३॥**

प०क्र०—(फलाभावात्) सिद्धार्थ बोधक ज्ञान वाक्य से प्रवृत्ति निवृत्ति रूप कोई फल भी नहीं निकल सकता (तथा) अतः अप्रमाण है।

भा०—जिन वाक्यों से पुरुष की प्रवृत्ति और निवृत्ति का ज्ञान होवे, वे ही प्रमाण हैं। सिद्धार्थ वाक्यों में यह कुछ नहीं होता, केवल वस्तु स्वरूप ही जान लेने से क्या होता है, अतः वृथा ही हैं।

सं०—और भी हेतु है।

**पू०प०—(अन्यानर्थक्यात्॥ ४॥**

प०क्र०—(अन्यानर्थक्यात्) अर्थरहित होने से सिद्धार्थ बोधक वाक्य अप्रमाण हैं।

भा०—वेदों में जो विधिवाक्य हैं उनका कुछ भी अर्थ नहीं, जब तक उनका विधान न बतलाया गया हो। केवल उपदेश कर देने से लाभ नहीं, जब तक कि क्रिया करने की विधि न बतलाई जावे। वह वेदों में नहीं

है। अतः प्राणी को उससे कोई लाभ नहीं। जान लेना मात्र मुक्ति का मार्ग नहीं, किन्तु कर्तव्य-पथानुगामी होकर ज्ञानी होना कुछ अर्थ रखता है।

सं०—वाक्यों के अप्रमाण से भी।

**पू०प०—अभागिप्रतिषेधाच्च ॥ ५ ॥**

प०क्र०—(च) और (अभागिप्रतिषेधात्) अप्राप्त का निषेध करने से।

भा०—जो अनुपलब्ध है, उसका निषेध पाया जाने से, सिद्धार्थ के बतलानेवाले वेद-वाक्य अप्रमाण हैं।

सं०—और भी हेतु देते हैं।

**पू०प०—अनित्यसंयोगात् ॥ ६ ॥**

प०क्र०—(अनित्यसंयोगात्) अनित्य (जन्म-मरणवाले पदार्थों का वर्णन होने से।)

भा०—वेदों में जरा जन्म मरण पुनर्जन्म आदि अनित्य बातें हैं, इसलिये भी अप्रमाण हैं।

सं०—इसका समाधान।

**उ०प०—विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ॥ ७ ॥**

प०क्र०—(विधीनां) विधिवाक्यों की (स्तुत्यर्थेन) पुरुष प्रवृत्ति के लिए अपेक्षित स्तुति के कारण (विधिना) विधिवाक्यों के साथ (एकवाक्यत्वात्) एक वाक्यता होने से स्तुति-विधान-बोधक (स्युः) विधिवाक्य (अक्रियार्थक वाक्य) प्रमाण हैं, (तु) किन्तु अप्रमाण नहीं हो सकते।

भा०—विधि-वाक्य-कर्तव्यता बोधक वाक्य होते हैं, न कि सिद्ध। परन्तु विधिवाक्य में पुरुष-प्रवृत्ति के लिए अपेक्षित स्तुतियाँ होती हैं। एवं सिद्ध वाक्यों में फलाकाङ्क्षा होती है। अतः फलवान् वाक्य विधिवाक्य से मिलकर, अपेक्षित विधि के अर्थ की स्तुति करके, कर्तव्यार्थ, बतलाते हैं, न कि सिद्धार्थवाक्य, सिद्धार्थवाक्यों से मिलकर एकवाक्यता करते हैं। अतः कोई अप्रमाण दोष नहीं आता, क्योंकि विधि-वाक्य जिस कर्तव्य अर्थ का विधान करता है, उसी का सिद्धार्थबोधकवाक्य भी समर्थन करता है, अतः विधिवाक्यवत् प्रमाण है।

सं०—और शास्त्र भी प्रमाण देते हैं।

**उ०प०—तुल्यं च साम्प्रदायिकम्॥ ८॥**

प०क्र०—(च) और (साम्प्रदायिकम्) सृष्टि काल से प्रारम्भ होना (तुल्यं) समान है।

भा०—सृष्टि के आरम्भ काल से विधि और सिद्धवाक्यों की गुरुशिष्यपरम्परा से प्राप्ति होने से भी दोनों वाक्य समान रीति से प्रमाण हैं।

सं०—शास्त्र विरोध का परिहार करते हैं।

**उ०प०—अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधस्स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत॥ ९॥**

प०क्र०—(प्रयोगे हि) स्थूल दृष्टि से समझ में आने वाले अर्थ में वाक्यार्थ होने से (विरोधः) विरोध (स्यात्) होवे, परन्तु (शब्दार्थस्तु) यह अर्थ तो (अप्रयोगभूतः) वाक्यार्थ विषयहीन होने से अन्य अर्थ का द्योतक है (तस्मात्) इस कारण (अनुपपत्तिः) वेद वाक्यों में पारस्परिक विरोध रूप अनुपपत्ति दोष (अप्राप्ता) प्राप्त न होने से भी (उपपद्यते) उक्त वाक्य का विरोध रहित अर्थ है।

भा०—वेदवाक्यों में ऐसा विरोध प्रतीत होना कि कहीं ईश्वर को कहा कि यह सब पुरुष है, और 'कहीं यह सब उसकी महिमा है' यह स्थूल दृष्टि से ही है, क्योंकि वहाँ यह नहीं कहा गया कि "बस इतना ही पुरुष" है और है ही नहीं। किन्तु कहा तो यह है, कि यह सब पुरुष विभूति होने से ही हुए हैं। अतः तात्पर्य विषयीभूत अर्थ का परस्पर विरोध न होने से वाक्यों का कोई परस्पर विरोध नहीं। अतः कोई वाक्य प्रामण्यहीन भी नहीं।

पू०प०—सं० सिद्धार्थबोधक वाक्यों का, विधेयार्थवाक्यों की प्रशंसादि रूप अर्थ करना ठीक नहीं, क्योंकि वे भिन्नार्थ के बोधक हैं, तथा सब विधेयार्थ की प्रशंसा भी नहीं करते। अतः उपर्युक्त शङ्का होती है।

**उ०प०—गुणवादस्तु॥ १०॥**

प०क्र०—(तु) शब्द शङ्का परिहारार्थ है (गुणवादः) जो स्तुतिवाद बतलाया है, वह गुणवाद है।

भा०—सिद्धार्थबोधक वाक्यों से सर्वत्र विधेयार्थ की स्तुति पाई जाती है, यह गुणवाद ही है, न कि अन्य मुख्यवाद। क्योंकि कहीं यह विधेयार्थ का स्तवन करते हैं, और कहीं उस से भिन्नार्थ का भी कथन करते हैं, अतः दोष नहीं।

पू०प०—सं०—वेदों में ब्राह्मणादि चारों वर्णों को परमात्मा का अङ्ग बतलाया है, यह समीचीन नहीं, क्योंकि वह अशरीरी है, उसमें अवयव नहीं।

**उ०प०—रूपात्प्रायात्॥ ११॥**

प०क्र०—(प्रायात्) बहुधा वेदों में (रूपात्) रूपक अलंकार से वर्णन है।

भा०—जहाँ-जहाँ मुखादि अवयव लेकर परमात्मा का निरूपण वेदों में है, वह रूपकालङ्कार से है, न कि वास्तव में। अत: उसका शरीरी वर्णन, अशरीरी के समान निर्दोष है।

पू०प०—सं०—इसमें तो प्रत्यक्ष विरोध है।

**उ०प०—दूरभूयस्त्वात्॥ १२॥**

प०क्र०—(दूरभूयस्त्वात्) स्थूलार्थ करने से नेत्र और सूर्य की दूरी अर्थात् कारणकार्यभाव असम्भव प्रतीत होगा।

भा०—जहाँ कहा है कि उस परमात्मा के नेत्रों से सूर्योत्पत्ति हुई, यह स्थूल दृष्टि के द्वारा प्रत्यक्ष से विरुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि नेत्रों से सूर्य जैसे दिव्य पदार्थ की उत्पत्ति असम्भव है। अत: केवल वहाँ यही अर्थ है कि परमात्मा के चक्षुः सदृश दिव्य सामर्थ्य से सूर्योत्पत्ति हुई, इस अर्थ में विरोध भी नहीं आता।

पू०प०—सं०—यदि उसकी चक्षुःसदृश दिव्य सामर्थ्य से सूर्योत्पत्ति मानें, तो फिर यह क्यों कहा कि वह चक्षुःसदृश कार्य है।

**उ०प०—अपराधात्कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनम्॥ १३॥**

प०क्र०—(अपराधात्) मोटी दृष्टि के अपराध से (कर्त्तुः) अजायत क्रिया के कर्त्ता सूर्य का (पुत्रदर्शनम्) पुत्र अर्थात् कार्य रूप से, (च) और चक्षु का कारण रूप से दर्शन होता है।

भा०—चक्षुः और सूर्य-परस्पर पिता पुत्र अथवा चक्षुः, सूर्य का कारण अथवा सूर्य चक्षुः का कार्य नहीं, किन्तु परमात्मा सर्व पिता है, और केवल स्थूल दृष्टि से सूर्य चक्षु का कार्य प्रतीत होता है, यथार्थ में ऐसा है नहीं।

**उ०प०—आकालिकेप्सा॥ १४॥**

प०क्र.—(आकालिकेप्सा) एक ही काल में प्राणी मात्र की मोक्ष की इच्छा पाये जाने से।

भा०—प्राणी मात्र मृत्यु से पार होना चाहता है, अतः वेदों ने बतलाया, कि बिना उसे जाने अन्य कोई मुक्ति मार्ग नहीं, इस वाक्य में सब फलों से श्रेष्ठ फल मुक्ति का वर्णन है, न कि कर्मजन्य फल का निस्तार के अभिप्राय से कथन है।

सं०—इसमें युक्ति यह है।

**उ०प०—विद्याप्रशंसा॥ १५॥**

प०क्र०—(विद्याप्रशंसा) विद्या का यश होने से।

भा०—वेदवाक्यों में 'बिना उसके जाने मृत्यु से पार होना कठिन है' इत्यादि में जो मृत्यु को पार करना ब्रह्मविद्या का फल कहा है, इससे तो महत्त्व बढ़ता है, न कि अन्य फलों के बोधक वेदवाक्यों की निरर्थकता है। अर्थात् जिस-जिस कर्म का जो-जो फल वेदवाक्य बतलाता है, वह अवश्य कर्त्तव्य-कर्म है, और उसका फल भी है। परन्तु मोक्षप्राप्ति ब्रह्मविद्या से ही होती है, जो कि वेदों में ही बतलाई गई है। अतः कर्म करो।

पू०प०—सं०—किसी वर्णविशेष की मोक्षविद्या का अधिकार है अथवा सबको।

**उ०प०—सर्वत्वमाधिकारिकम्॥ १६॥**

प०क्र०—(आधिकारिकम्) ब्रह्म कर्म (विद्या) का अधिकार (सर्वत्वम्) सब को एकसा है।

भा०—मृत्यु से सब छूटना चाहते हैं, उसका उपाय एक ब्रह्म-विद्या ही है, और जब ब्रह्म-ज्ञानी हो जाता है, तो निष्पक्ष हो जाता है, क्योंकि परमात्मा निष्पक्ष है। अतः उसका (ब्रह्मविद्या का) समान भाव से सबको अधिकार कहा गया है।

सं०—ब्रह्मविद्या द्वारा मृत्यु से छुटकारा नहीं, किन्तु वेदोक्त कर्म करने से ही होता है।

**उ० प०—फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषस्स्यात्॥ १७॥**

प०क्र०—(फलस्य) फलविशेष की (कर्मनिष्पत्तेः) कर्म से सिद्धि होने से मृत्यु से छुटकारा नहीं, (तेषां) उनके कर्मों का (फल विशेषः) विशेष फल (स्यात्) है, वह (लोकवत्) सांसारिक-कर्म-जन्य फल के

---

सूचना—स्त्र्य—इति (ऋ०सू०सं०) पाठ इति देवाचार्यः।

समान (परिमाणतः) परिच्छिन्न एवं बदलने वाला है।

भा०—सांसारिक कर्म जैसे परिमाणयुक्त फलदायक होने से परिच्छिन्न एवं बदलने वाले हैं, इसी भाँति वैदिक कर्मफल भी परिछिन्न हैं। इन दोनों में भेद यह है कि सांसारिक कर्म का फल टिकाऊ नहीं होता, और वैदिककर्म के फल चिरकाल तक ठहरे रहते हैं, अर्थात् कल्पान्त फल है, और मृत्यु से छुटकारा जिन कर्मों से होता है, वह सांसारिक कर्मों के समान अल्पकाल ठहरनेवाले नहीं, अर्थात् लौकिक कर्म परिमाण से सीमित, परन्तु वैदिक असीमित हैं, क्योंकि उनका परिमाण सांसारिक कर्मों से बाह्य अर्थात् भिन्न है।

**उ०प०—अन्त्ययोर्यथोक्तम्॥ १८॥**

प०क्र०—(अन्त्ययोः) १ अ. २ पाद के पाँचवें और छठे सूत्र के दोनों पूर्वपक्षों का समाधान (यथोक्तम्) जिस प्रकार (१ अ० २ पा० ७ सू० तथा १ अ० १ पा० ३१ सू० आदि में) क्रमशः किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये।

भा०—जैसे छठे सूत्र का समाधान पूर्व पाद के ३१वें सूत्र में किया गया है, उसी प्रकार पाँचवें सूत्र का समाधान यह भी हो सकता है, कि परमात्मा अमूर्त है, उसकी मूर्ति किसी भी प्रमाण से नहीं सिद्ध होती, परन्तु चेतनता-रूप धर्म की तुल्य योग्यता से, जैसे जीव की मूर्ति (शरीर) अल्पज्ञों ने मानी है, उसी प्रकार ईश्वर की मूर्ति कल्पना भी हो सकती है। वेद ईश्वर की उसी संभावित मूर्ति (प्रतिमा) का 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः' इस वेदमन्त्र में निषेध होने से कोई दोष नहीं है।

सं०—अतिस्पष्ट अर्थबोधक सिद्धार्थ वेदवाक्यों को प्रामाणिक मानने के हेतु कहते हैं।

**पू०प०—विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकम्॥ १९॥**

प०क्र०—(वा) पूर्वपक्ष प्रतिपादक है। (विधिः) स्पष्ट अर्थ वाले वाक्यों में सिद्धार्थ बोधक विधि की क्रिया (स्यात्) है, क्योंकि (अपूर्वत्वात्) उनका भी अपूर्व ही अर्थ विधिवाक्य के समान है। यदि उन्हें (वादमात्रं हि) केवल सिद्धार्थबोधक मात्र ही मानेंगे, तो वह (अनर्थकम्) अप्रमाणित हो जावेंगे।

भा०—यजुर्वेद अ० ३२।१ में स्पष्ट अर्थ वाले इस सिद्धार्थ वाक्य में कि "वह परमात्मा अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः और प्रजापति है, उसी की उपासना करो और उसका ही ध्यान धरो। यह वाक्य

तो हो गये परंतु इसकी विधि कल्पना किये बिना अपूर्व अर्थ का लाभ कैसे होगा, अर्थात् विधिकल्पना अवश्य होनी चाहिये, और यदि वाक्यों का अनोखा लाभ नहीं लेना है, केवल वाद (कथन) मात्र ही मान लें, तो वह निरर्थक एवं अप्रमाण हो जावेंगे। परन्तु बुद्धिपूर्वक कहे गये वाक्य निरर्थक और अप्रमाण नहीं कहे जा सकते। अतः विधिकल्पना होनी ही चाहिये।''

सं०—अब सिद्धान्त सम्बन्धी आशङ्का करते हैं।

**उ०प०—लोकवदिति चेत्॥ २०॥**

प०क्र०—(लोकवत्) यह कथन सांसारिक कथन के तुल्य है, इसलिये विधि-कल्पना व्यर्थ है, (चेत्) यदि (इति) ऐसा माना जाय।

भा०—जैसे संसार में जब कोई वस्तु क्रय-विक्रय में आती है, तो उसकी प्रशंसा और तदनुकूल मूल्य निश्चित होता है इसी प्रकार यजुर्वेद के इस मन्त्र में केवल स्तुतिवाद मात्र है। अतः विधिकल्पना की आवश्यकता नहीं।

सं०—इसमें आशङ्का यह है।

**पू०प०—न, पूर्वत्वात्॥ २१॥**

प०क्र०—(न) यह कथन ठीक नहीं, इसलिये कि (पूर्वत्वात्) सांसारिक स्तुत्यवाक्यों में प्रसिद्धार्थ ही कहा जाता है, किसी अलौकिक अर्थ का कथन नहीं होता।

भा०—उक्त यजुर्वेदवाक्य में जो अपूर्व (अलौकिक) अर्थ है, वह सांसारिक वाद में नहीं है। अतः लौकिक से विलक्षणार्थ का कथन होने से विधि-कल्पना अनिवार्य है।

सं०—इसका यह समाधान है।

**उ०प०—उक्तं तु वाक्यशेषत्वम्॥ २२॥**

प०क्र०—'तु' पद पूर्वपक्ष हटाने को है। (वाक्यशेषत्वम्) ऐसे सिद्धार्थबोधक वाक्यों को विधिवाक्यों का अङ्ग (उक्तम्) कहा गया है।

भा०—सिद्धार्थबोधक वाक्य, विधान किये गये अर्थ की प्रशंसा द्वारा, विधिवाक्य का अङ्ग बनकर, अर्थबोध कराते हैं। उसी प्रकार अतिस्पष्ट अर्थवाले सिद्धार्थबोधक वचन भी विधि वाक्य का अङ्ग होकर अर्थबोध कराते हैं। वहाँ विधिकल्पना अत्यावश्यक नहीं होती है।

सं०—इसमें यह युक्ति है।

**उ०प०—विधिश्चानर्थकः क्वचित्, तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत, तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम्॥ २३॥**

प०क्र०—(च) यदि (विधिः) उसमें विधिकल्पना की जाय, तो वह उन वाक्यों में (क्वचित्) कहीं भी (अनर्थकः) अर्थ नहीं देगी। (तस्मात्) अतः सिद्धार्थबोधक वाक्यों से कहीं-कहीं स्पष्ट रूप से (स्तुतिः) प्रशंसा (प्रतीयेत) पाई जाती है। (तत्) उसी के (सामान्यात्) सदृश सब वाक्यों के होने से, जिन में स्पष्ट स्तुति नहीं पाई जाती, (इतरेषु) उन अन्य वाक्यों में भी (तथात्वम्) विधि की अपेक्षा स्तुति कल्पना ही अतिश्रेष्ठ है।

भा०—कहीं कहीं स्पष्ट स्तुति पाई जाती है, और विधि नहीं प्रतीत होती। अतः जहाँ स्पष्टरूप से स्तुति न मिले, वहाँ सिद्धार्थ बोधक-वाक्य की भांति स्तुति-कल्पना करने में ही लाघव है। वहाँ विधि की कल्पना करना गौरव है। अतः विधिकल्पना से स्तुति कल्पना श्रेष्ठ है।

सं०—पुनः युक्ति देते हैं।

**उ० प०—प्रकरणे सम्भवन्नपकर्षो न कल्प्येत विध्यानर्थक्यं हि तं प्रति॥ २४॥**

प०क्र०—(प्रकरणे) जिस प्रकरण का वाक्य है, उसमें (अपकर्षः) स्तुति (सम्भवन्) स्पष्ट पाये जाने से (न कल्पयेत) विधि की कल्पना करना ठीक नहीं। (हि) क्योंकि (तम्प्रति) उस स्तुति के सम्मुख (विध्यानर्थक्यम्) विधिकल्पना वृथा है।

भा०—वाक्य जिस कथन के उद्देश्य से है, उस से भिन्न अर्थ को वह कदापि नहीं कहता, जो प्रकरण के देखने से प्रतीत होता है। जहाँ उपासना विधि के प्रकरण में, उपास्य परमात्मा की स्तुति का, सिद्धार्थ बोधक वाक्य सुस्पष्ट रूप से निरूपण कर रहे हैं, वहाँ विधिकल्पना अप्रासङ्गिक है। वहाँ तो उपासनाविधि को ही अङ्ग मानकर विहित कर्म (अर्थ) की स्तुतिकल्पना करना ही उत्तम है।

सं०—विधि कल्पना से ऐसे स्थानों में दोष होता है।

**उ०प०—विधौ च वाक्यभेदः स्यात्॥ २५॥**

प०क्र०—(च) तथा (विधौ) उन वाक्यों में विधि की कल्पना करने से (वाक्यभेदः) अर्थभेद से वाक्यभेद (स्यात्) हो जावेगा।

भा०—जिन मन्त्रों में परमात्मा की अपरिमित शक्तियों का वर्णन है, यदि उनमें विधिकल्पना की जावेगी, तो वे मन्त्र स्तुति से भिन्न विहित कर्मों

का भी निरूपण करेंगे। ऐसा करने से वहाँ वाक्यभेद रूप दोष (एक ही वाक्य का कहीं कुछ अर्थ कहीं कुछ अर्थ) आता है। क्योंकि नियम यह है, कि शब्द, ज्ञान और क्रिया एक ही कार्य को करते हैं, अन्य को नहीं, अर्थात् जिस शब्द से जो अर्थ निकला, अथवा जिस ज्ञान से जो अर्थ जाना, अथवा जिस क्रिया से जो कार्य सिद्ध किया, वह एक शब्द अन्य अर्थ को नहीं कहेगा, न ज्ञान ही दूसरे अर्थ का बोधक होगा, न क्रिया ही अन्य कार्य की साधिका होगी। अतः विधिवाक्य की कल्पना न करके विधिवाक्य का अङ्ग ही मानना श्रेष्ठ है।

सं०—हेतु-पद सिद्धार्थ-बोधक वाक्यों को प्रमाणित करते हैं।

**पू०प०—हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम्॥ २६॥**

प०क्र०—(वा) पूर्व पक्ष का द्योतक है। (हेतुः) तृतीयाविभक्ति वाले पद के अर्थ का बोधक (स्यात्) है, क्योंकि (अर्थवत्त्वो पपत्तिभ्याम्) वह वाक्य अर्थ एवं उपपत्ति वाला हो सकता है, अन्यथा नहीं।

भा०—यजुर्वेद अध्याय ३१।१६ में 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' इसमें तृतीया विभक्ति युक्त 'यज्ञेन' इस विषय-वाक्य से यह कहा गया है, कि "यज्ञ से यज्ञ रूप परमात्मा का पहिले विद्वान् पूजन करते थे, तो क्या यहाँ परमात्मपूजन का यज्ञ साधन है। किम्वा यजुर्वेद अ०।४०।२। में "कुर्वन्नवेह कर्माणि" इस मन्त्र में कही गई, कि वेद-विहित कर्मों को करता हुआ १०० वर्ष जीने की इच्छा करे, इस कार्यविधि से विहित यज्ञादिरूप कर्म विधान की स्तुति करता है। इन दोनों मन्त्रों में स्पष्ट बतला दिया है, कि एक मन्त्र "यज्ञरूप परमात्मा के पूजन का साधन यज्ञ है" यह मानता है, इस प्रकार का अर्थ सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को सार्थक बनाता है। परन्तु दूसरे में केवल वेदविहित कर्मों के करने का आदेश मात्र किया है, वहाँ कोई विधि नहीं बतलाई। अर्थात् यज्ञ परमात्मा के पूजन का साधन है, यह विधिवाक्य है, और विषय एवं प्रकरण के अनुकूल है। दूसरा मन्त्र उसी कर्म को सौ वर्ष तक करने का आदेश करता है, परन्तु साधन विधि उसमें नहीं बतलाई। इसलिये मन्त्र का प्रकरणानुकूल ही अर्थ किया जाना चाहिये।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

**उ०प०—स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य॥ २७॥**

प०क्र०—'तु' पूर्व पक्ष के हटाने के लिए है। (स्तुतिः) ऐसे वाक्य में, कर्म-विधि से विहित कर्त्तव्य-कर्म यज्ञादि कर्मों का महत्त्व बतलाते

हैं। क्योंकि स्तुति या महत्त्वार्थ (शब्दपूर्वत्वात्) साधन विधि के अनुकूल ही होगा। (च) और ऐसे वाक्यों में (तस्य) यज्ञ की (अचोदना) प्रेरणा अथवा विधि नहीं बतलाई।

भा०—परम्परा के शिष्टाचार से यज्ञ की प्राप्ति है, अतएव उसे कर्त्तव्य कर्म कहा है, अत: वहाँ साधन स्वीकार करने के स्थान में ऐसे वाक्यों में स्तुति अथवा महत्त्व ही मानना उत्तम है। क्योंकि 'कुर्वन्नेवेह' इस मन्त्र में कर्मविधि कही गई है, उसमें केवल पुरुष प्रवृत्ति के लिये प्रेरणा है, और इसी अर्थ से सङ्गति भी बैठती है, क्योंकि जहाँ यज्ञादि रूप कर्मों के महत्त्व कहे गये हैं, वहाँ यज्ञ को परमात्मा के पूजन का साधन नहीं कहा, यदि कहा होता तो विधि पूर्वक साधन भी बतलाया गया होता, अत: 'साधन' के स्थान में स्तुति मानना ही समीचीन है।

सं०—इसमें यह सन्देह रहता है।

**पू०प०—अर्थे स्तुतिरन्याय्येति चेत्॥ २८॥**

प०क्र०—(अर्थे) फल न होने से (स्तुतिः) महत्त्वकल्पना (अन्याय्या) न्याययुक्त नहीं, (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो, तो ठीक नहीं।

भा०—जिस वाक्य में स्तुति का फल न दिखाई दे, उसकी कल्पना करना व्यर्थ है।

सं०—इसका समाधान।

**उ०प०—अर्थस्तु विधिशेषत्वाद्यथा लोके॥ २९॥**

प०क्र०—'तु' पद शङ्का निवारणार्थ है। (विधिशेषत्वात्) ऐसे वाक्यों की विधि वाक्य का अङ्ग होना ही (अर्थः) स्तुति की कल्पना का फल है, (यथा) जिस प्रकार (लोके) सांसारिक वाक्यों में विधि वाक्य का अङ्ग होना स्तुति का फल है।

भा०—जिस प्रकार लोक में विधेय अर्थ के महत्त्व को बतलाने वाले सिद्धार्थबोधक वाक्य विधिवाक्य के अङ्ग कहे जाते हैं, उसी प्रकार वेद में भी है। अत: वेदों में स्तुति कल्पना कोई व्यर्थ की बात नहीं, क्योंकि ऐसे वाक्य विधिवाक्य के अङ्ग होने से ही सार्थक हो सकते हैं।

सं०—ऐसा मान लेने में युक्ति देते हैं।

**यदि च हेतुरवतिष्ठेत निर्देशात् सामान्यादिति चेत्, अव्यवस्था विधीनां स्यात्॥ ३०॥**

प०क्र०—(च) और यदि (हेतुः) उक्त तृतीयाविभक्तियुक्त 'यज्ञेन'

इसको हेतुवाक्य में (जहाँ यज्ञ को ही पूजन का साधन कहा था) माना जाय, तो उसका साधक के अभाव से ठहरना असंभव है। अत: (निर्देशात् सामान्यात्) तृतीया विभक्ति रूप सामान्यनिर्देश, से (अवतिष्ठेत) पूर्वोक्त अर्थ स्थित (चेत्) यदि (इति) माना जाय, तो (विधीनां) विधि और अविधि की (अव्यवस्था) अस्तव्यस्तता (स्यात्) हो जायगी।

भा०—उक्त वाक्य में (यज्ञेन....) यज्ञ को साधन रूप विधान मात्र कहा है, परन्तु उसका साधक नहीं बतलाया, किन्तु वहाँ केवल तृतीया विभक्ति होने से उसके साधन की कल्पना कर ली है। तो जो विधिवाक्य अथवा अविधि, दोनों प्रकार के भी वाक्य नहीं, उनकी व्यवस्था करनी कठिन होगी, क्योंकि बहुधा ऐसे मन्त्र आये हैं, कि जो विधिवाक्य नहीं, परन्तु विध्यर्थ से दीखते हैं। इस विषय में सिद्धान्त पक्ष तो यह है, कि जिस वाक्य में अपूर्व (अलौकिकता) हो, वही विधिवाक्य है, दूसरा नहीं। पहिले यजुर्वेद के मन्त्र में कोई अपूर्व बात नहीं कही गई, क्योंकि उसी वेद के दूसरे मन्त्र से यज्ञादि वैदिककर्मरूप अर्थ प्राप्त थे ही। तब प्राप्त अर्थ को बतलाने वाला वाक्य विधायक नहीं होता, केवल पुरुषकर्मप्रवृत्ति का हेतुमात्र तो हो सकता है। अत: वहाँ यज्ञ को साधनरूप नहीं कहा गया है, किन्तु वेदविहित कर्मों में पुरुषों की रुचि हो, ऐसे कर्मों की स्तुति (महत्त्व) बतलायी है।

पू०प०—सं०—वेदमन्त्रों का पठन पाठनमात्र पुण्य है अथवा अर्थसहित स्वाध्याय का भी विधान है!

**उ०प०—तदर्थशास्त्रात्॥ ३१॥**

प०क्र०—(तत्) वेदमन्त्रों का अर्थसहित स्वाध्याय करना चाहिये। (अर्थशास्त्रात्) क्योंकि वेद, पुरुषार्थ-चतुष्टय के मनुष्य-मात्र के लिये जो साधन हैं, उनका विवेचन करता है।

भा०—इस लोक में धर्म, अर्थ, काम मोक्ष किस प्रकार प्राप्त करे, इसके ही बतलाने को वेद का प्रकाश हुआ है। यदि वेद अर्थसहित न पढ़ा जावेगा, तो मनुष्यों को चारों फलों के प्राप्ति के उपाय कैसे ज्ञात होंगे, अत: अर्थसहित वेदाध्ययन करना चाहिये।

सं०—इसमें एक हेतु और भी है।

**उ०प०—वाक्यनियमात्॥ ३२॥**

प०क्र०—(वाक्यनियमात्) प्रत्येक मन्त्र में ऋषियों का नाम पाये

जाने से वेदों का अर्थसहित ही स्वाध्याय ठीक है।

भा०—जो वेदमन्त्रों के ऋषि हैं उनसे यह अर्थ निकलता है, कि अमुक ऋषि ने विधिवत् मन्त्रार्थ विचार कर प्राणियों के कल्याण के लिये उसका विस्तार किया। ऋषि का अर्थ जानने-वाला है। अर्थात् जो परम्परा से वेदों के पठन पाठन की शैली है, उसी का ऋषियों ने प्रसार किया। अतः प्रत्येक अधिकारी प्राणी को स्वाध्याय करना चाहिये।

सं०—इसमें दूसरा हेतु भी है।

**उ०प०—बुद्धशास्त्रात्॥ ३३॥**

प०क्र०—(बुद्धशास्त्रात्) ज्ञान को देनेवाला वेद ही एक शास्त्र है। उसका अर्थसहित ही स्वाध्याय करना चाहिये।

भा०—वेद ही एकमात्र ऐसा शास्त्र है, जिसने कि आदि सृष्टि में मनुष्य को ज्ञान किया। अतः उसका अर्थसहित स्वाध्याय होने से ही ज्ञान का प्रकाश संसार में फैल सकता है। इस कारण अर्थसहित स्वाध्याय का निरूपण किया गया है।

सं०—इसमें पूर्वपक्ष यह है किः—

**पू०प०—अविद्यमानवचनात्॥ ३४॥**

प०क्र०—(अविद्यमानवचनात्) अर्थसहित स्वाध्याय करना आवश्यक नहीं, क्योंकि उनमें अविद्यमान पदार्थों का वर्णन है।

भा०—वेदों में कुछ ऐसे भी पदार्थों का वर्णन है, कि जिनके ज्ञान से मनुष्य को कोई लाभ नहीं। जैसे ऋग्वेद ८।४।१७ तथा यजुः-३१।१। के 'सहस्र शीर्षा पुरुषः' में कहा, कि उसके हजार सिर और हजार पाँव और हजार आँखें हैं। अतः अर्थसहित पठन पाठन से क्या लाभ! क्योंकि इसमें संख्या दोष भी है, जब हजार सिर होंगे, तो दो हजार आँखें होंगी, वहाँ हजार आँखें ही कही हैं।

सं०—और भी हेतु देते हैं।

**पू०प०—अचेतनेऽर्थबन्धनात्॥ ३५॥**

प०क्र०—(अचेतने) जड़पदार्थों में (अर्थबन्धनात्) अपने अर्थ से बंधे हुए होने के कारण वेद, पठन-पाठन के योग्य नहीं।

भा०—ऋग्वेद ८।४।११।२३ में इस मन्त्र का कि 'त्वमुत्तमास्योपधे' अर्थात् औषधि तू श्रेष्ठ है, इस औषधि रूप ज़ड़ पदार्थ का सम्बोधन करके प्रतिपादन किया हुआ अर्थ सर्वथा असङ्गत होता है। संसार में चेतन पदार्थ

को सम्बोधन किया करते हैं, जड़ को नहीं। अत: अर्थ-सहित पठन पाठन से क्या लाभ।

सं०—तीसरा हेतु और भी दिया जाता है।

**पू०प०—अर्थविप्रतिषेधात्॥ ३६॥**

प०क्र०—(अर्थविप्रतिषेधात्) परस्पर विरुद्ध अर्थ का कथन करने से भी वेद का अर्थसहित पठन पाठन ठीक नहीं।

भा.—ऋग्वेद १। ६। १६। १० 'अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' इस मन्त्र में जो यह बतलाया, कि 'अदिति ही द्यौ है और वही अन्तरिक्ष है, इसमें परस्पर अर्थ का विरोध मिलता है, क्योंकि द्यौ ही अन्तरिक्ष है, यह कैसे हो सकता है। अन्तरिक्ष और द्यौ में बड़ा अन्तर है। अत: अर्थसहित पठन-पाठन से क्या लाभ।'

सं०—और भी हेतु देते हैं।

**पू०प०—स्वाध्यायवदवचनात्॥ ३७॥**

प०क्र०—(स्वाध्यायवदवचनात्) वेद के पठन-पाठन का जिन वाक्यों में विधान है, उनमें उनके अर्थसहित पठन-पाठन का भी विधान नहीं मिलता। अत: अर्थसहित पठन-पाठन ठीक नहीं।

भा०—उपनिषदों में आया है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य:', मनुष्य मात्र को वेद पढ़ना चाहिये। इस पठन-पाठन के निरूपक वाक्य में भी अर्थसहित पाठ का आदेश नहीं है। अत: विधान-रहित अर्थ-युक्त-पठन-पाठन अनावश्यक ही है।

सं०—और भी हेतु देते हैं।

**पू०प०—अविज्ञेयात्॥ ३८॥**

प०क्र०—(अविज्ञेयात्) वेदों के अर्थ भी जानने योग्य न होने से अर्थसहित पठन-पाठन वृथा है।

भा०—ऋगवेद २। ४। ८। ३। 'अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस मे' और ऋग्वेदं ८। ३। ६। ६ के मन्त्र 'सृण्येव जभरी तुर्फरीतु' आदि अनेक ऐसे मन्त्र हैं, कि जिनका कोई अर्थ ही नहीं बनता। अत: अर्थ सहित स्वाध्याय अनावश्यक है।

सं०—इसमें यह हेतु भी है।

**पू०प०—अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्॥ ३९॥**

प. क्र.(अनित्यसंयोगात्) अनित्य पदार्थों का (जैसे जन्म, मरण,

जरा, यौवन आदि पदार्थों का) सम्बन्ध मिलने से (मन्त्रानर्थक्यम्) मन्त्रों का अर्थोंसहित पाठ करना निरर्थक है।

भा०—ऋग्वेद ३।३।२१।१४ के 'किन्ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः' मन्त्र में कीकट देश और नैशारव नगर तथा उसका प्रमङ्गद राजा बतलाया गया है। अतः उसमें इतिहास है, अतः यह मन्त्र उपर्युक्त राजा के पश्चात् ही बने थे। इस कारण ईश्वरोक्त होने में भी सन्देह है। अतः वेदों का अर्थसहित पठन-पाठन वृथा ही है।

सं—इन छहों हेतुओं का समाधान देते हैं।

**उ०प०—अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥ ४० ॥**

प०क्र०—'तु' पद पूर्वपक्ष के निषेध के लिये है। (अविशिष्टः) लोक और वेद में (वाक्यार्थः) वाक्य के अर्थ का ज्ञान समान अर्थात् एकसा ही माना जाता है।

भा०—लोक और वेद में वाक्य के अर्थ का एकसा ही ज्ञान होता है। जैसे लोक में यौगिक शब्द का अर्थ धातु आदि प्रत्यय के ज्ञान से जाना जाता है। उसी प्रकार वेद में भी जाना जाता है। अतः लोगों को सम्पूर्ण ग्रन्थ अर्थसहित पढ़ने से ही लाभ होता है। उसी प्रकार अर्थसहित वेदों का स्वाध्याय ही लाभदायक है।

सं०—अर्थसहित पठन पाठन में और भी हेतु देते हैं।

**उ०प०—गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥ ४१ ॥**

प०क्र०—(श्रुतिः) वेद (पुनः) यतः (गुणार्थेन) अनेक गुणवाले अर्थों से युक्त हैं। अतः उनका पठन पाठन अर्थयुक्त होना चाहिये।

भा०—वेद का एक-एक पद अनन्त लाभकारी है, वह सब सत्य विद्याओं का आगार है। अतः जब तक उसे अर्थसहित प्राणी न पढ़ेंगे, उससे लाभ ही क्या होगा। अतएव वेद को अर्थसहित ही पढ़ाना चाहिये।

सं०—इसी को पुनः पुष्ट करते हैं।

**उ०प०—परिसंख्या ॥ ४२ ॥**

प०क्र०—(परिसंख्या) वेद का अर्थसहित पठन पाठन होने से त्याज्य कर्मों का परित्याग और कर्त्तव्य कर्मों का परिज्ञान होता है।

भा०—सुख तथा दुःख, शुभाशुभ कर्मों के कर्त्तव्य तथा अकर्तव्य पर निर्भर है। परन्तु कौन से शुभ और कौन से अशुभ हैं, इसका परिज्ञान इस अल्पज्ञ जीव को बिना सर्वज्ञ ईश्वर के उपदेश किये नहीं हो सकता।

अतएव इष्ट और अनिष्ट कर्मों के ग्रहण तथा परिहारार्थ वेद को अर्थसहित ही पढ़ना पढ़ाना चाहिये।

सं०—इस कथन पर यह आपत्ति की जाती है।

**पू०प०—अर्थवादो वा॥ ४३॥**

प. क्र.—'वा' आशङ्का के निमित्त प्रयुक्त किया गया है। (अर्थवादः) यह अर्थवाद है, कि शुभ कर्म करने से सुख और अशुभ से दुःख होता है।

भा०—यह कहना ठीक नहीं, कि सुख दुःख शुभाशुभ कर्मों पर आधारित हैं, क्योंकि लोक में इसके विपरीत देखा गया है।

सं०—इस आशङ्का का यह उत्तर है।

**उ०प०—अविरुद्धं परम्॥ ४४॥**

प०क्र०—(अविरुद्धम्) शुभाशुभ कर्मों के करने से सुख अथवा दुःख होता है, यह बात लोक और वेद उभय-सम्मत है। अतः यह बात (परम्) अति उत्तम होने से ग्रहण करने योग्य है।

भा०—इसे अर्थवाद नहीं कहा जा सकता, कि शुभ कर्म से सुख और अनिष्ट कर्म से दुःख होता है। क्योंकि वेद में इसका उपदेश और शिष्टपुरुषों में इसका आचरण मिलता है। अतः इष्ट कर्म लाभदायक और अनिष्ट कर्म हानिकारक है।

सं०—एक और समाधान करते हैं।

**उ०प०—संप्रैषे कर्मगर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात्॥ ४५॥**

प०क्र०—(संप्रैषे) वेद के सहस्त्र सिर और नेत्रवाले मन्त्र तथा ऋ०, तथा यजुः-३१। १। (में) (कर्मगर्हानुपलम्भः) अविद्यमान अर्थों का कहना कोई दोष नहीं, क्योंकि (संस्कारत्वात्) वह मनुष्य बुद्धि को संस्कृत करने के लिये कहा गया है।

भा०—वेद में मुख्य और गौण अर्थ को लेकर उपदेश किया गया है, और यही कारण है कि उसमें अविद्यमान अर्थ का भान होता है, वास्तव में ऐसा है नहीं। अतः वेद को अर्थसहित ही पढ़ने से यह भ्रम दूर हो सकता है।

सं०—एक और समाधान करते हैं।

**उ०प०—अभिधानेऽर्थवादः॥ ४६॥**

प०क्र०—(अभिधाने) जो अचेतन पदार्थों को सम्बोधन करके कहा

गया है, उसमें तो (अर्थवादः) अर्थवाद है।

भा०—जहाँ वेद में इस प्रकार से आवे कि 'हे सोम औषधे! तू सर्व औषधियों में श्रेष्ठ है' इत्यादि, वहाँ ऐसा आजाने से जड़ से बातचीत करना नहीं कहा जाता, किन्तु सोम औषधि के उत्तम गुणों का वर्णन करना है, क्योंकि अचेतन के लिये, श्रवण-इन्द्रियहीन होने से, कोई सम्बोधन नहीं हो सकता।

सं०—अन्य शङ्का का भी समाधान करते हैं।

**उ०प०—गुणादप्रतिषेधः स्यात्॥ ४७॥**

प०क्र०—(अप्रतिषेधः स्यात्) अर्थों में कोई परस्पर विरोध नहीं (गुणात्) गुणवृत्ति से।

भा०—यह जो वेद में कहा गया है कि अदिति ही द्यौ है, और अदिति ही अन्तरिक्ष है, यह गुणवृत्ति द्वारा अदिति शब्द से अनेकार्थ का बोध कराया गया है। लोक में भी एक शब्द अनेकार्थ का बोधक होता है, यथा—हरि, सैन्धव आदि शब्द प्रसङ्गवश अनेक-अर्थ के बोधक होते हैं। पर ऐसा होने पर भी परस्पर कोई विरोध नहीं माना जाता। उसी भाँति वेद में भी एक शब्द के भिन्न-भिन्न अनेक-अर्थ होने पर यथास्थान सङ्गतिपूर्वक व्यवस्था कर लेनी चाहिये। अतः कोई दोष नहीं।

सं०—अन्य शङ्का का समाधान करते हैं।

**उ०प०—[१]विद्याऽवचनमसंयोगात्॥ ४८॥**

---

सूचना—१. सायणप्रतीत ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात में 'असंयोगात्' इसका 'अयज्ञसंयोगात्' यह अर्थ किया है। अर्थात् सायण का अभिप्राय यह है, कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस विधि द्वारा बालक को वेद पढ़ाने का विधान किया गया है, बालक यज्ञ कर नहीं सकता। वेद के अर्थ का उपयोग यज्ञादिक्रियाओं के लिए ही होता है। अतः उस समय अनुपयुक्तता के कारण अर्थसहित वेद पढ़ने का विधान नहीं किया। परन्तु यज्ञक्रियादिव्यवहार करनेवाले प्रत्येक पुरुष को वेद का अर्थ अवश्य जानना चाहिये। निरुक्तकार यास्क ने भी अर्थसहित ही वेद पढ़ना चाहिये, इस बात को दृष्टि में रखकर शाखान्तरगत निम्नलिखित इन दो वचनों को प्रमाणरूप से प्रस्तुत किया है। कि—

(१)

**स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।**
**योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।**

प०क्र०—(विद्याऽवचनम्) विधि में अर्थसहित पठन पाठन का न कहा जाना, यह (असंयोगात्) उसके वचन (कथन) की अप्राप्ति (अनावश्यकता) के ही कारण है।

भा०—यदि विद्या (वेद के पढ़ने) में अर्थसहित पठन पाठन का विधान नहीं है, तो उसका यह भाव लेना, कि वेद अर्थसहित न पढ़ा पढ़ाया जावे, यह ठीक नहीं, क्योंकि अध्ययन शब्द का अर्थ ही अर्थसहित पठन पाठन करना है।

सं०—एक और शङ्का समाधान करते हैं।

**उ०प०—सतः परमविज्ञानम्॥ ४९॥**

प०क्र०—(अविज्ञानम्) जिन मन्त्रों में अर्थ का अविज्ञान बतलाया है, वह अज्ञता वश (सतः परम्) केवल विद्यमान अर्थ का न जानना ही है।

---

(२)

**यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।**
**अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥** (निरु० १।१८)

१—(अर्थः)—अर्थात् जो वेद पढ़कर उसके अर्थ नहीं जानता, वह भार (बोझा) धारण किये हुए ठूंठ के समान है। और जो वेद के अर्थ को जानता है, वह पापरहित होकर संपूर्ण ऐश्वर्यों को भोगता हुआ स्वर्ग को जाता है।

२—(अर्थः)—जो बिना अर्थ के जाने वेद का पठन पाठनादि व्यवहार करता है, उसका पढ़ा हुआ वह वेद उसके तथा अन्य के हृदय में इस प्रकार प्रकाश नहीं कर सकता, जैसे कि बिना अग्नि के सूखा ईंधन कुछ प्रकाश नहीं कर सकता। अभिप्राय यह है कि उसका पढ़ा हुआ वेद कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता।

ऋषि पतञ्जलि ने भी महाभाष्य पस्पशाह्निक (महा० १ अ० १ पा० आह्निक) में अर्थ सहित वेद के पठन पाठन पर ही बल देते हुए उसी को युक्तियुक्त एवं उपयुक्त बतलाया है।

महर्षि स्वा० दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश में अर्थसहित वेद के पठन पाठन को ही महत्त्व दिया है।

आधुनिक प्रगतिशील विद्वान् भी अर्थसहित वेद के पढ़ने को ही अच्छा मानते हैं।

विस्तार के भय से इस विषय में केवल दिग्दर्शनमात्र ही मैंने किया है—इति देव आचार्यः।

भा०—जहाँ वेदों में अर्थ समझ में न आवे, वहाँ अपनी ही अविद्या समझनी चाहिये, मन्त्रों का कोई दोष नहीं। क्योंकि उनके अर्थ हो सकते हैं, और हैं, तथा बुद्धि-संगत भी हैं।

सं०—पूर्वोक्त समाधान का पुनः स्मरण कराते हैं।

**उ०प०—उक्तश्चाऽनित्यसंयोगः ॥ ५० ॥**

प०क्र०—(च) और (अनित्यसंयोगः) जन्म मरण वाले विषय वेद में हैं, इसका समाधान (उक्तः) पीछे कह ही दिया है।

भा०—वेदों में जहाँ मनुष्य अथवा गाँवों के नाम आये हैं, वह सामान्य संज्ञायें हैं, किसी व्यक्ति-विशेष अथवा ग्रामविशेष को लक्ष्य करके नहीं कहे गये हैं। अतः सर्वत्र ऐसा ही जानना चाहिये।

सं०—अब स्वपक्ष परिपुष्ट करने के लिए युक्ति देते हैं।

**उ०प० साधक—लिङ्गोपदेशश्च [१]तदर्थत्वात् ॥ ५१ ॥**

प०क्र०—(लिङ्गोपदेशः) वेदमन्त्र में परमात्मा के चिन्हों का वर्णन आया है। (तदर्थत्वात्) वेदमन्त्रों को अर्थवाला होने से। इस कारण से भी वेद को अर्थसहित ही पढ़ना पढ़ाना चाहिये।

भा०—यर्जुवेद ४०। ४ में बतलाया है कि 'वह कभी कम्पन नहीं करता तथा एक ही है' इसमें अकम्पन और एक ही है, परमात्मा के दिये गये यह दो विशेषण, बिना अर्थसहित वेद पढ़े पढ़ाये कैसे जाने जा सकते

---

सूचना (१)—ऋ०वे० भाष्य के उपोद्घात में सायणाचार्य ने प्रसङ्गवश इस सूत्र को उपस्थित करते हुए 'तदर्थत्वात्' इस पद के स्थान में 'तदर्थवत्' ऐसा पाठ माना है। परन्तु सम्वत् १९५६ में चन्द्रप्रभा प्रेस बनारस से छपे हुए 'मीमांसासूत्रपाठ' में 'तदर्थत्वात्' ऐसा ही पाठ है।

अस्तु। सायण का अभिप्राय यह है कि 'आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत' यह ब्राह्मणग्रन्थ 'अग्ने नय'—(ऋ०वे० १०। १८९। १) इस मन्त्र का साक्षात् निर्देश न करके, अग्नि का प्रधानतया प्रतिपादन है जिस ऋचा में, उस ऋचा द्वारा उपस्थान करे, यह बात अपने 'आग्नेय्या' पद के द्वारा बतलाता है। अग्नि का प्रधानतया प्रतिपादन तभी जाना जा सकता है, जबकि मन्त्र अर्थ वाले हों।

अतः 'आग्नेय्या' इस ब्राह्मणवाक्यस्थलिङ्ग से सिद्ध होता है कि (तदर्थवत्) तत्=वेदमन्त्रवाक्यम्, अर्थवत्=अर्थयुक्तम्। अतः अर्थसहित ही वेद का पठन पाठन करना चाहिये—इति देव आचार्यः।

हैं, और उन (विशेषणों) के अज्ञान से विशेष्य का भी ज्ञान नहीं हो सकता है।

सं०—पूर्वोक्त अर्थ में युक्ति देते हैं।

**ऊह[१]: ॥५२॥**

प०क्र०—(ऊहः) तर्क भी सिद्ध करता है कि अर्थसहित ही वेद का पठन पाठन होना चाहिये।

भा०—ऋग्वेद ६।४।२०।१। में यह बतलाया गया है कि वह प्राणदाता और पिता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि जो प्राणदाता नहीं, वह पिता भी नहीं हो सकता। अब इसका स्पष्ट निर्णय बिना तर्क के नहीं हो सकता, और तर्क बिना अर्थज्ञान के नहीं हो सकता। अत एव वेदों को अर्थसहित ही पढ़ना पढ़ाना चाहिये तभी तर्कादि के द्वारा उसका उपयोग हो सकता है।

सं०—पुनः और युक्ति देते हैं।

**विधिशब्दाश्च[२] ॥५३॥**

प०क्र०—(च) और (विधिशब्दाः) विधिवाक्य भी वेदों के

---

सूचना—(१) इसका यह भी अभिप्राय हो सकता है कि—

उपनयनप्रकरण में—

इस मन्त्र में 'असौ' के स्थान पर बालक का सम्बोधनान्त नाम उच्चारण करे। तथा—

ओं प्रणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसोऽन्तक इदं ते परिददामि, अमुम्॥

(गो० २।१०।२८॥ मं०ब्रा० १।६।२०॥)

इस मन्त्र में 'अमुम्' के स्थान पर बालक का द्वितीयान्त नामोच्चारण करे।

इसी प्रकार विवाहप्रकरण में—

ओं ध्रुममसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम् (अमुष्य असौ)

गोभिल गृ०प्र० २।खं० ३।सू० ८।

इस मन्त्र में 'अमुष्य' के स्थान पर, वधू, पति के नाम को पष्ठ्यन्त बनाकर और असौ के स्थान पर अपने नाम को प्रथमान्त करके बोले। इसी प्रकार अनेक स्थलों पर अनेक मन्त्रों की ऊहना कही गईं हैं।

यदि मन्त्र अर्थवान् नहीं तो ऐसी ऊहना करना (भिन्न-भिन्न विभक्त्यन्त बनाना) वृथा है। अतः सिद्ध होता है कि मन्त्र अर्थवान् है। अतः अर्थसहित ही वेद का पठन-पाठन करना चाहिये।

२—चन्द्रप्रभा प्रेस बनारस के छपे 'मीमांसासूत्रपाठ' में 'विधिशब्दाश्च'

अर्थसहित पढ़ने पढ़ाने में प्रमाणभूत हैं।

भा०—यजुर्वेद।४०।२। में लिखा है कि कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। परन्तु यह ज्ञान तब तक न हो सकेगा, जब तक विधि विधान पूर्वक अर्थसहित वेदों का पठन पाठन न किया जावे। अतः अर्थसहित वेदों का पठन पाठन करना परम कर्तव्य है।

इति प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः।

## अथ प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादः प्रारभ्यते

सं०—वेद स्वतः प्रमाण है, अतः मनुष्य को अर्थसहित पढ़ना पढ़ाना चाहिये। सब ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थों की वेद के अनुकूल होने से प्रामाणिकता और प्रतिकूल होने से अप्रामाणिकता कहते हैं।

**पू०प०—धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात्॥ १॥**

प०क्र०—(धर्मस्य) धर्म में (शब्दमूलत्वात्) केवल वेद ही प्रमाण होने से (अशब्दम्) वेद से भिन्न ब्राह्मणग्रन्थ (अनपेक्ष्यम्, स्यात्) अप्रमाण हैं।

भा०—भाव यह है, कि जब वेद स्वतः प्रमाण हैं और धर्म में केवल वे ही मूलभूत प्रमाण माने जाते हैं, तो यह बात सिद्ध हो गई कि उनसे भिन्न ब्राह्मण ग्रन्थ अप्रमाण हैं।

सं०—इसका समाधान यह है।

**उ०प०—अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात्॥ २॥**

प०क्र०—(अपि, वा) सिद्धान्तसूचक शब्द हैं। (कर्तृसामान्यात्) इत(त्त)रा के पुत्र महीदास आदि के रचे हुए ब्राह्मणादिग्रन्थों की प्रामाणिकता सिद्ध करने में, वेदानुकूल होने से (अनुमानं प्रमाणं स्यात्) अनुमान प्रमाण हो सकता है।

भा०—धर्म में वेद को स्वतः प्रमाण माना था। इससे यह नहीं कह सकते कि वेदानुकूल होते हुए भी ब्राह्मणग्रन्थ प्रमाण नहीं हैं। उन्हें भी अनुमान प्रमाण के द्वारा परतः प्रमाण में माना गया है। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों के कर्त्ता ऋषि थे, न कि ईश्वर।

सं०—जो ब्राह्मण वेदानुकूल अर्थप्रतिपादक हैं, वह प्रमाण, शेष

---

ऐसा पाठ है। परन्तु ऋ०भा० के उपोद्घात में सायण ने 'विधिशब्दाच्च' ऐसा पाठ माना है। अर्थ दोनों से लगाया जा सकता है—इति देव आचार्यः।

अप्रमाण हैं:

**उ०प०—विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्॥ ३॥**

प०क्र०—(विरोधे) वेद और ब्राह्मणों का परस्पर विरोध होने पर, ऐतरेयादि ब्राह्मण (अनपेक्ष्यम्) अप्रमाण हैं। (तु) किन्तु (असति, हि) अविरुद्ध होने पर निश्चय ही वह प्रमाण (स्यात्) हैं, ऐसा (अनुमानम्) अनुमान कर लेना चाहिये।

भा०—जिस बात का वेदों में निरूपण किया है, उसका प्रतिपादन न करके, यदि उसके विरुद्ध प्रतिपादन करते हैं, तो वे ब्राह्मण अप्रमाण हैं, परन्तु वेदानुकूल होने पर वे प्रामाणिक कहे जा सकते हैं।

पू०प०—सं०—वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हैं, तो ब्राह्मण-ग्रन्थ परतः प्रमाण क्यों माने जावें।

**उ०प०—हेतुदर्शनाच्च॥ ४॥**

प०क्र०—(च) और ऋषिप्रोक्त होने के अतिरिक्त (हेतुदर्शनाच्च) वेद उनके हेतु हैं, इस कारण से। अर्थात् वेदों की व्याख्या रूप होने से भी अनुमान के द्वारा उन्हें परतः प्रमाण में लिया गया है।

भा०—ब्राह्मणग्रन्थ ऋषिप्रणीत हैं, परन्तु विशेषता यह है कि वह वेदों की व्याख्यारूप हैं, और जिसकी जो व्याख्या होती है, वह (व्याख्या) उनके अनुसार होने से प्रमाण, और प्रतिकूल होने से अप्रमाण होती है। ऐतरेयादि ब्राह्मण ऋग्वेदादि की व्याख्या हैं। अतः वेदानुकूल होने से प्रमाण हैं और यदि वह कहीं वेद के प्रतिकूल हैं, तो वहाँ वे अप्रमाण हैं।

सं०—क्या एतरेयादि ब्राह्मण सर्वथा ऋग्वेदादि के अनुकूल हैं।

**पू०प०—शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत्॥ ५॥**

प०क्र०—(शिष्टाकोपे) उसे (ऐतरेयादि ब्राह्मण) को शिष्टों ने बिना किसी विरोध के माना है, कि (अविरुद्धम्) वह सर्वथा वेदानुकूल है। यदि ऐसा कहोगे।

भा०—जो वेदविहित कर्मों के करने वाले हैं, वे ऐतरेयादि ब्राह्मणों को मानपूर्वक स्वीकार करते हैं। यदि वह वेदविरुद्ध होते, तो इस प्रकार उनका ग्रहण न होता। अतः वे वेदानुकूल होने से वेद तुल्य प्रमाण हैं।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

**उ०प०—न, शास्त्रपरिमाणत्वात्॥ ६॥**

प०क्र०—(न) तो यह ठीक नहीं है। (शास्त्रपरिमाणत्वात्) क्योंकि

ईश्वररचित होने से केवल वेद ही स्वतः प्रमाण हो सकते हैं।

भा०—'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः' ऋग्वेद ८।४।१८। तथा यजुः-३१।७। इस मन्त्र में ऋगादि चारों वेदों की उस परमात्मा से उत्पत्ति मानी गई है, न कि ऐतरेयादि ब्राह्मणों की। अतः वेद स्वतः प्रमाण, और तदनुकूल होने से ब्राह्मण परतः प्रमाण हैं, शिष्टपुरुष ऐसा ही मानते हैं।

पू०प०सं०—यदि ऋषिप्रभृति जिन्होंने कि ब्राह्मणग्रन्थ बनाये, मान्य हैं, तो वेदवत् ब्राह्मण क्यों नहीं स्वतः प्रमाण माने जाते।

**उ०प०—अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्॥ ७॥**

प०क्र०—(अपि वा) का शङ्कानिवारणार्थ प्रयोग किया गया है। यदि ब्राह्मण स्वतः प्रमाण होते, तो (कारणाग्रहणे) वेदरूप कारण के बिना ही वे स्वतन्त्रतया (प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्) प्रयुक्त प्रतीत होने चाहियें। पर ऐसा नहीं है। किन्तु वेदानुकूल बनाये जाने के कारण प्रमाण मान लिए गये हैं।

भा०—ऋषि प्रभृति महानुभाव होने से आदरणीय हैं, परन्तु फिर भी मनुष्य होने से असर्वज्ञता के कारण कभी किसी विषय में उनमें भ्रम होना सम्भव है। अतः उनके रचे हुए ब्राह्मण-ग्रन्थ वेदानुकूल होते हुए भी स्वतः प्रमाण न होकर, परतः प्रमाण में ही आते हैं।

सं०—अब इसी में हेतु देते हैं।

**उ०प०—तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात्॥ ८॥**

प०क्र०—(तेषु) उन ब्राह्मणग्रन्थों में (विरोधस्य) वेद का विरोध (अदर्शनात्) न होने से, (समा) वेदतुल्य ही (विप्रतिपत्तिः) पदार्थ-विज्ञान (स्यात्) है।

भा०—जो वेदों में पदार्थविज्ञान है, वैसा ही इन ब्राह्मणों में व्याख्या रूप से विद्यमान है। अतः जिन ब्राह्मणों की विषयानुकूल संगति मिलती है वह प्रमाण ही हैं, परन्तु असंगति होने पर अप्रमाण हैं।

पू०प०स०—ब्राह्मण ग्रन्थों में संध्या, अग्निहोत्रादि कर्त्तव्य कर्मों को विस्तार से कहा है, परन्तु वेदों में नहीं कहा। अतः विस्तार होने से भी वह प्रमाण नहीं।

**उ०प०—शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्॥ ९॥**

प०क्र०—यहाँ (वा) प्रयोग सिद्धान्त का सूचक है। (शास्त्रस्था) ब्राह्मणग्रन्थों में वेदों में कहे हुए का ही व्याख्यान है, न कि कोई स्वतन्त्र

निरूपण, क्योंकि (तन्निमित्तत्वात्) वह वेदमूलक हैं, अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों का मूल वेद है।

भा०—ब्राह्मणों में सन्ध्यादि अग्निहोत्र का निरूपण कपोल कल्पित नहीं, किन्तु वेदानुकूल है। वेदों में जो कर्त्तव्य कर्म बतलाये हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में उन्हीं की विस्तारपूर्वक व्याख्या है। अतः ब्राह्मण वेदानुकूल होने से प्रमाण हैं।

पू०प०सं०—ब्राह्मणग्रन्थों में विधि अर्थवाद आदि कई प्रकार के विषय कहे गये हैं। इनमें किसको प्रमाण माना जावे।

**उ०प०—चोदितं तु प्रतीयेताऽविरोधात् प्रमाणेन॥ १०॥**

प०क्र०—(चोदितं) विधि अनुसार (तु) ही (प्रमाणेन) वेद के साथ (अविरोधात्) विरोध न होने से (प्रतीयेत) प्रमाण मानना चाहिये।

भा०—ब्राह्मणों में विधि, अर्थवाद, आदि कतिपय प्रकारों से अर्थों को विस्तार दिया गया है। वहाँ विधिशब्दों द्वारा जो-जो कर्मविधान किया गया है, वह वेदानुकूल होने से अनुष्ठान करने योग्य है। अर्थवाद आदि सब प्रसङ्गवश कहा गया है, वेदाधार से नहीं।

सं०—कल्पसूत्र भी वेदाङ्ग होने से स्वतः प्रमाण क्यों नहीं।

**पू०प०—प्रयोगशास्त्रमिति चेत्॥ ११॥**

प०क्र०—(प्रयोगशास्त्रम्) वेदविहित धर्मों का यथार्थ अनुष्ठान बतलानेवाले कल्पसूत्र तो, वेद के सदृश स्वतः प्रमाण हैं, (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो।

भा०—कल्पसूत्र वेदोक्त कर्मानुष्ठान का बोध कराते हैं। अतः कल्पसूत्रों को वेदानुकूल होने से, स्वतः प्रमाण मान लेने में क्या हानि है, यह प्रश्न किया गया है।

सं०—इसका समाधान।

**उ०प०—नासन्नियमात्॥ १२॥**

प०क्र०—(न) कल्पसूत्र वेद के तुल्य स्वतः प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि (असन्नियमात्) उनमें अवैदिकत्व भाव (अवैदिक अंश) भी मिलता है।

भा०—वेदों के समान कल्पसूत्रों में सच्चे अर्थ नहीं मिलते। क्योंकि जो बातें वेदों में नहीं हैं, उनका भी कल्पसूत्रों में कथन मिलता है, जो कि केवल काल्पनिक हैं। अतः वह वेद के समान स्वतः प्रमाण नहीं, अपितु

ब्राह्मणों के सदृश परतः प्रमाण ही हैं।

सं०—इसमें यह युक्ति है।

**उ०प०—अवाक्यशेषाच्च॥ १३॥**

प०क्र०—(च) तथा कल्पसूत्र इस कारण भी स्वतः प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि (अवाक्यशेषात्) उनमें कोई विधिवाक्य तथा उन विधिवाक्यों का कोई स्तुतिवाक्य भी नहीं मिलता।

भा०—वेदों में कर्मानुष्ठान करने की आज्ञा (विधि) तथा जैसे कर्मों के फल आदि के प्रशंसात्मक वाक्य भी हैं। वैसे कल्पसूत्रों में नहीं मिलते। उनमें तो केवल कर्मफलों के प्रकार का ही वर्णन है। अतः कल्पसूत्र वेद के सदृश स्वतः प्रमाण नहीं हैं।

सं०—पुनः एक और युक्ति यह भी है।

**उ०प०—सर्वत्र च प्रयोगात् सन्निधानशास्त्राच्च॥ १४॥**

प०क्र०—(च) और (सर्वत्र) सम्पूर्ण कल्पसूत्रों में (सन्निधान-शास्त्रात्) अर्थ की योग्यता से अतिसमीपस्थ जो वेदार्थ, उसके (प्रयोगात्) विरुद्ध अर्थ का प्रयोग मिलने से, वह कल्पसूत्र वेदसदृश स्वतः प्रमाण नहीं।

भा०—कल्पसूत्र मनुष्यों के रचे हुए हैं। वह वेद के निकटतम होते हुए भी, उनमें अर्थ ऐसे-ऐसे किये गये हैं, जिनमें कि अर्थकर्ता की निजमति अनुसार निरूपण मिलता है। अतः कल्पसूत्र परतः प्रमाण हैं, स्वतः प्रमाण नहीं।

सं०—शिष्टों के आचरण के अनुसार किये गये आचार-व्यवहार को प्रमाणित प्रतिपादित करते हैं।

**पू०प०—अनुमानव्यवस्थानात् तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात्॥ १५॥**

प०क्र०—(अनुमानव्यवस्थानात्) स्मृति तथा शिष्टाचरण जिस देश, काल और अवस्था से सम्बन्धित (सम्बद्ध) हैं, वे उसी देश, कालादि से सम्बद्ध हुए प्रमाणित हो सकते हैं। इस प्रकार की अनुमान द्वारा व्यवस्था होने से, (तत्संयुक्तम्) स्मृति तथा शिष्टाचार उसी देश, कालादि व्यवस्था के साथ सम्बन्ध रखते हुए (प्रमाणं स्यात्) प्रमाण हो सकते हैं, सर्वत्र सबके लिए नहीं।

भा०—स्मृति तथा शिष्टाचार जिस देश काल और जिस अवस्था में शिष्ट पुरुषों द्वारा बने, उन्हीं देश कालादि, में उनका अनुसरण करना चाहिए,

न कि सर्वत्र, अर्थात् स्मृति और शिष्टाचार सदा सबके लिए नहीं हैं।

सं०—इसका समाधान यह है।

**उ०प०—अपि वा सर्वधर्मः स्यात्तन्याय-द्विधानस्य॥ १६॥**

प०क्र०—(अपि वा) 'वा' शब्द पूर्वपक्ष निराकरणार्थ है। (तत्) स्मृति (मनुस्मृति आदि) और शिष्टाचार के द्वारा प्रचलित धर्म। (सर्वधर्मः) मनुष्यमात्र के लिए समान रूप से आचारणीय (स्यात्) है। क्योंकि (विधानस्य) स्मार्त अर्थ और शिष्टों का आचरण (न्यायत्वात्) सर्वथा उचित अर्थात् ठीक है।

भा०—मानव धर्मशास्त्र में जिसका विधान है, और जो सनातन (सदा) से वैदिक शिष्टपुरुषों के आचरण हैं, वह सर्वथा वेदानुकूल होने से मान्य हैं। अतः वह मनुष्यमात्र के लिए लाभप्रद हैं, किसी जाति, देश, काल अवस्था विशेष के ही लिये नहीं कहे गये हैं। भाव यह है कि वैदिकों के एक समान आचरण होने चाहियें।

पू०प०सं०—जहां स्मृति अथवा शिष्टों के आचरण करते हुये न रह सकें, वहाँ क्या कर्त्तव्य है।

**उ०प०—दर्शनाद्विनियोगः स्यात्॥ १७॥**

प०क्र०—(दर्शनात्) विज्ञान (वैदिकज्ञान) से (विनियोगः) स्मार्त्त शिष्टाचार की स्थापना (स्यात्) होनी चाहिये।

भा०—जिस देश में वेदोक्त धर्म और तदनुकूल शिष्टाचरण न रहा हो, वहाँ विज्ञान (वैदिक ज्ञान) के द्वारा पुनः शिष्टाचार स्थापित करना चाहिये, जिससे सनातन (वैदिक) धर्म से गिरना न हो सके।

पू०प०सं०—जहाँ वैदिक शृङ्खला न रही हो वहाँ क्या कर्त्तव्य है।

**उ०प०—लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य॥ १८॥**

प०क्र०—(नित्यस्य) वैदिक धर्म नित्य होने से सनातन है, उसका नाश नहीं हो सकता, (लिङ्गाभावात्) क्योंकि सनातन के नाश का कोई प्रमाणित चिह्न अर्थात् हेतु हो ही नहीं सकता।

भा०—वेद सनातनी विद्या है। उसका नाश नहीं होता। मनुष्यों की राजसी तामसी बुद्धि के भेद के कारण अर्थ और आचरण का नूतन रीति से उद्भव और पराभव (अभिनव) होता रहता है। जैसी-जैसी बुद्धि, वैसे-वैसे अर्थ और उसी के अनुसार आचरण हो जाते हैं। अतः वेदानुकूल जीवन बनाने से वह सात्विक बुद्धि, शुद्धाचरण और शुभ अर्थ पुनः प्रचलित

हो सकते हैं।

पू०प०सं०—जिस देश में जो आचरण के द्वारा अनुकरणीय ग्रन्थ है, वह वहां के लिये अनुकूल है परन्तु अन्य देशों में उनकी अनुकूलता कैसे होगी।

**उ०प०—आख्या हि देशसंयोगात्॥ १९॥**

प०क्र०—(आख्या) नाम (हि) निश्चय ही (देशसंयोगात्) देश विशेष के सम्बन्ध से है।

भा०—वेद धर्म के प्रचारक ऋषि, आदि काल में जिस देश में हुये, वहाँ से ही सर्वत्र वैदिक धर्म फैला। उसी के अनुसार स्मृति ग्रन्थ बने, उनके अनुकूल ही शिष्टों के आचरण बने, अतः वैदिक धर्म एवं तदनुसार स्मृति तथा शिष्टाचार सब प्रकार सर्वत्र सबको मान्य हैं। वह किसी जाति अथवा देश विदेश से सम्बन्ध नहीं रखते। (भारत धर्म) यह संज्ञा तो केवल देश सम्बन्ध से है, स्वाभाविक नहीं।

सं०—इस में यह आशङ्का है।

**पू०प०—न स्याद्देशान्तरेष्विति चेत्॥ २०॥**

प०क्र०—(देशान्तरेषु) यदि भारतधर्म केवल देशयोग से है, तो वह देशान्तर में (न) नहीं (स्यात्) होना चाहिये (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं।

भा०—किसी वस्तु से उसके नाम का सम्बन्ध तब तक ही रहता है, जब तक वह वस्तु बनी रहे, वस्तु के नाश के पश्चात् पुनः वह सम्बन्ध नहीं रहता। इसी प्रकार 'भारतधर्म' के अन्य देश में चले जाने पर उसकी उसी देश के नाम से प्रसिद्धि होनी चाहिये। क्योंकि भारत से अन्यत्र जाने पर भारतदेश नाम का सम्बन्ध भारतधर्म के साथ नहीं रहा।

सं०—इस आपत्ति का निराकरण करते हैं।

**उ०प०—स्याद्योगाख्या हि माथुरवत्॥ २१॥**

प०क्र०—(हि) निश्चय ही (योगाख्या) वैदिक धर्म के साथ, भारतदेश का इस प्रकार का सम्बन्ध (स्यात्) है, जैसे (माथुरवत्) मथुरानिवासी माथुर कहलाते हैं। इसी प्रकार वैदिक धर्म सर्वप्रथम भारत में उदित होने के कारण भारतधर्म कहलाया।

भा०—भारत में जन्म लेने के कारण आदि ऋषि, भारतीय ऋषि कहलाये। वह किसी भी देश में आवागमन करते रहें, परन्तु वे भारतीय

संज्ञा से शून्य नहीं रह सकते। जैसे मथुरा में जन्मे हुए मनुष्य का माथुर नाम अर्थात् उससे माथुर कहा जाना कभी नहीं हट सकता। अतः यह नियम समीचीन नहीं। इसी प्रकार वैदिक धर्म का सर्व प्रथम भारत में उदय होने के कारण, देश सम्बन्ध से पड़ा हुआ उसका भारतधर्म या भारतीयधर्म नाम, उसके अन्य देश में चले जाने पर भी, हट नहीं सकता। अतः पूर्वोक्त शङ्का ठीक नहीं।

सं०—इस कथित अर्थ में आशङ्का करते हैं।

## पू०प०—कर्मधर्मो वा प्रवणवत्॥ २२॥

प०क्र०—'वा' शङ्का सूचक शब्द है। (कर्मधर्म) ऋषियों के नाम के साथ देशबोधक शब्द का योग वेदोक्त कर्म का अङ्ग हो सकता है (प्रवणवत्) प्रवण के समान।

भा०—जैसे यह विधि है कि 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत' अर्थात् प्राचीनप्रवण देश में वैश्वदेव नामक यज्ञ करे, जिस प्रकार यहाँ वैश्वदेव का प्राचीनप्रवण देश अङ्ग बतलाया गया है, उसी प्रकार वेदोक्त कर्मानुष्ठान के कर्त्तव्य योग्य 'भारतवर्ष' ही है। अतः वह भारतीय धर्म होने से उन्हीं से (भारतीयों से) ही कर्त्तव्य है, अन्य देशवासियों से नहीं।

सं०—इसका समाधान यह है।

## उ०प०—तुल्यं तु कर्तृधर्मेण॥ २३॥

प०क्र०—'तु' शब्द आशङ्का निवारणार्थ है। (कर्तृधर्मेण) देश विदेश को कर्म का अङ्ग लेना, काले गोरे रङ्ग को यज्ञादि कर्त्ता का अङ्ग स्वीकार कर लेने के (तुल्यम्) सदृश है।

भा०—कर्म-कर्त्ता के गोरे काले अङ्ग पर ध्यान देना जिस प्रकार व्यर्थ है, क्योंक रङ्ग का कर्मानुष्ठान से क्या सम्बन्ध, वह तो केवल वैदिक होना चाहिए, चाहे वह काला हो, चाहे गोरा, वहाँ रङ्ग का प्रश्न ही नहीं। इसी प्रकार देश विदेश (भारतादि) को कर्म का अङ्ग मानना वृथा है, कर्मानुष्ठान से उसका क्या सम्बन्ध, केवल स्थान पवित्र और निरापद होना आवश्यक है। प्राचीनप्रवण देश में जो वैश्वदेव कर्म का कथन किया गया है, वह केवल वैश्वोदेवोपयोगी स्थानमात्र का कथन है, न कि प्राचीनप्रवण देश वैश्वदेव का अङ्ग है। अतः भारतीयधर्म (वैदिकधर्म) सार्वभौम धर्म है। उसको यथायोग्य रूप से मानना संसार के प्रत्येक प्राणिमात्र का कर्त्तव्य है।

सं०—साधुवाद प्रयोग-सिद्धि विषयक विवेचन।

## पू०प०—प्रयोगोत्पत्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था स्यात्॥ २४॥

प०क्र०—(प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वात्) शुद्ध पद की सिद्धि करने वाला व्याकरण वेदमूलक न होने से अप्रमाण है, अतः (शब्देषु) शब्दों के विषय में (व्यवस्था) शुद्ध प्रयोग की व्यवस्था (न, स्यात्) नहीं हो सकती।

भा०—गो शब्द शुद्ध, और गावी, गौणी, आदि अशुद्ध हैं, यह व्याकरण से ही व्यवस्था हो सकती है। परन्तु शुद्धपद की सिद्धि करने वाला व्याकरण वेदमूलक न होने से अप्रमाण है। अतः व्याकरण के अनुसार शुद्ध तथा अशुद्ध शब्द की प्रयोगव्यवस्था करना ठीक नहीं।

सं०—उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

## उ०प्र०—शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम्॥ २५॥

प०क्र०—(शब्दे) सर्वथा शुद्ध शब्द का प्रयोग हो क्योंकि (प्रयत्न-निष्पत्तेः अपराधस्य) उसके प्रयोग न करने से अपने ही पुरुषार्थ से साध्य पाप का (भागित्वम्) भागी होना पड़ता है।

भा०—शब्द-शास्त्र वेदमूलक है। ऋग्वेद ३।८।१०।३ में उसका क्रमवर्णन मिलता है। महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलि मुनि ने महाभाष्य १।१।१। (पस्पशान्हिक) में लिखा है कि म्लेच्छ[१] (अशुद्ध) कभी भी न बोले। अशुद्ध बोलने वाला म्लेच्छ हो जाता है। और कामना भी पूर्ण नहीं होती।

सं०—और भी युक्ति देते हैं।

## उ०प०—अन्यायश्चानेकशब्दत्वम्॥ २६॥

प०क्र०—(च) और (अनेकशब्दत्वम्) एक शब्द के निमित्त समानार्थक अनेक शब्दों को मानना (अन्यायः) अन्याय है।

भा०—अर्थबोध शब्दाधीन है, यदि वह एक ही शब्द से होता हो, तो उसके लिये समानार्थक अनेक शुद्ध अथवा अशुद्ध शब्द क्यों गढ़े जावें। जैसे जिसके गले में सासना (कम्बल) लटकती हो, उस गौरूप अर्थ को व्यक्त करने के लिए गोशब्द पर्याप्त है, उसके लिए गोणी, गावी आदि

---

सूचना—१—महाभाष्य १।१।१। (पस्पशान्हिक) में लिखा है, 'न म्लेच्छितवै' अर्थात् अशुद्ध शब्द नहीं बोलना चाहिये।

२—'यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्' अर्थात् 'इन्द्रशत्रु' शब्द में स्वर अशुद्ध बोल देने से यजमान ही मारा गया। इति देव आचार्य।

अपभ्रंश तथा शुद्ध, अशुद्ध अनेक शब्द की कल्पना करना असमीचीन एवं वृथा है।

पू०प०—सं०—शुद्धाशुद्ध शब्द का ज्ञान कैसे हो।

**उ०प०—तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात्स्यात्॥ २७॥**

प०क्र०—(तत्र) शुद्ध तथा अशुद्ध अनेक शब्दों में (तत्त्वम्) शब्दार्थज्ञान (अभियोगाविशेषात्) व्याकरणादि के अभ्यास से (स्यात्) होता है।

भा०—गो शब्द शुद्ध, और गावी, गोणी आदि अशुद्ध एवं अपभ्रंश हैं, यह ज्ञान व्याकरण के अध्ययन से होता है। अत: शुद्धाशुद्ध ज्ञान के लिये व्याकरण का पठन पाठन वैदिक पुरुषों के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

सं०—इस (गो) सिद्धशब्द के गोणी आदि अशुद्ध शब्द कैसे बने, और उनसे गोरूप अर्थ का ग्रहण कैसे होने लगा।

**उ०प०—तदशक्तिश्चानुरूपत्वात्॥ २८॥**

प०क्र०—(तत्) गो शब्द के स्थान में गोणी, गावी आदि अपभ्रंश (अशुद्ध) शब्दों का निर्माण, (अशक्तिः) व्याकरणानुसार शुद्ध जानने की शक्ति न होने के कारण है। (च) और (अनुरूपत्वात्) गो शब्द के अनुरूप अर्थात् समान अक्षरादि के होने से, उससे गोरूप अर्थ का बोध भी कर लिया जाता है।

भा०—पूर्व में किसी ने व्याकरणज्ञान की न्यूनता के कारण गो शब्द उच्चारण करने के स्थान में तत्सम अशुद्ध एवं अपभ्रंश गावी आदि शब्द रच लिये। वह शब्द दूसरों ने भी सुने, और उत्तरोत्तर इसी प्रकार स्थान पाते गये। तथा गो शब्द के अपभ्रंश होने के कारण 'गोत्व, अर्थ के बोध कराने में प्रयुक्त होने लगे।'

सं०—उसी को पुनः दृष्टान्त से निरूपण करते हैं।

**उ०प०—एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात्॥ २९॥**

प०क्र०—(च) तथा (विभक्तिव्यत्यये) विभक्ति के बदल जाने पर भी जैसे प्रातिपदिकरूप एकदेश की समानता होने से शब्द अर्थ के बोधक होते हैं, उसी भाँति (एकदेशत्वात्) गो इत्येवं शुद्धशब्दरूप एकदेश की समानता होने के कारण, गोणी, गावी, आदि अशुद्ध और अपभ्रंश शब्दों द्वारा भी गो रूप अर्थ का बोध (स्यात्) हो जाता है।

भा०—जैसे किसी ने कहा कि 'अश्मकेभ्य आगच्छति' अर्थात् अश्मक देश से आता है, यहाँ पञ्चमी विभक्ति के स्थान में 'अश्मकैरागच्छति' के द्वारा तृतीया विभक्ति बोलने पर भी, प्रातिपदिकरूपअंश सदृश होने से, श्रोताओं को अर्थावगाहन हो जाता है, उसी प्रकार गावी, गोणी आदि अपभ्रंशों से गो रूप शुद्धशब्द की समानरूपता के कारण उस अर्थ का बोध हो जाता है। परन्तु इस प्रकार के बोध को इष्ट नहीं कह सकते। अत: क्या लौकिक क्या वैदिक, सभी शब्दों का शुद्धोच्चारण ही करना चाहिये।

सं०—गौ शब्द की शक्ति गोत्वधर्म आदि अर्थ में हो सकती है, न कि व्यक्ति में। अत: इसी को सिद्ध करते हैं।

**पू०प०—प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्॥ ३०॥**

प०क्र०—(अविभागात्) गो शब्द को लोक और वेद में एक सा ही होने से, (अर्थैकत्वम्) उसका व्यक्तित्व रूप से एक ही अर्थ भी है। क्योंकि (प्रयोगचोदनाभावात्) शब्द के द्वारा उस प्रकार की प्रेरणा होने से।

भा०—'व्रीहीनवहन्ति' धान कूटो, 'अश्वं नय' घोड़ा ले जा, 'गामानय' गौ लाओ-इन प्रेरक वाक्यों में धान का कूटना, घोड़ा ले जाना और गौ लाना आदि अर्थमात्र का बोध कराया है, न कि जाति का। जाति लाई, या ले जाई, अथवा कूटी आदि नहीं जा सकती। अत: गौ व्यक्ति का बोधक है न कि जाति का।

सं०—जाति के शब्दार्थ न होने में हेतु देते हैं।

**पू०प०—अद्रव्यशब्दत्वात्॥ ३१॥**

प०क्र०—(अद्रव्यशब्दत्वात्) यदि शब्द का अर्थ जाति मान लिया जावे, तो वह शब्द द्रव्याश्रित वस्तुओं का वाचक नहीं माना जा सकेगा।

भा०—जैसे-कोई कहे कि पाँच दीजिये, बीस दीजिये, तो इन वाक्यों में जो पाँच अथवा बीस आदि का देना है, वह जातिपक्ष में नहीं, किन्तु व्यक्तिपक्ष में ही संभव हो सकता है। क्योंकि जाति एक होने से पाँच आदि संख्या का आधार नहीं हो सकती।

पूर्वोक्त पक्ष में युक्ति देते हैं।

**पू०प०—अन्यदर्शनाच्च॥ ३२॥**

प०क्र०—(च) और (अन्यदर्शनात्) ग्रहण-क्रिया के साथ अन्य वस्तु का अन्वय देखा जाने से, शब्द का अर्थ जाति नहीं।

भा०—जैसे-कोई कहे कि यदि युद्ध में एक अश्व मर जावे, तो तुरन्त

दूसरा ले लेवे। यहाँ अश्व का मरना और अन्य अश्व का ग्रहण, जातिपक्ष में नहीं घट सकता। क्योंकि जाति में मरण और ग्रहण दोनों असंभव हैं। अतः व्यक्ति ही शब्द का अर्थ है जाति नहीं।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्॥ ३३॥**

प०क्र०—(तु) शब्द का पूर्वपक्ष के हटाने के निमित्त प्रयोग किया है। (आकृतिः) शब्द का अर्थ जाति है, न कि व्यक्ति। क्योंकि (क्रियार्थत्वात्) शिष्ट गुरुजनों के व्यवहार में आने से, जातिरूप अर्थ में ही शब्द की शक्ति का ग्रहण है।

भा०—बड़े बूढ़ों को बोलते हुए देख, उनसे जैसा बालक सुनता है, उसी प्रकार ही वह शब्द की शक्ति को ग्रहण करता है। यह शक्तिग्रहण जाति में ही होता है, जैसे-जिसने गोत्व जाति का जान कर लिया, तो वह गो व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न होते हुए भी संसार की समस्त गौओं को जान लेता है, चाहे वह छोटी हों, बड़ी हों, लाल हों, काली हों, देखी हों, न देखी हों। जिस व्यक्ति में उसने गोत्व रूप शक्ति का ग्रहण किया है, उससे भिन्न गो व्यक्ति को देखकर उसे सन्देह होगा ही नहीं, क्योंकि उसने गोत्वजाति का ज्ञान कर लिया है, और वह जाति वहाँ विद्यमान है।

सं०—पुनः सन्देह किया जाता है।

**पू०प०—न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरे विधानं न द्रव्यमिति चेत्॥ ३४॥**

प०क्र०—(क्रिया) जातिपक्ष में यह दोष है कि जाति को निराकार होने से 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यादि धानकुट्टनादि किया (न स्यात्) नहीं होगी। और (अर्थान्तरे) अन्य द्रव्य के स्थान में (विधानम्) अन्यद्रव्य के ग्रहण का विधान तथा (द्रव्यम्) षड् देयाः, द्वादश देया इत्यादि द्रव्याश्रय संख्यादिरूपव्यवहार आदि भी (न) नहीं हो सकेगा। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो, तो ठीक नहीं।

भा०—तेतीसवें सूत्र के भाष्य में बतलाया जा चुका है, कि यदि व्यक्ति में शक्तिग्रह माना जावे, तो जिस व्यक्ति में उसको शक्तिग्रह हुआ है, उससे अन्य में शक्तिग्रह न होने से, उसे अवश्यमेव सन्देह होता, क्योंकि शक्तियाँ अनन्त हैं, और एक व्यक्ति दूसरे से भिन्न है। पर ऐसा होता है नहीं। अतः जाति ही शब्दार्थ है व्यक्ति नहीं।

सं०—इन शङ्काओं का समाधान करते हैं।

**उ०प०—तदर्थत्वात्प्रयोगस्याविभागः ॥ ३५ ॥**

प०क्र०—'व्रीहीनवहन्ति' इत्यादि में (प्रयोगस्य) व्रीह्यादि पदों का प्रयोग लक्षणावृत्ति द्वारा उपस्थित (तदर्थत्वात्) व्रीह्यादि (चावल आदि) रूप अर्थ के लिए है। क्योंकि जाति से अर्थ का (अविभागः) विभाग हो नहीं सकता। अतः कोई दोष नहीं।

भा०—शब्द का अर्थ वह माना गया है, जिसका कि अन्य किसी प्रकार से लाभ न हो सके। व्यक्ति ऐसा पदार्थ नहीं, जो कि अन्य किसी भाँति न मिल सके। जातिग्रहण से वह स्वयं ग्रहण में आजावेगी, क्योंकि वह (व्यक्ति) जाति का आश्रय है। और विना आश्रय के जाति का ग्रहण नहीं हो सकता। अतः उसमें शक्ति का मानना व्यर्थ है। अर्थापत्ति से भी लाभ करने में बड़े दोष हैं। अतएव शब्द का मुख्यार्थ जाति है। और व्यक्ति बिना आक्षेप के ही जाति का आश्रय होने से उपस्थित हो जावेगी।

इति प्रथमाध्याये तृतीयः पादः समाप्तः।

## अथ प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादः प्रारभ्यते।

सं०—वेद स्वतः प्रमाण हैं, ब्राह्मण, कल्पसूत्र, स्मृति और शिष्टाचार वेदानुकूल होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण कहे गये हैं। अब ऐतरेय ब्राह्मण में निरूपित कर्म की संज्ञा का कथन करते हैं।

**पू०प०—उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात् सर्व तदर्थं स्यात् ॥ १ ॥**

प०क्र०—(समाम्नायैदमर्थ्यम्) वेद का विधेयार्थ में प्रामाण्य (उक्तम्) कहा गया है। (तस्मात्) अतः (सर्वम्) सब ब्राह्मणों में कहा हुआ उद्भिदादिपद (तदर्थम्) विधेयार्थ के लिये (स्यात्) है।

भा.—ज्योतिष्टोम यज्ञ में ऐसा पाठ आता है कि 'उद्भिदा यजेत' इत्यादि, इस में पूर्वपक्षी ने यह कहा है कि विधिवाक्य पूर्व विधान किये गये हैं। अतः प्रथम, वेद द्वारा विहित ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्भिदादिरूप गुणविशेष का विधान करते हैं, किसी अपूर्व याग का नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से वाक्यभेद हो जाता है, कि एक ही वाक्य प्रथम याग का और फिर उसके नाम का विधान करे, यह समीचीन नहीं। अतः ऐसे यागों में गुणविशेष का ही विधान मानना ठीक है, नाम का नहीं।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—अपि वा नामधेयं स्याद्यदुत्पत्तावपूर्वमविधायकत्वात्॥ २॥**

प०क्र०—(अपि वा) शब्द पूर्वपक्ष निवारणार्थ हैं। (उत्पत्तौ) सुनने पर (यत्) जो पद (अपूर्वम्) प्रथम किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त न हुआ हो वह (नामधेयम्) याग का नाम (स्यात्) है, (अविधायक-त्वात्) किसी गुणविशेष का विधायक अर्थात् बतलाने वाला नहीं।

भा०—'उद्भिदादि' पद किसी अन्य अर्थ के पर्याय में पहले प्रसिद्ध नहीं हुए। अतः उस वाक्य में किसी गुणभूतद्रव्य विशेष का वर्णन नहीं करते। किन्तु वेदविहित कर्मों की संज्ञा (नाम) हि बतलाते हैं। यदि ऐसा न माना जावे, तो प्रथम तो कर्म संज्ञा (नाम) का ही लाभ न होगा। दूसरे गुण का विधान अन्य स्थान पर मिलने से उसका मानना भी वृथा होगा। तीसरे गुण का विधान मानने से याग के साथ सामानाधिकरण्य करने के लिए उद्भिदादिपदों में मत्त्वर्थलक्षणा करनी पड़ेगी। क्योंकि यज धातु का अर्थ यागक्रिया है। अतः नाम का विधान ही मानना श्रेष्ठ है, गुणविशेष का नहीं। और यदि नाम का विधान माना जावेगा, तो वाक्यभेद दोष आवेगा, जो ठीक नहीं है।* क्योंकि उद्भिद्पद यौगिक है, और स्वयं कर्म का वाचक है। अतः उसके विधान की आवश्यकता नहीं।

सं०—चित्रादि शब्दों से याग का नाम निरूपण करते हैं।

**यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्धः॥ ३॥**

प०क्र०—(यस्मिन्) जिस पद में (गुणोपदेशः) रूढ होने पर भी गुणोपदेश मिले, उसका (प्रधानतः) यज धातुरूप प्रकृति के साथ (अभिसम्बन्धः) नाम (याग का नाम) होकर सम्बन्ध होना योग्य है।

भा०—'चित्रया यजेत पशुकामः' इस ब्राह्मणवाक्य में संदेह होता है कि 'चित्रा' इस नामविधि के कारण पशुकामना वाला पुरुष चित्रानामक

---

* ज्योतिष्टोम यज्ञ में यह बातें हैं जो करनी पड़ती हैं। 'उद्भिद्' नामक क्रिया में पशुप्रदर्शिनी होती थी। 'बलभित्' नामक क्रिया में निरीक्षण द्वारा सेना के यथाक्रम विभाग का प्रदर्शन होता था। 'अभिजित् नामक क्रिया में शत्रु को सन्मुख युद्ध में जीतकर उत्सव क्रिया होती थी।' 'विश्वजित्' नामक क्रिया में सब माडलीकों पर विजय प्राप्त कर जो उत्सव होता था, वह विश्वजित् यज्ञ भाग कहलाता था।

याग करे यह अर्थ है। अथवा इस में गुणविधि है, कि चित्ररूपवाले किसी द्रव्यविशेष से याग करे! इस संदेह का निवारण इस प्रकार है, कि यद्यपि चित्रा शब्द उद्भिद् शब्द के समान यौगिक है, परन्तु किसी विभिन्नरूपवाले किसी एक पदार्थ में रूढ है, तब भी वह उद्भित् के समान याग है। चित्रा याग दही, मधु, घी और जल, अक्षतादि अनेक पदार्थयुक्त होता है, परन्तु गुणविधि मानने से 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' अर्थात् प्रकाश और सरल गुणमय परमात्मा के उद्देश्य से पशु का उत्सर्ग (त्याग करे*)

सं०—अग्निहोत्रादि शब्द कर्म के नाम हैं, यह निरूपण करते हैं।

**सि०प०—तत्प्रख्यञ्चान्यशास्त्रम्॥ ४॥**

प०क्र०—(च) और (तत्प्रख्यम्) जिस वाक्य में सुने हुये गुण का बतलानेवाला (अन्यशास्त्रम्) अन्य वाक्य विद्यमान है, उस में नामविधि होती है।

भा०—ब्राह्मणग्रन्थों में 'अग्निहोत्रं जुहोति' यहाँ पर यह जानना आवश्यक है, कि 'अग्निहोत्र' किसी याग का नाम है या गुणादि का। इस सन्देह का समाधान यह है, कि 'अग्निर्ज्योतिः' इत्यादि से सायं जुहोति, और 'सूर्यो ज्योतिः' से प्रातः जुहोति-इन वाक्यों में अग्निरूप गुण का विधान पाया जाता है। परन्तु किसी से विधि नहीं प्राप्त है। अतः यह नामविधि ही कही जावेगी। यदि यह कहो कि जिस कर्म में अग्नि में होम होता है वह अग्निहोत्र है इत्यादि, तो इससे भी नाम ही लब्ध होता है, गुण नहीं। अतः वहाँ नाम की विधि है न कि गुण का विधान। उसी प्रकार

---

* पृष्ठयाग में जब राजा युद्ध को चला जाता था तो पीछे से यह माध्यंदिन में गान विशेष होता था

'अभित्वा शूर नोनुमः' कया नश्चित्रा आभुवत्, तं वो दस्ममृतिषहम् 'तरोभिर्वो विदद्वसुम्' यह यथाक्रम रथन्तर, वामदेव्य, नौधस और कालेय साम कहलाते थे।

वहिष्पवमान यागक्रिया में धर्मयुद्धसंकल्प से प्रातः राजभवन से बाहर निकला राजा तीन ऋचा वाले तीन सूक्तों का गायत्र-साम द्वारा गानरूप कर्म करता था।

इसी प्रकार 'आजि' अर्थात् युद्ध में जाते राजा लोग 'अग्न आयाहि वीतये', 'आ नो मित्रावरुणा', 'आयाहि सुषुमा हि ते', 'इद्राग्नि आगतं सुतम्' इन गायत्र साम गानों से 'आज्य याग' करते थे।

'आधार' याग कर्म में भी नाम ही जानना चाहिये।[१]

संo—'श्येन' शब्द भी याग का नाम है, उसे कहते हैं।

**सि०प०—तद्व्यपदेशं च॥५॥**

प०क्र०—(च) तथा (तद् व्यपदेशम्) जिन वाक्यों में प्रसिद्ध पदार्थ के साथ उपमान उपमेय भाव से निरूपण पाया जावे, उसे नामविधि कहते हैं।

भा०—जिन स्थलों पर श्येन, सन्देश तथा गोयाग के नाम आये हैं, वहाँ गुणविधान है अथवा नाम-ऐसा संदेह होने पर उत्तर दिया गया है, कि यद्यपि जातिवाची श्येन आदि शब्दों से याग का निरूपण किया गया है, परन्तु वह उस याग में श्येन आदि रूप गुणविधान के प्रयोजन से नहीं, किन्तु उपमा के प्रयोजन से है। जैसे श्येनः (वाज) अपने शत्रु को पकड़ लेता है, अथवा सन्दंश (संडासी) बटलोई आदि को पकड़ती है, और गाय दूध से यजमान की रक्षा करती है इत्यादि, यहाँ पर श्येनसदृशवाला भाव है। अतः नामविधि ही मानना चाहिए न कि गुणविधि।[२]

सं०—वाजपेय शब्द भी याग का ही नामधेय है।

**पू०प०—नामधेये गुणश्रुतेः स्याद्विधानमिति चेत्॥६॥**

प०क्र०—(नामधेये) नाम में (गुणश्रुतेः) गुण के सुने जाने के कारण (विधानम्) वाजपेय शब्द से गुणविधान (स्यात्) है, (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे।

भा०—'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत'—ऐसे स्थलों में वाजपेय याग का नाम है अथवा यह गुणविधान है-ऐसा संदेह होने पर पूर्वपक्षी का यह भाव है, कि पान करने योग्य अन्न रस को वाज कहते हैं।[३] इस कारण वाजपेय संज्ञा में ही द्रव्यरूप गुण की प्रतीति हो रही है। अतः वहाँ गुण का विधान होने से गुणविधि है, न कि नामविधि है।

सं०—अब इसका समाधान करते हैं।

---

१. आधार याग में नैर्ऋती दिशा से लेकर ऐशानी दिशा पर्यन्त निरन्तर यज्ञकुण्ड में घी पड़ता है, वह कर्म आघार कहलाता है।

२. यह स्थल है, श्येनेन अभिचरन् यजेत, सन्दंशेन अभिचरन्, गवा अभिचर्यमाणो यजेत। यहाँ नाम है, गुणविधि नहीं।

३. वाजस्य अन्नस्य पेयो रसो वाजपयः=इस पद के श्रवण से गुण की प्रतीति होती है। अतः नाम का विधान नहीं, यह भाव है।

**उ०प०—तुल्यत्वात् क्रिययोर्न॥ ७॥**

प०क्र०—(न) यह गुणविधि नहीं, क्योंकि गुणविधि स्वीकार करने से (क्रिययो:) वाजपेय यज्ञ और दर्शपूर्णमास यह दोनों यज्ञ-क्रियायें (तुल्यत्वात्) परस्पर समान हो जाती हैं।

भा०—वाजपेय याग में गुणविधि मानने से दर्शपूर्णमास की विधि में अन्तर नहीं रहता। दर्शपूर्णमासयाग में भी तो वही गुण अर्थात् वाजपेय जैसे अन्नमयद्रव्यरूपी गुण की विधि है। अत: गुण की सदृशता से दर्शपूर्णमास प्रकृतियाग और वाजपेय विकृतियाग हो जावेगा, और अतिदेश स्वीकार करना होगा। परन्तु ऐसा माना नहीं जा सकता, क्योंकि वाजपेय याग सत्रह 'दीक्षा' और सत्रह ही 'उपसत्' वाला होता है। परन्तु दर्शपूर्णमास में यह नहीं होते। ज्योतिष्टोम याग का विकृति रूप वाजपेय याग है।*

सं०—इसमें हेतु देते है।

**उ०प०—ऐकशब्द्ये परार्थवत्॥ ८॥**

प०क्र०—(ऐकशब्द्ये) एक ही वाक्य में (यदि एक ही वाक्य से गुणविधान पदार्थवत्) गुणरूप दूसरे अर्थ का विधान मानने से वाक्यभेदरूप दोष आता है। यदि याग का अभिधान कर लिया जावे तो 'वाजपेयेन यजेत' और 'स्वाराज्यकामो यजेत' इसमें कर्मत्व और करणत्व रूप सम्बन्ध मानना पड़ेगा, जो ठीक नहीं, क्योंकि एक ही पद का अलग-अलग अर्थ होने से दोनों के साथ सम्बन्ध मानने से वाक्यभेदरूप दोष होता है। अत: 'वाजपेयेन इसको नामविधि ही मानना चाहिये, गुणविधि नहीं।'

सं०—आग्नेय आदि शब्दों को गुणविशिष्टयागविधानकर्त्ता बतलाते हैं।

**तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद्विधानार्थे न चेदन्येन शिष्टा:॥ ९॥**

प०क्र०—(तु) शब्द का नामविधि के लिये प्रयोग हुआ है। (तद्गुणा:) 'आग्नेय' इत्यादि शब्द कर्मयुक्त गुणों का (विधीयेरन्) विधान करते हैं, न कि केवल कर्म का। क्योंकि (विधानार्थे) कर्मविधायक आग्नेय आदि शब्दों में (अविभागात्) कर्म और अग्नि आदि गुणों में अन्तर नहीं, और यह गुण (अन्येन) किसी दूसरे वाक्य में (शिष्टा:) उपलब्ध (न

* प्रकृति योग उसे कहते हैं कि जिसमें सम्पूर्ण अङ्ग प्रत्यङ्गों का विधान पाया जावे। इससे उलटे को विकृति कहते हैं तथा दीक्षा के दिन के पश्चात् 'सोम अभिषव' दिन से पहले जो हवन किये जाते हैं, उसका नाम 'उपसत्' है।

चेत्) नहीं है।

भा०—जैसे दर्शपूर्णमास अधिकरण में कहा जाता है, कि 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति' इसमें आग्नेय-शब्द अग्निहोत्र शब्द के समान कर्म का नाम है अथवा गुण सहित कर्म का विधान करता है-ऐसा संदेह होने पर पूर्वपक्षी कहता है, कि यदि यह केवल नामविधि मानी जावे, तो लाघव होगा। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ कोई अन्य वाक्य गुण का विधान करता है, वहाँ ही वह नामविधि मानी जाती है, यह नियम है। जैसे कि 'अग्निर्ज्योतिः' इत्यादि में, न कि सर्वत्र।

'आग्नेयोऽष्टाकपालः' में अग्नि गुण का विधान करने वाला अन्य कोई वाक्य न होने से, वहाँ गुणसहितकर्म के विधान करने वाले ही आग्नेय आदि शब्द हैं, ऐसा ही मानना चाहिये।

सं०—बर्हिः शब्द जातिवाचक है, इसका प्रतिपादन करते हैं।

**सि०प०—बर्हिराज्ययोरसंस्कारे शब्द-**
**लाभादतच्छब्दः ॥ १० ॥**

प०क्र०—(बर्हिराज्ययोः) बर्हि और आज्य शब्द का (असंस्कारे) कहीं-कहीं संस्कारहीन वस्तु में (शब्दलाभात्) प्रयोग मिलने से प्रतीत होता है कि (अतच्छब्दः) (बर्हिराज्य शब्द) संस्कृत (शुद्ध) बर्हि तथा संस्कृत (शुद्ध) आज्य (घी) के वाचक नहीं, किन्तु बर्हिमात्र और आज्यमात्र के वाची हैं। अर्थात् जातिवाची हैं।

भा०—दर्शपूर्णमास में कहा है कि 'बर्हिर्लुनाति' (कुशा काटे), 'आज्यं विलापयति' (घृत तपावे), 'पुरोडाशं पर्य्यग्नि करोति' (पुरोडाश के चारों ओर अग्नि फेरे)-यहाँ बर्हि शब्द, यूप (खम्भा) शब्द और आहवनीय शब्द संस्कारवाची हैं, अथवा जातिवाची हैं। ऐसी शङ्का होने पर पूर्वपक्षी कहता है कि बर्हि शब्द से तृणविशेष और आज्य शब्द से घृतविशेष इसी प्रकार पुरोडाश शब्द से हव्यविशेष का बोध होता है। अतः यूप और आहवनीय शब्द की भांति संस्कारवाची है। क्योंकि यूप शब्द स्तम्भमात्र और 'आहवनीय'-शब्द अग्निमात्र का वाची नहीं, अतएव मंत्रों में स्पष्टतया स्तम्भविशेष और अग्निविशेष का वाची माना है। परन्तु बर्हिः आदि पूर्वोक्त शब्द अन्वयव्यतिरेक के द्वारा जातिवाचक हो सकते हैं। इनको संस्कारवाची मानने से दोष भी है। अतः बर्हिः आदि शब्द जातिवाचक हैं, संस्कार वाचक नहीं।

सं०—प्रोक्षिणी शब्द यौगिक है, इसका प्रतिपादन करते हैं।

**सि०प०—प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात्॥ ११॥**

प०क्र०—(प्रोक्षणीषु) जिनके द्वारा प्रोक्षण हो, उन जलों में ही प्रोक्षणी शब्द का प्रयोग मानना चाहिये, क्योंकि (अर्थसंगोगात्) अवयवार्थ के सम्बन्ध से प्रोक्षिणी शब्द का अर्थ जल ही है।

भा०—दर्शपूर्णमासयागविषयक 'प्रोक्षिणीरासादय' इस वाक्य में प्रोक्षिणी शब्द जलवाची है, अथवा जातिवाची, अर्थात् जलमात्र का ज्ञापक है अथवा यौगिक प्रोक्षण के साधनमात्र का वाची है। यद्यपि लौकिक और वैदिक व्यवहारों में प्रोक्षिणी शब्द का अर्थ जल ही है। परन्तु उक्त-वाक्य में प्रोक्षिणी शब्द यौगिक अर्थात् प्रोक्षण के साधनमात्र का द्योतक है, संस्कार तथा जातिवाची नहीं। क्योंकि संस्कारवाची मानने से अन्योन्याश्रय दोष भी आता है। जातिवाची कहीं देखा नहीं गया। तथा यौगिक मानने से दोनों दोषों का परिहार हो जाता है। अतः प्रोक्षिणी शब्द यौगिक है, संस्कार और जातिवाची नहीं। अतएव प्रोक्षणक्रिया के साधनभूत घृत तथा जल, दोनों पदार्थों का प्रोक्षणशब्द से ग्रहण हो जाता है।



सं०—निर्मन्थ्य शब्द भी यौगिक ही है।

**सि०प०—तथा निर्मन्थ्ये॥ १२॥**

प०क्र०—(तथा) जिस प्रकार प्रोक्षिणी शब्द 'प्रोक्षिणीरासादय' (तै० ब्रा० ३-२-७) वाक्य में यौगिक है, उसी प्रकार (निर्मन्थ्ये) 'निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्ति' इस वाक्य में 'निर्मन्थ्य' शब्द भी यौगिक है।

भा०—अग्निचयन प्रकरण में 'निर्मन्थ्य' शब्द संस्कारवाची है अथवा जातिवाची अथवा यौगिक—इस सन्देह में यह निर्णय है, कि अग्निचयनकर्मप्रकरण में पढ़े जाने से वह शुद्ध अग्नि (संस्कारवाची) और उससे उपपन्न अग्निमात्र का वाचक (जातिवाची) हो सकता है, परन्तु यहाँ यौगिक ही है। संस्कारवाची मानने से 'चिरमथित अथवा, अचिरनिर्मथित का निश्चय नहीं हो सकता। और कोई निश्चायक प्रमाण न होने से जातिवाचक मानना भी ठीक नहीं। अतः चयनकाल में निर्मन्थन करके उखापात्र में स्थापित तत्काल समुद्भूत अग्नि का ही ग्रहण करना

---

सूचना—(१) माधवाचार्यप्रणीत जैमिनीयन्याययालायाम् (रूढिर्योगो योगरूढिर्वा) इत्येवं पक्षत्रयमुद्भाव्य योगरूढिपक्ष एव निर्मन्थे व्यवस्थापित इति देव आचार्यः।

चाहिये, जो कि निर्मन्थ्य शब्द का यौगिक अर्थ भी है।*

सं०—वैश्वदेव आदि शब्द भी यागवाची हैं उसको कहते हैं।

**पू०प०—वैश्वदेवे विकल्प इति चेत्॥ १३॥**

प०क्र०—'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति' इत्यादि वाक्यों में आये हुये देवतारूपगुण के साथ (वैश्वदेवे) अर्थात् 'वैश्वदेवेन यजेत' इस वाक्य में सुने गये वैश्वदेव देवतारूपगुण का (विकल्पः) विकल्प है। (चेत्) यदि (इति) ऐसा माना जाय।

भा०—चातुर्मास यज्ञ के चार पर्व (वैश्वदेवः, वरुणप्रघासः; साकमेधः; सुनासीरीयः-ये हैं। इनमें प्रथम पर्व में** आठ प्रकार के यज्ञ कहे गये हैं। इन पूर्वोक्त यज्ञों के समीप जो 'वैश्वदेवेन यजेत' यह पढ़ा गया है, वह गुणविधि है, नामविधि नहीं। क्योंकि यहाँ 'यजेत' यह पद आठों योगों का अनुवाद करके उनमें वैश्वदेव देवतारूपगुण का विधान करता है। प्रकरण में ऐसा ही पाठ है। यदि कहो कि केवल एक को छोड़कर उन सातों में अन्य अन्य देवताओं का विधान पहिले से ही है। अतः देवतारूपगुणविधान की कोई आवश्यकता नहीं। इस पर पूर्वपक्षी कहता है, कि ऐसी अवस्था में अन्य कोई उपाय न होने से उन सातों देवताओं के साथ वैश्वदेव देवता का विकल्प ही समझना चाहिये।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

**उ०प०—न वा प्रकरणात्प्रत्यक्षविधानाच्च न हि प्रकरणं द्रव्यस्य॥ १४॥**

प०क्र०—(न वा) उपर्युक्त कथन ठीक नहीं। (प्रकरणात्) क्योंकि

---

* अग्नियों के कई प्रकार हैं जैसे—

(१) दो अरणियों को परस्पर रगड़ने से उद्भूत् अग्नि मथित अग्नि, और (२) आधानकाल में मन्थन करके गार्हपत्य के स्थान में स्थापित अग्नि 'चिरमथित' अग्नि। (३) चयनकाल में मथन करके उखानामक पात्र में स्थापित की हुई अग्नि अचिरमथित। (४) और तुरन्त लौकिक मन्थन से अग्नि का नाम अचिरनिमथित अग्नि कहा जाता है।

** अष्ट याग यह हैं।

(१) आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति। (२) सौम्यं चरुम्। (३) सावित्रं द्वादशकपालम्। (४) सारस्वतं चरुम्। (५) पौष्णं चरुम्। (६) मारुतं सप्तकपालम्। (७) वैश्वदेवीमामिक्षाम्। (८) द्यावापृथिव्यमेककपालम्।

वहाँ अग्नि आदि देवता का प्रकरण है। (च) और (प्रत्यक्षविधानात्) साक्षात् तद्धित श्रुति के द्वारा उनका प्रत्यक्षतया विधान भी है। अर्थात् उत्पत्तिशिष्ट अग्न्यादि देवता हैं, और उत्पन्नशिष्ट वैश्वदेव (विश्वेदेवा) देवता हैं। (द्रव्यस्य) तीसरी बात यह है कि वहाँ द्रव्य गुण आदि के विधान का (प्रकरणम्) प्रकरण भी (न,हि) नहीं है। अतः विकल्प सिद्ध नहीं हो सकता है।

भा०—अग्न्यादि पूर्वोक्त सातों देवता तथा (आग्नेयमष्टाकपालमित्यादि) में पुरोडाश आदि गुण पहले विद्यमान होने के कारण अन्तरङ्ग हैं, और (वैश्वदेवेन यजेत) इस वाक्य में विधान किया गया वैश्वदेव देवता एवं द्रव्यरूपगुण पश्चात् होने के कारण बहिरङ्ग द्वारा अन्तरङ्ग का पाक्षिकबाध मानकर विकल्प मानना ठीक नहीं। क्योंकि निर्बल प्रबल का बाधक नहीं हो सकता। विकल्प वहीं होता है, जहाँ समान बल हो। अतः 'वैश्वदेवेन यजेत' में गुणविधि नहीं, किन्तु नामविधि है। अर्थात् पूर्वनिर्दिष्ट आठ यागों का नाम वैश्वदेव है। अतः आवश्यकता पड़ने पर वैश्वदेव शब्द से आठों यागों की उपस्थिति हुआ करेगी।

सं०—गुणविधि मानने में और भी दोष हैं।

**उ०प०—मिथश्चानर्थसम्बन्धः ॥ १५ ॥**

प०क्र०—(च) और (मिथः) परस्पर (दोनों का) (अनर्थ सम्बन्धः) अर्थसम्बन्ध भी नहीं हो सकता।

भा०—उत्पत्तिवाक्य (आग्नेयमष्टाकपालमित्यादि) द्वारा उपलब्ध होने से अग्नि आदि गुण पूर्व ही विद्यमान हैं, अतः उनका याग के साथ योग हो जाने पर, प्रकरण द्वारा जाने हुए 'विश्वदेवरूपगुण' का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। क्योंकि अग्नि आदि गुणों का सम्बन्ध हो जाने के कारण याग आकाङ्क्षारहित हो जाता है। आकाङ्क्षा विरहित होने से विश्वदेवा देवता से सम्बन्ध नहीं होता, सम्बन्ध न होने से गुणविधि मानना निष्प्रयोजन है। अतः 'वैश्वदेवेन यजेत' यह गुणविधि नहीं किन्तु पूर्वोक्त आठों यागों के समुच्चय (समुदाय) का 'वैश्वदेव' नाम विधान करने के कारण नामविधि है।

पू०प०सं०—याग की आवृत्ति कर लेने से दोनों देवताओं के साथ याग का सम्बन्ध बन सकता है, फिर असम्बन्ध कैसा।

**उ०प०—परार्थत्वाद् गुणानाम्॥ १६ ॥**

प०क्र०—(गुणानाम्) गुणों के (परार्थत्वात्) परार्थ अर्थात् अप्रधान

होने से कर्म (याग) की आवृत्ति नहीं हो सकती।

भा०—प्रधान के अनुसार गुणों की आवृत्ति होती है, न कि गुणों के अनुसार प्रधान की। यहाँ याग प्रधान है, और अग्नि विश्वदेव आदि याग के अङ्ग होने से अप्रधान, इसी कारण यह गुण भी कहे जाते हैं। क्योंकि गौण, प्रधान नहीं हो सकता। अतः उपर्युक्त नियमानुसार प्रधान होने के कारण याग की आवृत्ति भी नहीं हो सकती। इस कारण यह (वैश्वदेवेन यजेत) नामविधि है, गुणविधि नहीं।

सं०—वैश्वानर यज्ञ में (अष्टाकपाल) आदि शब्द स्तुतिप्रतिपादक अर्थात् अर्थवाद हैं, यही यहाँ दिखलाया जाता है।

**पू०प०—पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये॥ १७॥**

प०क्र०—(पूर्ववन्तः) अग्नि-आदि गुण पूर्व होने के कारण (अवि-धानार्थाः) 'वैश्वदेवेन यजेत' इसमें विधि का विधान करने की सामर्थ्य नहीं रख सकते। परन्तु (समाम्नाये) अष्टाकपाल, नवकपाल आदि समाम्नाय (वैदिक) वाक्यों में (तत्सामर्थ्यम्) आठ आदि गुण विधान की सामर्थ्य है। क्योंकि वह पहिले न थे।

भा०—यहाँ प्रश्न होता है—कि काम्येष्टिकाण्ड में 'वैश्वानरं द्वादशक-पालं निर्वपेत् पुत्रे जाते' इस वाक्य के समीप में जो 'यदष्टाकपालो भवति' इत्यादि पढ़ा गया है, उसमें अष्टाकपाल शब्द से गुण का बोध होता है या नाम का, अथवा स्तुति का। पूर्वपक्षी कहता है कि द्वादश-संख्या में अष्ट-संख्या का अन्तर्भाव हो जाने के कारण 'अग्निहोत्र' शब्द की भांति 'अष्टाकपालादि शब्द भी कर्म के नाम हैं इत्यादि।'

दूसरा पूर्वपक्षी कहता है—कि द्वादशकपाल शब्द संख्यापरक नहीं, किन्तु 'द्वादशसु कपालेषु संस्कृतः' इस व्युत्पत्ति के कारण द्वादश कपाल शब्द पुरोडाश द्रव्यपरक है, इसी प्रकार अष्टाकपालादि शब्द भी पुरोडाशादि द्रव्यपरक ही हैं। जब ऐसा मान लिया तो एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अतः नाम का निमित्त न रहने के कारण 'अष्टाकपालादि' शब्द कर्म के नाम नहीं, अपि तु ब्रह्मवर्चसादि फल के निमित्त पुरोडाशद्रव्यरूपगुण के विधायक हैं। ऐसा मानने पर (उत्पत्तिशिष्टद्वादशकपाल पुरोडाश से अवरुद्ध हो जाने के कारण अष्टाकपालादि निरवकाश हो जावेंगे) ऐसा दोष जो कोई देते थे, वह भी

नहीं रहा। अतः यह गुणविधि है न कि अर्थवाद।*

सं०—इसका समाधान करते हैं।

**गुणस्य तु विधानार्थे तद्गुणाः प्रयोगे स्युरनर्थका न हि तं प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति॥ १८॥**

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्षनिवृत्ति के लिये प्रयुक्त किया है। (गुणस्य) बारह कपालरूप गुण के (विधानार्थे) विधान करनेवाले 'वैश्वानरम्' इस वचन के होते हुये भी (अतद्गुणाः) आठ कपाल आदि रूप गुणों का विधान नहीं हो सकता। और (प्रयोगे) याग की अन्तरविधि (रचनात्मकक्रिया) में अयोग्य होने से अर्थात् कोई उपयोग न होने से निष्फल हो जावेंगे, और बिना अर्थवाद माने हुये (तं प्रति) प्रकृतियाग के प्रति उनका सम्बन्ध एवं (अर्थवत्ता) प्रयोजन (न हि) नहीं हो सकता।

भा०—यद्यपि द्वादशकपाल की भाँति अष्टाकपाल भी पुरोडाशरूपद्रव्य का ही वाची है, परन्तु अष्टाकपालद्रव्यरूप गुण का इस याग के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि वह याग पूर्व ही द्वादशकपाल द्रव्यरूपगुण से रुका हुआ था। यदि अनेक गुणों की विधि मानें, तो वाक्यभेदरूप दोष आता है। जो कि सिद्धान्त के विरुद्ध है, वह ठीक नहीं। 'यस्मिञ्जात एताम्' इस उपसंहार से एक वाक्य की प्रतीति होने के कारण भिन्न-भिन्न वाक्य मानना ठीक नहीं। अतः बिना अर्थवाद माने इस याग से योग 'सम्बन्ध' भी ठीक नहीं बैठता। इस कारण द्वादश का स्तुतिकर्त्ता होने से अष्टाकपाल अर्थवाद है, अर्थात् अंश के द्वारा अंशी की स्तुति है। गुणविधि नहीं।

सं०—पुनः आशङ्का करते हैं।

**पू०प०—तच्छेषो नोपपद्यते॥ १९॥**

प०क्र०—(तच्छेषः) अष्टाकपाल, द्वादशकपाल का शेष (विशेषण)

---

* पुरोडाश चावल की या जौ की पिट्ठी में सुगन्धित द्रव्य के योग से चौकोर मोटी रोटी मिट्टी के कपाल पर पकाई जाती है, वह पुराडोश कहलाता है, लिखा है कि वह बड़ा स्वादिष्ट और विद्वानों को प्रिय होता था।

* काम्येष्टि यज्ञ में लिखा है कि पुत्रोत्पन्न होने पर जो इस याग को करता है, उसका पुत्र पवित्र, तेजस्वी, अन्नाद, सर्वेन्द्रियसहित पशुधन वाला होता है। विधि यह है—कि पुत्रोत्पन्न होने पर परमात्मा के निमित्त द्वादशकपाल प्रदान करे। जो अष्टकपाल निर्माण करे, तो 'गायत्री' से पुत्र को शुद्ध कराता है, नवकपाल से करे, तो 'नवमान स्तोत्र' से तेज धारण कराता है, द्वादशकपाल याग करे, तो वह 'जगती' से उसे पशुधन वाला करता है।

है, अर्थात् स्तुतिकर्त्ता है, यह (न) नहीं (उपपद्यते) सिद्ध हो सकता है।

भा०—अष्ट संख्या द्वादश के सामने छोटी है, इस कारण अष्टाकपाल को द्वादशकपाल का स्तुतिकर्त्ता कहना असङ्गत है।

सं०—इसका समाधान यह है।

**उ०प०—[१]अविभागाद्विधानार्थे स्तुत्यर्थेनोप-पद्येरन्॥ २०॥**

प०क्र०—(विधानार्थे) पूर्वोक्त द्वादश संख्या में (अविभागात्) अष्ट आदि संख्या का अन्तर्भाव होने से (स्तुत्यर्थेन) अष्टाकपालादि स्तवनरूप अर्थ के द्वारा ही (उपपद्येरन्) उपपन्न अर्थात् सम्बद्ध हो सकते हैं।

भा०—अष्ट आदि संख्या द्वादश के भीतर होने से उसका अंश है, और अंश द्वारा अंशी की स्तुति होना असम्भव नहीं। अत एव अष्टाकपाल आदि वाक्य अर्थवाद ही हैं, गुणविधिरूप नहीं।

सं०—उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं।

**पू०प०—कारणं स्यादिति चेत्॥ २१॥**

प०क्र०—(कारणम्) अष्टाकपाल आदि वाक्य पवित्रादि फल के कारण अर्थात् पवित्रताबोधक (स्यात्) है, (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहें तो ठीक नहीं।

भा०—द्वादशकपाल का स्तुतिकर्त्ता होने के कारण अष्टाकपाल आदि अर्थवाद नहीं हो सकते, किन्तु अतिशय पवित्रता आदि रूप फल के कारण हैं। और कारणता क्रिया का शेष अर्थात् गुण हुए बिना सम्भव नहीं। अत एव यह गुणविधि ही है, अर्थवाद नहीं कही जा सकती।

सं०—इसका यह समाधान है।

**उ०प०—आनर्थक्यादकारणं कर्तुर्हि कारणानि गुणार्थो हि विधीयते॥ २२॥**

प०क्र०—(अकारणम्) पूर्वोक्त अष्टाकपालादि पवित्रता आदि फल के मूल (बोधक) नहीं। (आनर्थक्यात्) अनर्थक होने से, अर्थात् उनका उस फल से कोई प्रयोजन नहीं। क्योंकि (कर्त्तुः, हि) निश्चय ही यज्ञकर्त्ता यजमान को (कारणानि) पवित्रादि फल प्राप्त होते हैं। सो उसका यहाँ

---

सूचना—(१) काशीस्थ चन्द्रप्रभाप्रेसमुद्रितमीमांसासूत्रपाठे—'आभास अविभागाद् विधानार्थः स्तुत्यर्थेनोपपद्येरन्' इति सूत्रपाठो दरीदृश्यते सोऽप्युपयुक्त एवेति देव आचार्यः।

विषय ही नहीं। यहाँ तो पुत्रोत्पत्तिनिमित्तक वैश्वानरेष्टिविषयक स्तवन का प्रकरण चल रहा है। अतः (गुणार्थो हि) निश्चय ही अष्टाकपालादि स्तुति-विधान करते हैं, न कि गुणविधि का।

भा०—यदि अष्टाकपालादि विभिन्न वाक्यों का विभिन्न अर्थ मान कर उनमें गुणविधि मानी जावे, तो अनेक इष्टियाँ माननी पड़ेंगी। और ऐसा मानने पर आरम्भ और अन्त की एकवाक्यता नष्ट हो जायगी, जो कि कदापि नष्ट नहीं होनी चाहिये। क्योंकि 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते' यहाँ से आरम्भ करके 'यस्मिन् जात एतामिष्टिं निर्वपति पूत एकः संभवति' पूर्वोक्त इष्टि के इस अन्तिम वाक्य तक एक ही इष्टि का उपसंहार किया गया है। यदि बीच में पढ़े गये अष्टकपाल आदि भी गुणविधिविधायक होते, तो उस प्रकार की एकवाक्यता होने पर विभिन्न अर्थ की कल्पना नहीं कर सकते। अतः यह गुणविधि नहीं, किन्तु अर्थवाद है।

सं०—'यजमान' प्रस्तरः यहाँ पर याग का साधक होने के कारण प्रस्तर शब्द की यजमानरूपेण जो स्तुति की गई है, उसी को दिखलाते हैं।

**सि०प०—तत्सिद्धिः ॥ २३ ॥**

प०क्र०—(तत्सिद्धिः) (प्रस्तर) कुशमुष्टि आदि से यजमान के सदृश कार्य की सिद्धि होती है।

भा०—'[१]यजमानः प्रस्तरः।' 'यजमान एककपाल*' इत्यादि

सूचना—(१) अष्टाकपालवाक्यस्थ अष्ट-संख्या-सादृश्य से प्रतिपादाष्टाक्षर गायत्री का स्मरण हो आता है। अर्थात् पिता पुत्रोत्पत्तिनिमित्तक वैश्ववानरेष्टि के समय गायत्री और ब्रह्मतेज के द्वारा अपने पुत्र को शुद्ध करता है अर्थात् पवित्र करता है, यह भाव वहां पर है। यही बात (तै०सं० २, २, ५, ३) में लिखी है। नवकपालादि में भी इसी प्रकार की कल्पना कर लेनी चाहिये।

* एक खप्पर में पकाया पुरोडाश एककपाल कहलाता है।

सूचना—(१) 'उत्तरं बर्हिषः प्रस्तरं सादयति' (तै०सं० २, ६, ५, ३। मै० सं० ३, ८, ६) इत्यस्य विधेः शेषोऽयम्। दर्शपूर्णमासयोरुपयोगार्थं लूनानां बर्हिषां यः प्रथमो मुष्टिः, स प्रस्तर इत्युच्यते। तानि मुष्टिपरिमितानि बर्हीषां वेद्यामास्तीर्य तदुपरि पुरोडाशाज्यादीनि हवींषि स्थाप्नीयानि। तत्र प्रथमतो लौकिकैः कुशैर्वेदिमास्तीर्य तदुपरि प्रस्तर आस्तरणीय इति विधिवाक्यार्थः।
अतो यजमानवद् यागसाधनत्वाददतिप्रशस्तः प्रस्तर इति तात्पर्यम्।
(२) जैमिनीयन्यायमालायान्तु यज्जमानः प्रस्तरोऽत्र गुणो वा नाम वा स्तुतिरित्येवं प्रकारेण पक्षत्रयं समुत्थाप्य स्तुतिपक्ष एव समर्थित इति देव आचार्यः।

अधिकरण वाक्यों में गुणविधि है, अथवा अर्थवाद। इस शङ्का का समाधान किया गया है-कि जैसे द्वादशकपाल का अष्टकपाल एक अवयव (भाग) है, उसी प्रकार (प्रस्तर) (कुशमुष्टिः) आदि का यजमान अवयव नहीं, किन्तु स्तुतिकर्त्ता है। अवयव ही स्तुतिकर्त्ता हो, अन्य न हो, यह नियम भी नहीं। क्योंकि गुणों के सादृश्य से अन्य भी अन्य का स्तुतिकर्त्ता होता है, जैसे 'सिंहो माणवकः' सिंहसदृश माणवक के गुण होने से माणवक का सिंह शब्द स्तुति कर्त्ता है। उसी प्रकार 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि में, यजमान के सदृश याग का उपकारक होने से, प्रस्तर शब्द की यजमान शब्द द्वारा स्तुति की गई है। अतः यहाँ अर्थवाद है, गुणविधि नहीं।

सं०—अग्नि आदि शब्द ब्राह्मण आदि के स्तुतिवाची हैं।

## सि०प०—जातिः॥ २४॥

प०क्र०—ब्राह्मणादि वर्णों को जो अग्नि आदि संज्ञा (नाम) से कहा गया है, उसका कारण (जातिः) उत्पत्तिरूप गुणविशेष ही है।

भा०—'आग्नेयो वै ब्राह्मणः' (तै० सं० २, ३, ३, ३; से 'ऐन्द्रो राजन्यः' 'वैश्यो वैश्वदेवः' (तां० ब्रा० १५, ५, ८) इन वाक्यों में अग्नि आदि शब्द अग्नि आदि गुण के बतलाने वाले हैं, अथवा अर्थवाद, अर्थात् ब्राह्मण आदि के स्तुतिवाची हैं। यहाँ अर्थवाद मानने से यद्यपि वाक्य व्यर्थ हो जाता है, फिर भी गुणविधि मानना सङ्गत नहीं। क्योंकि अग्नि आदि स्वतन्त्र पदार्थ होने से ब्राह्मण आदि के गुण नहीं हो सकते। अतः जैसे (सिंहोऽयं माणवकः) अर्थात् यह माणवक सिंह है, यहाँ सिंह के क्रूरता-शूरतादि गुणविशेषों की सदृशता से माणवक को सिंह कहा है। उसी प्रकार उद्भूत-प्रकाशादि गुणविशेष की समानता से ब्राह्मण आदि को अग्नि कहा गया है। इसी प्रकार क्षत्रिय, इन्द्र और वैश्य को वैश्वदेव कहा है, अर्थात् उन गुणों के कारण ब्राह्मणादि की अग्नि आदि नाम से प्रशंसा की है। अतः यहाँ भी अर्थवाद है, गुणविधि नहीं हो सकती।

सारूप्याधिकरणम्॥ १५॥

सं०—यजमान आदि शब्दों द्वारा यूप की स्तुति की गई है, उसका निरूपण करते हैं।

## सि०प०—सारूप्यात्॥ २५॥

प०क्र०—(सारूप्यात्) तेजस्विता और ऊँचाई रूप सादृश्य के कारण यूप को आदित्य और यजमान कहा गया है।

भा०—जैसे '[१]यजमानो यूपः' 'आदित्यो यूपः' यहाँ यजमान और 'यूप' में लम्बाई तथा घृत से चुपड़े हुए यूप और सूर्य में तेज की समानता कही है। इन्हीं सादृश्यों से यूप को यजमान और आदित्य कहा गया है। अतः दोनों ही स्तुतिरूप अर्थवाद हैं।

प्रशंसाधिकरणम्॥ १६॥

सं०—अब अपशु आदि शब्द गौ आदि की प्रशंसा के लिए प्रयुक्त किये गये हैं।

## सि०प०—प्रशंसा॥ २६॥

प०क्र०—(प्रशंसा) गौ और घोड़ा को छोड़कर अज (छाग) आदि सब अपशु हैं। यहाँ गौ और अश्व की स्तुति अर्थात् प्रशंसा की गई है।

भा०—'अप्रशवो वा अन्ये गो अश्वमेभ्यः, पशवो गो अश्वाः' 'अयज्ञो वा एष योऽसामा'। 'असत्रं वा एतत् यदच्छन्दोमम्' इत्यादि वाक्यों में भी संदेह होता है, कि ये विधि-वाक्य हैं, अथवा अर्थवाद वाक्य हैं। यद्यपि विधि मानने से यह सब वाक्य सार्थक हो जाते हैं, तथापि ऐसा करना ठीक नहीं। क्योंकि विधि होने से गौ, अश्व ही पशु संज्ञक होते हैं, (अजा) बकरी आदि नहीं। इसी प्रकार सामवाला ही यज्ञ और छन्दोमवाला ही सत्र कहलाता है, अन्य नहीं। यह प्रतीति होगी, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अजादि भी पशु हैं, और साम अथवा छन्दोम रहित भी यज्ञ होते हैं। अतः यह अर्थवाद है, कि गौ अश्व, अजादि से उत्तम पशु हैं। और इसी प्रकार साम और छन्दोम रहित यज्ञ और सत्र की अपेक्षा साम और छन्दोम सहित यज्ञ और सत्र अति उत्तम होते हैं। इस प्रकार यहाँ केवल स्तुति की गई है। अतः ये विधिवाक्य नहीं कहे जा सकते।

भूमाधिकरणम्॥ १८॥

सं०—जिन मन्त्रों में सृष्टि शब्द नहीं, सृष्टि शब्द के बाहुल्य के

---

सूचना—(१) का० सं० २६-६। (२) तै०सं० ५-२-९-४। (३) तै०सं० १-५-७-१। (४) तै०सं० ७-४-२-३। इति (जै०न्या०टि०) देव आचार्यः।

सूचना—(१) तै०सं० ५-३-४-७। इति (जै० न्या०टि०) इति देव आचार्यः।

* उपधान रचना का नाम है।

सूचना—(१) यात्-इति मीमांसासूत्रपाठे (च०प्र०प्रे० काशी), 'यः' इति तन्त्रवार्तिकशा० भाष्योपेतमीमांसादर्शने पाठ इति देव आचार्यः।

कारण उन मन्त्रों का भी सृष्टि शब्द से ग्रहण होता है।

## सि०प०—भूमा ॥ २७ ॥

प०क्र०—(भूमा) सृष्टिलिङ्गवाले मन्त्रों का भूयस्त्व होने से सृष्टिलिङ्गरहितों का भी ग्रहण हो जाता है।

भा०—''सृष्टीरुपदधाति'' वाक्य में सृष्टि शब्द सृष्टि तथा असृष्टि दोनों के लिये प्रयुक्त हुआ है और वहाँ अग्नि-चयन कर्म का प्रकरण चल रहा है। इनमें सृष्टिशब्दवाले मन्त्रों का इष्टिका (ईंट) के उपधान में गुणरूप से विधान पाया जाता है, अथवा उनका अनुवाद करके सृष्टि असृष्टि दोनों शब्दवाले मन्त्रों से इष्टका के उपधान का विधान है। यहाँ यद्यपि सृष्टि के साथ 'उपदधाति' क्रिया का योग होने से सृष्टिशब्द वाले मन्त्रों का उपधान में गुणरूप से विधान होना योग्य है, परन्तु यह असङ्गत है। क्योंकि अग्निचयन कर्म के प्रकरण में पढ़े जाने से वह मन्त्र स्वयं आ गया है। इस कारण उसका विधान नहीं किया जा सकता। अतः मन्त्रानुवाद पूर्वक इष्टका के उपधान का विधान मानना ही ठीक है। अर्थात् अर्थवाद है।

### १८-(लिङ्गसमवायाधिकरणम्)

सं०—'प्राणभृत्' शब्द लक्षणावृत्ति द्वारा प्राणवाले तथा (अप्राणभृत्) बिना प्राणवाले इन सब मन्त्रों का अनुवादक है, इसका निरूपण करते हैं।

## सि०प०—लिङ्गसमवायात्[१] ॥ २८ ॥

प०क्र०—''लिङ्गसमावायात्'' लिङ्ग के कारण प्राणभृत्* मन्त्र से प्राणभृत् अप्राणभृत् उभय का ग्रहण होता है।

भा०—जैसे ''[२]प्राणभृत उपदधाति'' में प्राणभृत शब्द प्रमाण एवं अप्राणभृत् दोनों प्रकार के मन्त्रों का अनुवादक है। यहाँ पर शङ्का होती है-कि प्राणशब्दवाले मन्त्रों के उपधान में गुणरूप विधान है, अथवा लक्षणावृत्ति द्वारा प्राणभृत तथा अप्राणभृत् दोनों के मन्त्रों का अनुवाद करके इष्टका के उपाधान की विधि है। इसका उत्तर देते हैं-कि यद्यपि प्राणभृत् शब्द का उपदधाति क्रिया से योग होने के कारण प्राणशब्द वाले मन्त्रों की उपधान क्रिया में गुणरूप से विधि माननी चाहिये, और अनुवाद नहीं मानना चाहिये, क्योंकि यदि अनुवाद मानें, तो लक्षणा माननी पड़ेगी। फिर भी गुणरूप से

१. सूचना—(१) तै०ब्रा० ३-१२-५। (जै० न्या०टि०) इति देव आचार्यः।
२. तै०सं० ५-२-१०।५-३-१-२। (जै० न्या०टि०) इति देव आचार्यः।
३. जिन ईंटों की प्राणशब्दोपेत मन्त्रों द्वारा रचना की है उन्हें प्राणभृत् कहते हैं।

विधान मानना असङ्गत है, क्योंकि ऐसा करने से मन्त्र अनर्थक होते हैं। अतः अनुवाद ही मानना उचित है।

१९-(वाक्यशेषाधिकरणम्)

सं०—संदिग्ध अर्थ का वाक्यशेष से निर्णय होता है, यह निरूपण करते हैं।

**सि०प०—सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्॥ २९॥**

प०क्र०—(सन्दिग्धेषु) विहित अर्थों में भ्रम होने पर (वाक्य-शेषात्) वाक्यशेष से निर्णय होता है।

भा०—जैसे-कहा है कि 'अक्ता: शर्करा: उपदधाति' इस वाक्य में संदेह होता है, कि अग्निकुण्ड में उपधान के लिये शक्कर को घी से गीला करना (मिलाना) चाहिए अथवा तैल से। ऐसा संदेह होने पर उत्तर देते हैं, कि यद्यपि इस वाक्य में शर्करा (शक्कर) का केवल भिगोनामात्र कहा गया है, तो भी तैल से भीगी शर्करा का वहाँ ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि वहाँ कोई निर्णायक वाक्य नहीं है। परन्तु घृत के विषय में तेजस्वितारूप प्रशंसात्मक "तेजो वै घृतम्" (३-१२-५) वाक्यशेष विद्यमान है। अतः उस वाक्य में घी से भीगी हुई ही शर्करा ली गई है, न कि तैल से भीगी हुई।

२०—(सामर्थ्याधिकरणम्)

सं०—पदार्थ की योग्यतानुसार अर्थनिर्णय करते हैं।

**अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्॥ ३०॥**

प०क्र०—(अर्थात्) अन्य निश्चायक चिन्हों के न होने पर पदार्थ की योग्यतानुसार (वा) अर्थ के निश्चय की (कल्पना) ऊहा होती है। क्योंकि (एकदेशत्वात्) एकदेश (अङ्ग) होने के कारण कल्पना से भी अर्थ का निर्णय हो सकता है।

भा०—जैसे 'स्रुवेणावद्यति' 'स्वधितिनाऽवद्यति' 'हस्तेनावद्यति' इन अधिकरण वाक्यों में संदेह होता है—कि यज्ञ में प्रयोजनीय घी आदि पदार्थों को उनकी योग्यतानुसार स्रुवा आदि से ग्रहण करने के लिए स्रुवा आदि का ग्रहण है, अथवा कभी स्रुवा से, कभी स्वधिति से, कभी हस्त से अवदान करने के अभिप्राय से ग्रहण है। ऐसा संदेह होने पर उत्तर देते हैं-

---

* मिट्टी से मिले छोटे-छोटे कंकड़ शर्करा कहलाते हैं तथा खांड आदि को भी शर्करा कहते हैं और घी से मिश्रित शर्करा को 'अक्ता' कहते हैं।

कि याग में घी आदि विभिन्न पदार्थों का उपयोग होता है, जो शीत में अत्यन्त कठिन होने से स्रुवा तथा हाथ से अवदान होना कठिन है। अतः विकल्प प्रयोजन से उनके ग्रहण की कल्पना असङ्गत है। किन्तु स्रुवा से अवदान योग्य पदार्थों का स्रुवा से, [१]स्वधिति के योग्य स्वधिति से, और हाथ के योग्य पदार्थ का हाथ से अवदान श्रेष्ठ है। क्योंकि पदार्थ की योग्यता से कल्पना भी ठीक होती है। अतः पदार्थ की योग्यता से वहाँ स्रुवादि का ग्रहण है, न कि विकल्प के अभिप्राय से। यहाँ जिस प्रकार की योग्यता से उनके अवदान का निरूपण है, उसी प्रकार सर्वत्र योग्यतानुसार ही अर्थ का भी निर्णय जानना चाहिये।

## इति प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः।

१. छोटी छुरी को स्वधिति कहते हैं।

# अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः प्रारभ्यते

सं०—प्रथम अध्याय में वेदानुकूल कर्मों को धर्म बतलाया गया है, अब उसके भेदों को बतलाते हैं। पहले धर्मविषयक क्रियापदों का निरूपण करते हैं।

१—भावार्थाधिकरणम्—

**सि०प०—भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते॥ १॥**

प०क्र०—(भावार्थाः) याग, होम, दान इत्यादि। यहाँ प्रत्ययांश तथा धात्वंश दोनों प्रतीत होते हैं, अतः भावनावाची हैं। (कर्मशब्दाः) यजति, जुहोति, ददाति आदि क्रिया पद, (तेभ्यः) उनसे (क्रिया) याग, होम, दान रूप क्रिया का (प्रतीयते) ज्ञान होता है। और (एष हि) यही (अर्थः) क्रियारूप अर्थ भाव (विधीयते) कहा गया है।

भा०—जैसे-कहा गया है कि 'सोमेन यजेत स्वर्गकामः' 'दर्शपूर्ण-मासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'हिरण्यमात्रेयाय ददाति' यह सब ज्योतिष्टोम यज्ञ के कामनामन्त्र हैं। इनमें नाम तथा आख्यातान्त समस्तपद धर्म को कहते हैं, अथवा यजेत, जुहोति, आदि आख्यातान्त स्वयं ही धर्म के कथन करनेवाले हैं। इस प्रश्न का समाधान यह है, कि धर्मद्रव्य, गुणरूप किसी वस्तुविशेष की संज्ञा नहीं, किन्तु सोम, घी आदि नाना वस्तुओं द्वारा और पुरुष के उद्योग से संपादित वेदानुकूल याग, होम, दान आदि रूप कर्त्तव्यविशेष का नाम ही धर्म है। इन क्रियाओं का ज्ञान यजेत, जुहोति आदि आख्यातान्त पदों से होता है। अत एव सर्वत्र विधिवाक्यों में विद्यमान, नाम और आख्यातान्त पदों के बीच, केवल आख्यातान्त पद ही धर्म के निरूपक हैं।

सं०—इस अर्थ में आशङ्का करते हैं।

**पू०प०—सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत्॥ २॥**

प०क्र०—(सर्वेषाम्) सोम, घी इत्यादि पदार्थों का (अर्थः) प्रयोजन (भावः) यज्ञादि क्रिया रूप है, अतएव नामपद भी धर्म के निरूपक हैं, (चेत्) यदि (इति) इस प्रकार कहा जावे तो ठीक नहीं।

भा०—जैसे—काठ, थाली आदि उपकरणों के बिना पाकक्रिया नहीं हो सकती, और न उस क्रिया का भात (चावल) पकाना रूप आदि सिद्धफल ही उपलब्ध हो सकता है। उसी प्रकार सोम, घी आदि पदार्थों के बिना याग आदि क्रिया भी नहीं हो सकती, और न उससे होनेवाले फल की ही प्राप्ति हो सकती है। अतः विधिवाक्य में विद्यमान क्रियापद के समान नामपद भी फल के साधन धर्म के कहने वाले हैं, न कि केवल आख्यातान्त पद ही।

सं०—आगे के दो सूत्रों में नाम और आख्यात पदों के लक्षण द्वारा शङ्का निवारण करते हैं।

**उ०प०—येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि, तस्मात्तेभ्यः पराकाङ्क्षा भूतत्वात्स्वे प्रयोगे॥ ३॥**

प०क्र०—(स्वे) अपने (प्रयोगे) अर्थ में प्रयुज्यमान (येषाम्) जिन पदों का (उत्पत्तौ) बोलने के समय (रूपोपलब्धिः) स्वरूप उपलब्ध हो, (तानि) उनको (नामानि) नाम कहते हैं। (तस्मात्) इस कारण बोलने के समय अर्थोपलब्धि होने से (तेभ्यः) वे (पराकाङ्क्षा) स्वार्थ सिद्धि के निमित्त अन्य (प्रधान) की इच्छा नहीं रखते हैं, क्योंकि (स्वे, प्रयोगे) अपने (उनके) बोलने के काल में (भूतत्वात्) अर्थ विद्यमान रहता है।

भा०—अर्थ दो प्रकार के होते हैं, सिद्ध और साध्य। जो अर्थ अपने वाचकपदों के बोलने के समय विद्यमान हैं, और अपनी सिद्धि के निमित्त अन्यसाधन की आवश्यकता नहीं रखते, वे अर्थ सिद्ध, और उनके वाचक पदों की 'नाम' संज्ञा है। सोमादि द्रव्यगुणवाची शब्द इनके उदाहरण हैं।

जो अर्थ अपने वाचक पदों के बोलने के काल में न हों, किन्तु उच्चारण काल के पश्चात् द्रव्य आदि विभिन्न साधनों तथा पुरुष के उद्योग से उत्पन्न हों, वे 'साध्य', और उनके वाचक पद 'आख्यात' कहे जाते हैं। जैसे कि यजति, जुहोति और ददाति के बोलने के समय याग, होम, दानादि अविद्यमान थे, परन्तु पुरुषार्थ (पुरुष के प्रयत्न) के पश्चात् होते हैं।

सं०—इनके ज्ञान की क्या आवश्यकता है।

**उ०प०—येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तान्याख्यातानि, तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताऽऽश्रितत्वात्प्रयोगस्य॥ ४॥**

प०क्र०—(तु) और (स्वे, अर्थे) अपने-अपने अर्थ में प्रयुज्यमान (येषाम्) जिन पदों के (उत्पत्तौ) उच्चारण के समय (प्रयोगो न विद्यते)

उनका अर्थ विद्यमान न हो, (तान्याख्यातानि) वे आख्यात कहलाते हैं। (तस्मात्) इसी कारण (तेभ्यः) उनसे (प्रतीयेत) धर्म जाना जाता है, क्योंकि (प्रयोगस्य) उनका प्रयोजन (आश्रितत्वात्) पुरुष प्रयत्न पर आश्रित है।

भा०—जिन पदों के बोलने के समय अर्थ न हों, किन्तु द्रव्य आदि विभिन्न साधनों और पुरुष के उद्योग के अनन्तर सिद्ध हों, उन्हें आख्यात कहते हैं।

सं०—यागादि कर्मों से अपूर्व द्वारा भविष्यत् फल की प्राप्ति होती है। इसको सिद्ध करते हैं।

अपूर्वाधिकरणम् ॥ २ ॥

**सि०प०—चोदना[१] पुनरारम्भः ॥ ५ ॥**

प०क्र०—(पुनः) जिस कारण कि (चोदना) उक्त कर्मों की प्रेरणा अर्थात् विधि वेद में मिलती है, इस कारण उनसे (आरम्भः) भविष्यत् फल का आरम्भ अर्थात् प्राप्ति सिद्ध होती है। और वह अपूर्व द्वारा ही संभव हो सकती है।

भा०—जैसे-लौकिक मनुष्यों के किए हुए कर्मों का कर्म-फल होता है, उसी प्रकार (योग, होम, दानादि कर्म जो परमात्मा की आज्ञा से किये जाते हैं, उनसे भी भावी फल की प्राप्ति होती है।

सं०—विधि वाक्यों में विद्यमान आख्यात निरूपण कर, अब उनके विभाग कहते हैं।

द्वेधाधिकरणम् ॥ ३ ॥

**सि०प०—तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥ ६ ॥**

प०क्र०—(तानि) वह क्रियापद (द्वैधम्) दो भाँति के हैं, (गुणप्रधानभूतानि) एक तो गौणकर्म के निरूपक हैं, और दूसरे प्रधानकर्म के निरूपक (बतलानेवाले) हैं।

---

सूचना—(१) 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वचनों द्वारा वेद, याग का विधान करता है और वह याग है नश्वर, यदि वह याग बिना ही अपूर्व पैदा किये, नष्ट हो जाय तो वेद द्वारा याग का विधान करना अनर्थक है। अतः याग अपूर्व पैदा करके ही नष्ट होता है और वह अपूर्व यथासमय स्वर्गादि का दिलाने वाला होता है।

वह अपूर्व यागजन्य अवान्तर व्यापाररूप है, या यागजन्य कोई शक्तिरूप है, यह बात दूसरी है—इति देव आचार्यः।

भा०—क्रियापद अर्थात् आख्यात दो प्रकार के हैं, एक गुणभूत और दूसरे प्रधानभूत। जो गौणकर्मों के निरूपक हैं उन्हें गुणभूत, और जो प्रधानकर्मों के प्रतिपादक हैं उनको प्रधानभूत कहते हैं।

सं०—प्रधानभूत का यह लक्षण है।

**सि०प०—यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते, तानि प्रधानभूतानि, द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्॥ ७॥**

प०क्र०—(यैः) जो क्रियापद संस्कार के निमित्त (द्रव्यम्) द्रव्य की अपेक्षा (न चिकीर्ष्यते) नहीं करते, (तानि) वे (प्रधानभूतानि) प्रधान कर्म हैं। क्योंकि वहाँ (द्रव्यस्य) द्रव्य (गुणभूतत्वात्) गुणभूत है। जैसे 'यजेत' इत्यादि।

भा०—जो कर्म (क्रियापद) द्रव्य के संस्कार करनेवाले नहीं हैं, और न उत्पन्न करनेवाले ही हैं, किन्तु स्वयं ही द्रव्य के प्रति प्रधानभूत हैं, वे प्रधानकर्म कहलाते हैं, जैसे याग, होम, दान इत्यादि। अर्थात् यजेत, जुहुयात् इत्यादि।

सं०—गौणकर्म का लक्षण करते हैं।

**सि०प०—यैस्तु[१] द्रव्यं चिकीर्ष्यते, गुणस्तत्र प्रतीयेत, तस्य द्रव्यप्रधानत्वात्॥ ८॥**

प०क्र०—(तु) तथा (यैः) जो कर्म (क्रियावाचकपद) संस्कारादि के निमित्त (द्रव्यम्) द्रव्य की (चिकीर्ष्यते) अपेक्षा करनेवाले हैं, (तत्र) वहाँ उन कर्मों में (गुणः) गौणता (प्रतीयेत) समझनी चाहिये, क्योंकि (तस्य) उन कर्मों (क्रियापदों) को (द्रव्यप्रधानत्वात्) द्रव्यप्रधानवाची होने से।

भा०—जो कर्म द्रव्य के संस्कारक और उत्पन्न करनेवाले हैं, और स्वयं द्रव्य के साधक नहीं, उन्हें गौणकर्म कहते हैं। जैसे-'व्रीहीनवहन्ति' धानों को कूटो। 'तण्डुलान् पिनष्टि', चावलों को पीसो—ये कर्म द्रव्य के संस्कारक कहलाते हैं। और 'यूपं तक्षति' खम्भे को बनावे, 'आहवनीय-मादधाति' अग्न्याधान करे—ये कर्म गौण कहे जाते हैं। क्योंकि यह कर्म संस्कार एवं उत्पत्ति के निमित्त द्रव्य पर अवलम्बित हैं, अर्थात् हम किसका संस्कार और किसकी उत्पत्ति करें, इसी आशा पर अवलम्बित रहने के कारण इनको द्रव्याकाङ्क्षा बनी ही रहती है। अर्थात् जिन कर्मों का फल

---

सूचना—(१) काशीस्थचन्द्रप्रभाप्रेसमुद्रितमीमांसासूत्रपाठे लेखकेनेदं सूत्रं भ्रमात् प्रमादाद् वा परित्यक्तिमिति देव आचार्यः।

अदृष्ट हो वह प्रधानकर्म, और जिनका फल दृष्ट हो वह गौणकर्म होते हैं।

सं०—सम्मार्जन गौणकर्म है, यह सिद्ध किया जाता है।

**पू० प०—धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिर्वृत्तेः प्रयाजवत्॥ ९॥**

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष का द्योतक है। (प्रयाजवत्) जिस प्रकार 'प्रयाज' प्रधानकर्म है, उसी प्रकार (धर्ममात्रे) स्रुवादि का धर्ममात्र सम्मार्जनादि (धो डालना) भी (कर्म) प्रधानकर्म (स्यात्) हैं। क्योंकि उनसे (अनिर्वृत्तेः) किसी दृष्ट वस्तु की सृष्टि नहीं पाई जाती।

भा०—'स्त्रु र्वः संमार्ष्टि', 'अग्निं सम्मार्ष्टि', 'परिधिं सम्मार्ष्टि' 'पुरोडाशं पर्य्यग्निकरोति'—इत्यादि वाक्य दर्शपूर्णमासयाग प्रकरण में पढ़े गये हैं। स्रुचः[१], अग्नि और परिधि का सम्मार्जन एवं पुरोडाश का पर्य्यग्निकरण प्रधानकर्म है, अथवा गौणकर्म। क्योंकि जैसे 'अवहनन' कूटना आदि कर्म का तुषविमोकादि (भूसीपृथक्करण आदि) प्रत्यक्ष फल हैं, उसी प्रकार सम्मार्जनादि कर्म भी अदृष्टफलरहित हैं। अतः 'प्रयाज' कर्म के सदृश सम्मार्जन भी प्रधानकर्म है।*

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—तुल्यश्रुतित्वाद्वेतरैः सधर्मः स्यात्॥ १०॥**

प०क्र०—(वा) का पूर्वपक्षपरिहारार्थ प्रयोग है। (इतरैः) संमार्जन से इतर कूटने आदि गुणकर्म के (सधर्मः) सदृश (स्यात्) है। क्योंकि (तुल्यश्रुतित्वात्) दोनों का एक प्रकार से उपदेश मिलता है।

भा०—जिस प्रकार कूटना पीसनादि दृष्टफल के द्योतक हैं, उसी प्रकार सम्मार्जनादि नहीं हैं। परन्तु तो भी उनके समान गौणकर्म तो मानना ही चाहिये। क्योंकि द्रव्य की प्रधानता बतलाने वाली द्वितीया विभक्ति का उपदेश दोनों स्थानों में एक सा है* और कर्त्ता के लिए जो ईप्सिततम होता

---

(१) सत्या० श्री० १।६।४४। (जै०पा०टी०) इति देव आचार्य।

* झाड़ पोंछकर रखना सम्मार्जन। वेदी के चारों ओर एक-सी रक्खी सत्वक् लकड़ी परिधि। खपरे में पकाई रोटी आदि विशेष पुरोडाश, और दर्भमुष्टि के आगे के भाग में अग्नि लगाकर पुरोडाश के चारों ओर घुमाने को पर्य्यग्निकरण, और समिधादि नामक (समिधो यजति-इत्यादि) पाँच आहुतिरूप कर्मविशेष को 'प्रयाज' कहते हैं।

(१) तै०ब्रा० ३।१।

* पाणिनि आचार्य ने 'कर्मणि द्वितीया' अष्टा० २।३।२ इस सूत्र में कर्म में द्वितीया विभक्ति मानी है।

है, उसकी कर्म-संज्ञा मानी गई है। तथा जो ईप्सिततम होगा, वही प्रधान होगा। अतः याग के उपयोग के लिए अवहनन क्रिया द्वारा तुषरहितधान कर्त्ता को ईप्सिततम हैं। इसी भाँति सम्मार्जन आदि क्रिया द्वारा स्त्रु वादि भी कर्त्ता को इप्सिततम हैं।* अतः सम्मार्जनादि अवघात की भाँति गौणकर्म हैं। यही बात (जै०न्या०टि०) में लिखी है।

सं०—पुनः शङ्का करते हैं।

**द्रव्योपदेश इति चेत्॥ ११॥**

प०क्र०—(द्रव्योपदेशः) 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' में द्वितीयान्त स्रुचः: पदसे स्रुवः द्रव्य का प्रधानतया उपदेश है। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो, ठीक नहीं, क्योंकि 'सक्तून् जुहोति' इत्यादि गौणकर्म में भी द्वितीया देखी जाती है।

भा०—जहाँ ऐसा आता है कि 'सक्तू न् जुहोति', 'एककपालं जुहोति' अर्थात् सक्तुओं से होम करे, अथवा एक खपरे में पके पुरोडाश से हवन करे—इन वाक्यों में सक्तु आदि गौण द्रव्य को द्वितीयाविभक्ति से कहा गया है। उसी प्रकार 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' आदि में भी स्रुवादि को द्वितीयाविभक्ति से बतलाया गया है, अतः गौणकर्म है, न कि प्रधानकर्म।

सं०—अब इसका समाधान करते हैं।

**न तदर्थत्वाल्लोकवत्तस्य च शेषभूतत्वात्॥ १२॥**

प०क्र०—(न) यह ठीक नहीं। (स्रुचः सम्मार्ष्टि) 'आदि में गुणरूप से स्रुवा आदि द्रव्यों का उपदेश नहीं, क्योंकि (लोकवत्) लोक[१] में कहीं भी गौणकर्म में द्वितीया नहीं होती। (तदर्थत्वात्) उसमें उपदिष्ट द्वितीया-विभक्ति को कर्मार्थत्व है। (च) तथा (तस्य) वे स्रुवादि सब द्रव्य (शेषभूतत्वात्) घी आदि के रखने आदि के कारण उनके शेष हैं।

भा.—सत्तु आदि द्रव्य केवल होम के साधन हैं, न कि किसी अन्य अर्थ में आसकनेवाले हैं। क्योंकि उनका हवन करने से वह भस्मीभूत हो जाते हैं। इसी कारण 'सक्तून् जुहोति' में लक्षणावृत्ति से करणार्थक द्वितीयाविभक्ति की कल्पना द्वारा सक्तु आदि का गुणरूपेण उपदेश मानना ही ठीक है। परन्तु 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' में उपदिष्ट द्वितीयाविभक्ति को करणार्थकता नहीं मान सकते। क्योंकि सम्मार्जन से भिन्न यज्ञ के उपयोगी घी आदि

---

* कर्तुरीप्सिततमं कर्म। अष्टा० १।४।४९ इस पाणिनि आचार्य के सूत्र से कर्त्ता को इप्सिततम की कर्मसंज्ञा है।

रखने में सम्मार्जित स्रुवा आदि का विनियोग है। जो बिना कर्म में द्वितीया माने हो ही नहीं सकता। विशेषकर जब कि कर्म इप्सिततम होने से प्रधान माना गया है। अत: यह उदाहरण समीचीन नहीं।

### ५—स्तुतशस्त्राधिकरणम्—

सं०—अब स्तोत्र तथा शस्त्र को प्रधानकर्म सिद्ध करते हैं।

**पू०प०—स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो याज्यावद्देवता भिधानत्वात्॥ १३॥**

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष का द्योतक है। (स्तुतशस्त्रयो:) स्तोत्र और शस्त्र (संस्कार:) संस्कारकर्म हैं। (याज्यावत्) याज्या ऋचा के सदृश। (देवताभिधानत्वात्) क्योंकि गुणकथन के द्वारा परमात्मा के स्वरूप को कहते हैं। अर्थात् देवता का कथन करने से।

भा०—'याज्या'* द्वारा याग के आरम्भ में अध्वर्यु खड़ा होकर ईश्वरवन्दना करता है। और गाकर जिन मन्त्रों से स्तुति की जाती है वह स्तोत्र, और बिना गाये मन्त्रों द्वारा स्तुति करने का नाम शस्त्र है। अब ज्योतिष्टोम में स्तोत्र और शस्त्र गुणकर्म हैं, अथवा प्रधानकर्म। ऐसी शङ्का करने पर पूर्वपक्षी उत्तर देता है, कि जैसे याज्या-ऋचा (ऋक्) गुणनिरूपण द्वारा ईश्वर का स्वरूप बतलाती है, उसी प्रकार स्तोत्र तथा शस्त्र भी गुण कीर्तन करते हैं।** भूसी दूर करने की भांति इस प्रकार का अनुस्मरण परमात्म-संस्कार विशेष रूप है। जहाँ संस्कार्य संस्कारक भाव हो, वहाँ संस्कार्य प्रधान और संस्कार गौण होता है। अत: यह गौणकर्म है, न कि प्रधानकर्म।

वेदों में मुख्यतया एक सच्चिदानन्द ही देवता माना गया है। अन्य कोई नहीं माना गया। अत: 'अग्नि मित्रं वरुणमिन्द्रमाहुरथो दिव्यं सुपर्णो गरुत्मान् एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहु:'—इत्यादि मन्त्रों द्वारा गुणप्रधानता की दृष्टि से उसी परमात्मा का ही अनेक नामों द्वारा

---

सूचना—(१) 'तण्डुलानोदनं पचति' इत्यादवपि तण्डुला ईप्सिता एवेति शाबर-भाष्यम्—इति देव आचार्य:।

* ऋग्वेद की ऋचा विशेष का नाम है।

** 'अग्न आयाहि वीतये, आ नो मित्रावरुणा, आ याहि सुषुमा हि ते, इन्द्राग्नी आ गतं सुतम्'—यह सामवेद के चारों सूक्त प्रात: गान में गायत्री साम नाम से गाये जाते हैं।

कथन किया गया है। इसी प्रकार अन्य नामों की प्रवृत्ति को भी उस* के गुण के अनुसार प्रधानता दी जाती है। क्योंकि उस प्रभु के अनन्त-गुण, अनन्त-वीर्य, अनन्त-पराक्रमादि ऐश्वर्य हैं। जिस ऋचा (ऋक्) में जिस नाम से स्तुति है, वही उसका देवता माना जाता है। ऐसी ऋचायें आग्नेयी, ऐन्द्री, वारुणी आदि नाम से प्रसिद्ध हैं। अतः इन्द्र, अग्नि, वरुण, महेन्द्र कोई भिन्न देवता नहीं।

सं०—स्तोत्र तथा शस्त्र कर्म सम्बन्धी आक्षेप का समाधान यह है।

**सि०प०—अर्थेन त्वपकृष्येत देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात्॥ १४॥**

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष का परिहार करता है। (देवतानामचोदना) यदि स्तोत्र और शस्त्र को गुणकर्म माना जाय, तो उन मन्त्रों का, जिनमें कि इन्द्रादि देवता के नाम से स्तुति है, (उन मन्त्रों का) (अर्थेन) अर्थानुकूल (अपकृष्येत) अपकर्ष होना चाहिये। क्योंकि (अर्थस्य) देवतारूप अर्थ के प्रति (गुण-भूतत्वात्) मन्त्र गुणभूत हैं।

भा०—स्तुतियोग्य पदार्थ के गुणों के कथन को स्तुति अथवा प्रशंसा कहते हैं। गुणों के कथन के द्वारा वस्तु-स्वरूप को बतलाने का नाम स्तुति नहीं है। लोक में भी 'देवदत्तश्चतुर्वेदाभिज्ञः' देवदत्त चारों वेदों का ज्ञाता है। इस वाक्य में स्तुतियोग्य देवदत्त में चारों वेदों के ज्ञानरूप गुण के सम्बन्ध का कथन करने से स्तुति पाई जाती है। यदि इसी को 'जो चतुर्वेदी है, उसे लाओ' ऐसा कहा जावे, तो इसमें कोई प्रशंसा प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार स्तोत्र और शस्त्र को भी देवता के प्रशंसात्मक गुणनिरूपण करने के सम्बन्ध का सहायक मानना चाहिये। अतः 'आज्यैः स्तुवते' अथवा 'आज्यैर्देवं प्रकाशयेत्' इत्यादि वाक्य स्पष्ट हो जाते हैं। और दोनों का भेद भी जाना जाता है। यहाँ देवता गुणभूत और मन्त्र प्रधान होते हैं। इस प्रकार का मन्त्र जहाँ जिसके पास पढ़ा गया हो, वहीं रहकर वह उसका स्तुतिकर्त्ता हो सकता है। और इसी क़ारण मुख्यार्थलाभ होने पर 'स्तौति' तथा 'शंसति'

---

** 'आज्यस्तोत्र' तथा 'अभि त्वा शूर नोनुमो' कया नश्चित्र आभुवत्, तं वोदस्ममृतीषहम्, 'तरोभिर्वो विदद्वसुम्'—यह सामवेद के चारों सूक्त मध्याह्न में यथाक्रम रथन्तर आदि पृष्ठस्तोत्र कहे जाते हैं। यह सूक्त तीन ऋचा का होता है, और स्तोत्र, स्तवन, शस्त्र; शंसन एवं प्रशंसा पार्य्यायवाची शब्द हैं, और यथास्थान इनके प्रयोग पाये जाते हैं।

धातु के अर्थ में लक्षणा भी नहीं करनी पड़ती। अतः यही समीचीन है, कि स्तोत्र और शस्त्र प्रधानकर्म हैं, न कि गौणकर्म।

सं०—पुनः आशङ्का करते हैं।

**पू०प०—वशावद्वाऽगुणार्थं स्यात्॥ १५॥**

प०क्र०—'वा' शब्द पूर्वपक्षोत्थापक है। (वशावत्) जैसे वशा 'दूध और ऊन गुणवाली अजा' के स्मरण के लिये उसका विशेष्यवाचक 'छाग' पद घटता है। अत एव 'एष छाग' यह मन्त्र पढ़ा जाता है। उसी प्रकार (गुणार्थं) विशिष्टगुणवाले इन्द्र के स्मरण 'अभि त्वा शूर नोनुमः' यह निर्गुण शब्दवाला अर्थात् साधारण शब्द मन्त्र (स्यात्) माहेन्द्रग्रहयाग की समीपता में पढ़ा गया है।

भा०—स्तोत्र, शस्त्र को गुणकर्म मानकर ऐन्द्रप्रगाथमन्त्र 'अभि त्वा शूर नोनुमः' का अपकर्ष (जिस प्रकरण में जो पाठ है, वहाँ से उठ कर जहाँ देवता हो ले जाना) रूप दोष बतलाना ठीक नहीं। क्योंकि उन मन्त्रों का महत्त्व गुणविशेष 'इन्द्र' के ही स्मरण में है। जो कि मन्त्र माहेन्द्र-ग्रहयोग की समीपता में पढ़े गये हैं। सगुण का अभिधान निर्गुण शब्द से होता है। जैसे 'वशा'* (विशिष्टगुणवाली अजा) का अजा (बकरी) शब्द से कथन किया गया है। तथा—'सा वा एषा सर्वदेवत्या यदजा वशा, वायव्यामालभेत' अर्थात् अपने सौम्यगुणों से सब के अधीन रहनेवाली दुधार और ऊनवाली यह 'अजा' सर्वगुणसम्पन्न परमात्मा के उद्देश्य से प्रदान की हुई अत्यन्त पुण्य-जनक होती है। अतः प्रजा-रक्षक 'वायु' परमात्मा के उद्देश्य से इसका उत्सर्ग करे। इस प्रकार 'वशा' (गुणवाली) 'अजा' का याग में विधान करके उस याग के समीप उस अजा (बकरी) का स्मरण दिलाने वाला, अजावाची[१]-छाग (भेड़) पदयुक्त 'एव छागः' मन्त्र यजुर्वेद (२५, २६ मन्त्र) का पढ़ा गया है। यद्यपि मन्त्र में 'छाग' शब्द केवल अजावाची है, 'वशा' अर्थात् गुणसम्पन्न अजा का वाचक

---

* 'वशा' दूध और ऊन देनेवाली बकरी या भेड़ को कहते हैं, न कि बसा को, जैसा कि बहुधा अशुद्ध बोलनेवाले 'वशा' को 'वसा' कहते हैं, जो चर्बी (मेदा) अर्थ में आता है। वशा दूध देनेवाली ऊनवाली भेड़ होती है। अब भी 'यूराल पहाड़ में अलपका बकरी मिलती है' उसी के वस्त्रों से बना अलपका वस्त्र भी मिलता है।

सूचना—(१) लोके अजापदेन 'एडका' (भेड़) न गृह्यत इति देव आचार्यः।

नहीं, तथापि उस गुणसम्पन्न अजा का स्मरण दिलाता है। इसी भाँति ऐन्द्रप्रगाथमन्त्रों में 'इन्द्र' पद विशेषमहत्त्वपूर्ण इन्द्र का स्मारक है, न कि केवल इन्द्र का। अतः स्तोत्र, शास्त्र को गुणकर्म मान लेने पर भी उन मन्त्रों में अपकर्षरूप दोष नहीं आ सकता। क्योंकि 'महेन्द्र' के बतलानेवाले मन्त्र एक ही स्थान पर हैं।

सं०—उस शङ्का का निराकरण करते हैं।

**उ०प०—न श्रुतिसमवायित्वात्॥ १६॥**

प०क्र०—(न) वह मन्त्र महेन्द्र के अभिधायक नहीं। क्योंकि उनमें (श्रुतिसमवायित्वात्) तद्धित का इन्द्र पद से सम्बन्ध है, न कि महेन्द्र से।

भा०—माहेन्द्र-ग्रहयाग की सन्निधि में जो मन्त्र पढ़े हैं, वह माहेन्द्र शब्द से व्यवहृत होते हैं। देवता अर्थ में तद्धित प्रत्यय करने से यह शब्द बनता है। 'महेन्द्रो देवता अस्य ग्रहस्य' अर्थात् महेन्द्र है देवता जिस पात्र का वह माहेन्द्र कहा जाता है। प्रत्यय का स्वभाव है-कि जिस प्रकृति के आगे होता है, उसके साथ मिलकर ही अपने अर्थ का बोधक होता है, न कि प्रकृति के एक देश का। महेन्द्र शब्द से जो 'अण्' प्रत्यय हुआ है, उसकी प्रकृति महेन्द्र है। और प्रकृत्येकदेश इन्द्र है, अतः जहाँ इन्द्र का सम्बन्ध है, वहाँ महेन्द्र का नहीं। क्योंकि वह प्रकृत्येदेश इन्द्र का अभिधायक होते हुए भी महेन्द्र का निरूपण नहीं करता। अतः प्रकृत्येकदेश होने के कारण महेन्द्र से इन्द्र भिन्न है। जब महेन्द्र से इन्द्र भिन्न है, तो जिस याग में इन्द्र देवता है, वहाँ ऐन्द्र-प्रगाथ का अपकर्ष अवश्य होना चाहिये। इसमें स्थान एवं सन्निधि दोष कहा जा चुका है। अतः स्तोत्र, शस्त्र को गुणकर्म मानना ठीक नहीं, किन्तु प्रधानकर्म ही मानना चाहिये।

सं०—इन्द्र और महेन्द्र के भिन्न होने में हेतु देते हैं।

**उ०प० सहायकः—व्यपदेशभेदाच्च॥ १७॥**

प०क्र०—(च) और (व्यपदेशमेदात्) नाम का भेदरूप से कथन करने के कारण इन्द्र और महेन्द्र भिन्न भिन्न हैं।

भा०—इन्द्र और महेन्द्र का प्रवृत्तिनिमित्त (अर्थ) साधारण और महान् ऐश्वर्यवाला है। निमित्तभेद से नैमित्तिक का भेद होना स्वाभाविक है। अतः परमात्मा का इन्द्र और महेन्द्ररूप से भेद मानना चाहिये। अत एव दर्शपूर्णमासयज्ञ में 'बहुदुग्धीन्द्राय, दुग्धिमहेन्द्राय हविः' इस प्रकार का भेद भी सुस्पष्ट कहा गया है। अतः इन्द्र और महेन्द्र दोनों में भेद है, अर्थात् भिन्न

हैं।

सं०—और भी युक्ति देते हैं।

**सि०प० सहा०—गुणश्चानर्थकः स्यात्॥ १८॥**

प०क्र०—(च) और इन्द्र तथा महेन्द्र को एक ही स्वीकार करने से (गुणः) 'महान्' विशेषण (अनर्थकः) वृथा (स्यात्) हो जाता है।

भा०—जिस विशेषण ने अपने विशेष्य को अन्य से व्यावृत्त नहीं किया, वह विशेषण व्यर्थ होता है। 'महान्' विशेषण और 'इन्द्र' विशेष्य है। यदि महान् अपने विशेष्य को अन्य से पृथक् न करे, तो वृथा हो जायगा। अतः इन्द्र तथा महेन्द्र को एक मानना ठीक नहीं।

सं०—दोनों में भिन्नता होने में और भी युक्ति है।

**सि० प० सहा०—तथा याज्यापुरोरुचोः॥ १९॥**

प०क्र०—(याज्यापुरोरुचोः) यदि दोनों एक ही माने जावें, तो 'याज्या' तथा 'पुरोऽनुवाक्या' ऋचाओं में दोनों का भेदपूर्वक कथन (तथा) निरर्थक हो जावेगा।

भा०—याग के आरम्भ में इन दो मन्त्रों को अध्वर्यु खड़ा होकर पढ़ता है—कि 'इन्द्रस्य नु वीर्य्याणि प्रवोचं यानि' इत्यादि (ऋ० १। २। ३६। १) यह याज्या तथा पुरोऽनुवाक्या मन्त्र कहलाते हैं। इनमें परमात्मा के पर्यायवाची इन्द्र की स्तुति है। अतः इसको ऐन्द्र याज्या पुरोऽनुवाक्या कहते हैं। 'महाँ इन्द्रो य ओजसा' (ऋ० ५। ८। ९। १) इत्यादि दो मन्त्रों का नाम माहेन्द्र याज्या और पुरोऽनुवाक्या है। यहाँ महेन्द्र नाम से परमात्मा की स्तुति है। यदि इन्द्र महेन्द्र दोनों एक माने जावेंगे, तो याज्या, पुरोऽनुवाक्या का विकल्प मानना पड़ेगा। अर्थात् एक ही ऋचा दोनों यागों में पढ़ी जा सकेगी। अतः यह विकल्प दोषयुक्त होगा। अतः उक्त (इन्द्र महेन्द्र का) भेद मानना युक्तियुक्त नहीं।

सं०—'वशावत्' इस दृष्टान्त का समाधान करते हैं।

**सि० प० सहा०—वशायामर्थसमवायात्॥ २०॥**

प०क्र०—(वशायाम्) वशा अजा (बकरी) में (अर्थ समवात्वात्) छाग रूप अर्थ का योग (सम्बन्ध) पाया जाने से पूर्वोक्त अर्थात् दृष्टान्त ठीक नहीं है।

भा०—जैसे वशा गुणविशेषवाली अजा का निरूपण करके 'एष छागः' (यजु० २५ अ० २६ मं०) इस मन्त्र में केवल अजावाचक 'छाग'

शब्द से विधान किया गया है। उसी प्रकार महत्त्व विशिष्ट इन्द्र का निरूपण करके 'अभि त्वा शूर नो नुमः' इस मन्त्र में केवल इन्द्र शब्द से विधान किया गया है। यह पूर्वकथित दृष्टान्त ठीक नहीं। क्योंकि 'छाग' शब्द वशा विशेषगुण वाली अजाविशेष का ही अनुगामी (द्योतक) है न कि अजामात्र का। परन्तु इन्द्र शब्द महत्त्वविशिष्ट 'इन्द्र' का अनुगामी नहीं, किन्तु इन्द्रमात्र का बोधक है। अतः वशा (विशिष्ट अजा) की भांति इन्द्र शब्द से निरूपण नहीं किया जा सकता। क्योंकि वशापन एक ऐसा धर्म है, जो अजा व्यक्ति को छोड़ नहीं सकता। परन्तु महत्त्व उससे विपरीत है। अतः छाग शब्द का वशा (विशेष अजा) का अभिधायक होना सम्भव है, परन्तु इन्द्र शब्द महत्त्वविशिष्ट इन्द्र का अभिधायक नहीं। इसी भाव से दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में विषमता होने से इन्द्र शब्द महेन्द्र का अभिधायक नहीं हो सकता। अपि च अपकर्ष दोष होने के कारण स्तोत्र शस्त्र को गुणकर्म मानने में दोष भी है। अतः वे प्रधान कर्म हैं।

सं०—अपकर्ष में इष्टापत्ति मानने पर सन्देह होने से उसको दिखाते हैं।

## पू०प०—यत्रेति[1] वाऽर्थवत्त्वात् स्यात्॥ २१॥

प०क्र०—'वा' शब्द आशङ्का के सूचनार्थ प्रयुक्त हुआ है। (यत्र) जिस याग में इन्द्र देवता हो, उसमें (इति) पूर्वपठित "अभि त्वा शूर नोनुमः" इत्यादि ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्रों का अपकर्ष (स्यात्) हो सकता है, क्योंकि (अर्थवत्त्वात्) वे अर्थवाद हो जाते हैं।

भा०—यदि 'अभित्वा शूर नोनुमः' इस ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्र में महेन्द्र का अभिधान, महेन्द्रयाग की समीपता में पढ़े जाने पर भी नहीं किया जा सकता, और इन्द्र का अभिधान करने से अर्थ हो सकता है, तो जिस याग का इन्द्र देवता है, वहाँ उसका अपकर्ष होने में कोई हानि नहीं।

सं०—इस शङ्का का उत्तर देते हैं।

## सि०प०—न त्वाम्नातेषु॥ २२॥

प०क्र०—(आम्नातेषु) ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्रों के अतिरिक्त 'याम्याः शंसति' इत्यादि मन्त्रों में (न तु) अर्थवत्त्व घट नहीं सकता।

भा०—स्तोत्र, शस्त्र को गुणकर्म स्वीकार करने से इन (अभि त्वा

---

सूचना—(१) काशी च०प्र०प्रे०मु० मीमांसासूत्रपाठे 'त्रे' इत्यस्य स्थाने "श्चे" इति पाठो वर्तते इति देव आचार्यः।

शूर नोनुमः) इत्यादि मन्त्रों का अपकर्ष होने से अर्थवत्त्व हो सकता है, परन्तु 'याम्याः शंसति' (यम नामक स्तुतिवाची मन्त्रों से परमात्मा की प्रशंसा करे)। 'शिपिविष्टवतीः शंसति' (अर्थात् विशिष्टशब्दवाली ऋचाओं से परमात्मा का स्तवन करे)। और 'आग्निमारुते शंसति' (अर्थात् प्रजापालन तथा प्रकाशगुणविशिष्ट परमात्मा का अग्निमारुतशब्द -युक्तमन्त्रों से स्तवन करे) इत्यादि मन्त्रों में अपकर्ष होने के कारण अथवत्व नहीं हो सकता। और अपकर्ष अवश्य करना पड़ेगा। क्योंकि जिस स्थान तथा जिसकी समीपता में उनका पाठ है, वहाँ से वह अन्य के अनुगामी नहीं हो सकते। अतः अपकर्ष मानना युक्तियुक्त नहीं।

सं०—पुनः आशङ्का करते हैं।

**पू०प०—दृश्यते॥ २३॥**

प०क्र०—(दृश्यते) याम्यादि मन्त्र भी अन्यत्र अर्थवाले पाये जाते हैं।

भा०—जिस प्रकार ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्रों का इन्द्रदेवतासम्बन्धी याग में अपकर्ष सप्रयोजन है, उसी प्रकार उसउस देवता के यागों में याम्यादिमन्त्रों का अपकर्ष भी अर्थवाला है, निरर्थक नहीं। अतः स्तोत्र, शस्त्र को गुणकर्म मानना ही उचित है।

सं०—इस आशङ्का का निवारण करते हैं।

**सि०प०—अपि वा श्रुतिसंयोगात्प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम्॥ २४॥**

प०क्र०—''अपि वा'' पदों का आशङ्कानिवारणार्थ प्रयोग है। (स्तौतिशंसती) स्तोत्र और शस्त्र (प्रकरणे) प्रकरण में ही (क्रियोत्पत्तिम्) स्तुतिरूप किया का (विदध्याताम्) विधान करते हैं। क्योंकि ऐसा करने से उनका (श्रुतिसंयोगात्) मुख्यार्थ के साथ योग (सम्बन्ध) होता है।

भा०—स्तोत्र, शस्त्र का मुख्य अर्थ 'स्तुति', और देवता के स्वरूप का अभिधानरूप अर्थ गौण है। गौण की अपेक्षा मुख्य उत्तम होता है। यदि मुख्य अर्थ का लाभ हो सके, तो गौण अर्थ का क्यों ग्रहण किया जाय। गौण अर्थ मानने से प्रकरणविच्छेद होता है और अन्य मन्त्रों का अपकर्ष भी स्वीकार करना पड़ता है। स्तुतिरूप मुख्य अर्थ के मानने में दोनों दोष नहीं आते।

सं०—स्तोत्र, शस्त्र के प्रधानकर्म होने में हेतु भी है।

**सि०प०—शब्दपृथक्त्वाच्च॥ २५॥**

प०क्र०—(च) तथा (शब्दपृथक्त्वात्) स्तोत्र तथा शस्त्र शब्द में

अन्तर (भेद) पाया जाने से भी वह प्रधानकर्म है।

भा०—स्तोत्र तथा शस्त्र के शब्दार्थ में भेद पाया जाने से भी एक मुख्य और दूसरा गौण है। और यदि स्तोत्र, शस्त्र को प्रधान कर्म मानेंगे, तो स्तोत्रजन्य तथा शस्त्रजन्य दो फल होने से उनकी भेदपूर्वक विधि भी सफल हो जाती है। और गुण-मानने से देवतास्वरूप का अनुस्मरणरूप एक ही फल प्रतीत होता है। और भेद उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि देवतास्मरण लक्षण फल एक से ही हो सकता था, दोनों के विधान की आवश्यकता न थी। परन्तु भेद होने से वह किसी विजातीय-फल के उद्देश्य से है, न कि देवतास्मरणलक्षण दृष्टफल के निमित्त। अतः स्तोत्र, शस्त्र प्रधानकर्म हैं, न कि गौण।

प्रश्न—सं०—स्तोत्र शस्त्र का देवतास्मरणलक्षण एक ही दृष्टफल हो, तो हानि ही क्या है।

**उ०प०—अनर्थकं च तद्वचनम्॥ २६॥**

प०क्र०—(च) तथा स्तोत्र शस्त्र उभय का एकफल स्वीकार करने से (तद्वचनम्) दोनों की विधि का निरूपण (अनर्थकम्) असफल हो जायगा।

भा०—यदि एक ही विधि-विधान से उभयफल मिल सकें, तो दोनों का विधान वृथा हो जायगा।

सं०—प्रधानकर्म मानने में दोष का परिहार करते हैं।

**अन्यश्चार्थः प्रतीयते॥ २७॥**

प०क्र०—(च) तथा प्रधानकर्म मानने से (अन्यः) स्तोत्रजन्यकर्म से अतिरिक्त (अर्थः) शस्त्र से उद्भूतफल (प्रतीयते) उपलब्ध होता है।

या०—प्रधानकर्म मानने से स्तोत्र से उद्भूत एवं शस्त्र से उद्भूत पृथक् पृथक् अदृष्टफलों की उपलब्धि होती है। जिससे कि उभय का विधिविधान प्रयोजनीय (सफल) होता है। और गुणकर्म मानने से विरुद्धफल होता है। अतः गुणकर्म के समान प्रधानकर्म स्वीकार करने में वह दोष नहीं रहता।

सं०—स्तोत्र तथा शस्त्र के प्रधानकर्म होने में हेतु और भी है।

**अभिधानं च कर्मवत्॥ २८॥**

प०क्र०—(च) तथा (कर्मवत्) प्रधानकार्य के सदृश (अभिधानम्) स्तोत्र, शस्त्र का विधान है।

भा.—'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' और 'अग्निहोत्रं जुहोति' दोनों में अग्निहोत्रादि प्रधानकर्मों का ही अभिधान पाया जाता है। उसी भाँति स्तोत्र शस्त्र कर्म (जैसे कि—'आज्यैः स्तुवते' 'पृष्ठैः स्तुवते' 'प्रउगं शंसति' 'निष्केवल्यं शंसति') में भी कर्म की विधि पाई जाती है। इससे प्रतीत होता है कि दर्शपौर्णमास भी अग्निहोत्रादिकर्म के समान प्रधानकर्म है।

सं०—और भी हेतु देते हैं।

**सि०प०—फलनिर्वृत्तिश्च॥ २९॥**

प०क्र०—(च) तथा स्तोत्र एवं शस्त्र दोनों के (फलनिर्वृत्तिः) फल की सिद्धि सुनी गई है।

भा०—इन वाक्यों में यह आता है-कि 'एष वै स्तोत्रशस्त्रयोर्दोहः,' अर्थात् यह स्तोत्र, शस्त्ररूपकर्म का फल है। इससे यह सिद्ध होता है कि दोनों के भिन्न भिन्न फल होने के कारण ही प्रधान कर्म हैं। यदि गौण होते तो फल भी न सुनने में आता। क्योंकि प्रधानकर्म के फल से ही गौणकर्मों के फल होते हैं। वह गौणकर्म स्वतन्त्र तथा फलदायक नहीं होते। अतः प्रधानकर्म का ही फल होता है, न कि गौणकर्म का। और न उस देवता का जिसके कि वह गुणभूत हैं। स्तोत्र शस्त्र के फल सुने गये हैं। अतः स्तोत्र शस्त्र प्रधानकर्म हैं, गौण नहीं।

## ६—विधिमन्त्राधिकरणम्—

सं०—विधान करने तथा न करने रूप भेद से वेद दो प्रकार का होता है, अब यह निरूपण करते हैं।

**पू०प०—विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्॥ ३०॥**

प०क्र०—(विधिमन्त्रयोः) विधि (विधानकरने वाले) तथा मन्त्रों का (एकार्थ्यम्) विधिरूप एक ही अर्थ होता है। क्योंकि (ऐकशब्द्यात्) विधि और मन्त्र में दोनों एक ही प्रकार के शब्द हैं।

भा०—विधि और मन्त्र दो प्रकार का वेद है। विधि उसे कहते हैं—कि जहाँ वेद के वाक्य कर्मविशेष अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मों का विधान करते हैं। मन्त्र वह है-कि जो किसी कर्मविशेष के विधिविधान को नहीं करते, किन्तु ईश्वरादिपदार्थों के गुण, कर्म स्वभाव तथा अभ्युदय-निःश्रेयस के साधन ईश्वर स्तुति, प्रार्थना, ज्ञान आदि सृष्टि के विभिन्न अनेक सिद्धपदार्थों का प्रतिपादन करते हैं। अतः वेद सर्वकल्याणार्थ सृष्टि के आदि में हुये। वह कल्याणकृत कर्त्तव्य कर्म के अनुष्ठान से मनुष्य-मात्र को उपलब्ध हैं,

न कि सिद्धपदार्थ के ज्ञान द्वारा। और वेदों का प्रयोजन भी मनुष्य को कल्याण प्रदान करना है। अत: वेद (वेदमन्त्र) और ब्राह्मण दोनों के ही वाक्य प्रतिपादक (विधायक) हैं।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

**उ०प०—अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्॥ ३१॥**

प०क्र०—(अपि वा) शब्द पूर्वपक्ष के लिये प्रयुक्त हैं। (मन्त्र:) मन्त्र* (अभिधानवाची) प्रतिपादक अर्थात् अभिधायक (स्यात्) हैं। क्योंकि (प्रयोगसामर्थ्यात्) इनका कर्म के समय प्रयोग किया जाता है। प्रयोग करने से ही प्रतीत होता है कि इनमें अभिधान करने की सामर्थ्य है।

भा०—विधि और मन्त्र दोनों सदृश ही हैं। तथापि इन दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। शब्दसामर्थ्य से विधि का अर्थ विधान और मन्त्र का अर्थ अभिधान कहाता है। जो कि शब्दासामर्थ्य से प्राप्त होता है। उसके विरुद्ध कल्पना करनी ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त प्रेय से लेकर श्रेय तक अर्थात् अभ्युदय से लेकर नि:श्रेयस फल तक की आकाङ्क्षावाले पुरुष को अनेक पदार्थों का ज्ञान चाहिये। उन्हीं के यथावत् ज्ञान से ऐहिक और पारलौकिक उत्थान के उपायों का संग्रह कर सकता है। यदि वेद उन पदार्थों का अभिधान न करते, तो वह वेद मनुष्य के लिये कल्याणकर न होता।** अत: वेदों में वेदावाक्य कर्मों के विधान के समान ही सिद्धपदार्थों के गुण, कर्म और स्वाभावादि का भी अभिधान करते हैं। जो विधान करनेवाली ऋचायें हैं, उनकी विधि संज्ञा, और जो अभिधान करने वाली ऋचायें हैं, उनकी मन्त्रसंज्ञा है। अत: विधि और मन्त्र में अर्थ का भेद है।

### मन्त्रलक्षणाधिकरणम्।

सं०—अब मन्त्रशब्द से मन्त्रों के अतिरिक्त किसी अन्य ब्राह्मण आदि वाक्य का ग्रहण न हो सके, ऐसा मन्त्रत्व निरूपण करते हैं।

---

* 'मत्रि गुप्तपरिभाषणे' इस धातुपाठ द्वारा पाणिनि आचार्य ने भी यही भाव बतलाया है, कि मन्त्र अविधायक है, अर्थात् उनमें गुप्तभाषण द्वारा अभिधान है, न कि विधान।

** 'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य:' इस मन्त्र में चारों वर्णों तथा पांचवें वर्ण 'अरणाय' के लिये भी वेदों के ध्यानपूर्वक स्वाध्याय की आज्ञा है।

**सि०प०—तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥ ३२ ॥**

प०क्र०—(तच्चोदकेषु) अग्निहोत्रादि के विधायक तथा सिद्धार्थ के प्रतिपादक वेदवाक्यों की (मन्त्राख्या) मन्त्रसंज्ञा माननी चाहिये।

भा०—वेदों के वाक्यों में कर्मों का विधान तथा सिद्धार्थ का अभिधान है। विधान और अभिधान करने वाले इन दोनों को ही मन्त्र कहते हैं। पहले भी विधि और मन्त्र दोनों मन्त्र के ही प्रकार को बतलाते थे। मन्त्रातिरिक्त किसी अन्यविधायकवाक्य को विधि नहीं बतलाया गया है। अतः जो ब्राह्मणों को मन्त्र बतलाते हैं, उनका पक्ष इससे कट जाता है। यदि ऐसा न होता तो सूत्र इस प्रकार का बनता—कि 'तदभिधायकेषु मन्त्राख्या' न कि 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' ऐसा पढ़ते। अतः मन्त्रग्रहण में संहिता का ग्रहण है, न कि ब्राह्मणग्रन्थों का।

**ब्राह्मणलक्षणाधिकरणम्—**

सं०—अग्निहोत्र के प्रतिपादक तथा सिद्धार्थ के अभिधायक वेदवाक्यों की मन्त्रसंज्ञा कहकर अब उनके व्याख्यानादिरूप ऐतरेयादि ग्रन्थों की ब्राह्मणा 'संज्ञा' पर विचार करते हैं।

**सि०प०—शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥ ३३ ॥**

प०क्र०—(शेषे) मन्त्रों से अतिरिक्त मन्त्रों के व्याख्यारूप ऐतरेयादि-ब्राह्मणग्रन्थ भी (ब्राह्मणशब्दः) ब्राह्मण संज्ञा वाले हैं।

भा०—जो पदार्थ जिसके उपकारार्थ होता है, वह उसका शेष कहलाता है। जैसे स्वामी के लिये सेवक आदि हैं। व्याख्यान भी व्याख्येय का शेष होता है। अतः ऐतरेयादि व्याख्यान होने से वेदों के शेष हैं, अर्थात् मन्त्रों के शेष ऐतरेयादि-ग्रन्थ ही ब्राह्मणसंज्ञक हैं। और इन्हें शेषी भी इसी कारण कहते हैं, कि ये उपकार्य हैं। इनके पर्याय—शेष, अङ्ग, गौण ये तीनों शब्द इस प्रकार से हैं, जैसे प्रधान के पर्याय-शेषी, तथा अङ्गी हैं।*

सं०—वेद की मन्त्रसंज्ञा और उसके ब्राह्मणों की व्याख्यासंज्ञा कह कर अब ब्राह्मणग्रन्थों को अवेदत्व (वेद नहीं) सिद्ध करके, वेदों के विभाग

---

* चारों वेदों के व्याख्यान अथवा शेष (न कि अवशेष) रूप ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। अवशेष कहने से वेद के खण्ड भाग का भ्रम हो सकता है। ऋग्वेद का 'ऐतरेय' व्याख्यान अर्थात् ब्राह्मण है। सामवेद का 'ताण्डय' शेष अर्थात् व्याख्यान है। यजुर्वेद का अङ्ग अर्थात् व्याख्यान 'शतपथ' और अथर्ववेद का गौण अर्थात् व्याख्यान 'गोपथ' ब्राह्मण कहलाता है।

की स्थापना करते हैं।

**सि०प०—अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः॥ ३४॥**

प०क्र०—(अनाम्नातेषु) ईश्वरोक्त न होकर ऋषिप्रोक्त होने के कारण ऐतरेयादि ब्राह्मण को (अमन्त्रत्वम्) वेदत्व नहीं है। (हि) अतः उन्हें छोड़कर (आम्नातेषु) ईश्वरप्रदत्त मन्त्रों का (विभागः) विभाग कहते हैं।

भा०—ऊह, प्रवर तथा नामधेय यह तीनों मन्त्र नहीं। अतः इन्हें छोड़कर जो मन्त्र हैं, उनका विभाग किया जाता है।*

सं०—वह विभाग इस प्रकार है।

**सि०प०—तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था॥ ३५॥**

प०क्र०—(यत्र) जहाँ जिन मन्त्रों में (अर्थवशेन) अर्थवश अर्थात् छन्दःशास्त्रानुकूल (पादव्यवस्था) पादों का प्रबन्ध है, (तेषाम्) उन मन्त्रों की (ऋक्) ऋग्वेदसंज्ञा है।

भा०—छन्दःशास्त्र में पिङ्गलाचार्य वैदिक तथा लौकिक भेद से दो प्रकार के छन्द बतलाते हैं। गायत्री आदि वैदिक तथा आर्या आदि लौकिक छन्द निरूपण किये गये हैं। एक-एक छन्द तीन तथा चार पाद तक होता है। जो छन्दोबद्ध अर्थात् पाद-व्यवस्था युक्त हैं, वे ऋग्वेद के मन्त्र हैं, अर्थात् छन्दःशास्त्रानुकूल छन्दोबद्ध मन्त्रों की ऋग्वेदसंज्ञा है।**

सं०—पादव्यवस्था के पश्चात् गानव्यवस्थानुकूल वेद के विभाग को कहते हैं।

**सि०प०—गीतिषु सामाख्या॥ ३६॥**

प०क्र०—(गीतिषु) जो मन्त्र गान किये जा सकें, उन्हें (समाख्या) सामसंज्ञक कहा गया है।

भा०—भगवान् की उपासनादि के निमित्त जिन मन्त्रों का ज्ञान हमें दिया गया वह गान करने योग्य होने से सामवेद कहलाये।

सं०—शेष मन्त्र क्या कहलाये।

---

* सौर्ययाग में द्रव्य परित्याग कर 'अग्नये' के स्थान में 'सूर्य्याय' पद का प्रक्षेप कर लेते हैं, उसे 'ऊह' कहते हैं। संकल्प के साथ मन्त्रोच्चारणादि में जो गोत्र तथा अपना नामोच्चारण है वह 'प्रवर' तथा नामधेय है। इन तीनों का मन्त्रों से सम्बन्ध है।

** वेदों के पीछे छन्दःशास्त्र बने, यह जानना चाहिये।

**सि०प०—शेषे यजुःशब्दः ॥ ३७ ॥**

प०क्र०—(शेषे) जो पादबद्ध भी नहीं, और न गान ही किये जा सकते हैं, वे सब मन्त्र (यजुःशब्दः) यजुर्वेदसंज्ञक हैं।

भा०—अवशिष्ट मन्त्र यजुर्वेद कहलाते हैं। अर्थात् पादबद्ध ऋग्वेद, गीतिबद्ध साम, और अवशिष्ट काम्यकर्मबद्ध प्रश्लिष्ट पाठ वाले मन्त्र यजुर्वेद हुए, यही वेदत्रयी कहलाती है।

सं०—चौथा अथर्ववेद का यजुर्वद में अन्तर्भाव किये जाने से पूर्वपक्ष करते हैं।

**निगदो वा चतुर्थ[१] स्याद्धर्मविशेषात्॥ ३८ ॥**

प०क्र०—(वा) पूर्वपक्ष का बोधक है (निगदः) जो मन्त्र छन्दोबद्ध और गीतियुक्त मन्त्रों के अतिरिक्त, स्पष्ट अर्थवाले हैं, उनकी यजुर्वेदसंज्ञा नहीं, किन्तु (चतुर्थम्) अथर्ववेदसंज्ञा (स्यात्) है। क्योंकि (धर्मविशेषात्) यजुः के धर्म से उसका भिन्न धर्म है।

भा०—स्पष्टार्थक मन्त्रों को निगद कहते हैं। इनकी ही 'यजुः' संज्ञा है, अथवा यजुःसंज्ञा से भिन्नसंज्ञा है। इसका निरूपण यह है—कि यद्यपि छन्दोबद्ध (पाद), तथा गीतियुक्त मन्त्रों से निगद भिन्न ही है। तब भी वह यजुः नहीं कहे जा सकते। क्योंकि यज्ञों में स्वर, पाठ, क्रम भिन्न-भिन्न हैं। जैसे 'उच्चैर्ऋचा क्रियते,' 'उच्चैः साम्ना', उपांशु यजुषा, 'उच्चैर्निगदेन'। जैसे ऋग्वेद तथा सामवेद उच्चैरुच्चारण, और यजुःका* उपांशु, पुनः निगद का उच्चैः पाठ बोला जाता है। अतः यजु से निगद भिन्न है। यदि उसके अन्तर्गत माना जावेगा, तो यजुः का उपांशुत्व और निगद का उच्चैस्त्व धर्म परस्पर विरुद्ध हो जायगा। अतः अनुमान होता है,कि यजुः में निगद का अन्तर्भाव नहीं है। किन्तु उससे अतिरिक्त ही है। उसी की 'अथर्व' संज्ञा है।

सं०—और भी हेतु दिया जाता है।

**व्यपदेशाच्च ॥ ३९ ॥**

प०क्र०—(च) और (व्यपदेशात्) यह यजुः है, यह निगद है, इस प्रकार व्यवहारभेद से भी निगद, यजुः नहीं हो सकता।

---

सूचना—(१) च०प्र०प्रे०पू०मी०सू० पाठे—'र्थ' इति पाठः; सतन्त्रवार्तिकशाबर-भाष्योपेतमीमांसादर्शने च 'र्थः' इति पाठ इति देव आचार्यः।

* उपध्मानीय अर्थात् जिनका पाठ औठों में हो वह 'पांशु' कहे जाते हैं और यजुर्वेद के 'उपांशु' कहलाते हैं क्योंकि उनके साथ वह बन्धन नहीं है।

भा०—शब्दात्मकव्यवहार से भी यही सिद्ध होता है, कि ऋग् तथा साम मन्त्रों के अतिरिक्त मन्त्रों में भी निगद यजुः यह भिन्न भिन्न हैं। यह बिना भेदकल्पना किये कैसे जाना जा सकता है।

सं०—अब इसका समाधान करते हैं।

**यजूंषि वा तद्रूपत्वात्॥ ४०॥**

प०क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के परिहारार्थ है। (यजूंषि) निगद यजुः हैं। क्योंकि (तद्रूपत्वात्) उसमें यजुः का लक्षण मिलता है।

भा०—जिनकी पादव्यवस्था भी नहीं, और न गान ही किये जा सकते हैं। छन्दःशास्त्र के भी अनुसार वह यजुःसंज्ञक मन्त्र हैं। और उसका लक्षण यही है कि ऋग् तथा साम मन्त्रों को छोड़कर निगद या अनिगद जितने मन्त्र हैं, वे सब समान होने के कारण यजु हैं। अतः निगद, यजुः से भिन्न नहीं, किन्तु यजुः के भीतर होने के कारण वह भी यजुः ही हैं।

सं०—धर्मभेद होने का यह समाधान है।

**सि०प०—वचनाद्धर्मविशेषः॥ ४१॥**

प०क्र०—(धर्मविशेषः) यजुः का उपांशुत्व और निगद का उच्चैस्त्वरूप जो धर्मविशेषरूप भेद है, वह (वचनात्) पुरुषान्तर के बोध कराने के कारण से है। अर्थात् यजुः के जो मन्त्र पुरुषान्तर को बोध कराने की दृष्टि से बोले जाते हैं, वे उच्चैःस्वर से बोले जाते हैं, और जो पुरुषान्तर को बोध नहीं कराते, वे उपांशु (शनैः) रीति से बोले जाते हैं। अतः यजुः से निगद भिन्न नहीं है।

भा०—एक होते हुये भी बीच के भेद से धर्मभेद सम्भव हो सकता है। अतः पूर्वकथितवचनानुसार उपांशुत्व तथा उच्चैस्त्वरूप धर्मभेद के कारण यजुः मन्त्र निगद से अलग नहीं किये जा सकते।

सं०—निगद के उच्चैस्त्वरूप धर्म का प्रयोजन कहते हैं।

**सि०प०—अर्थाच्च॥ ४२॥**

प०क्र०—(च) तथा निगद के यजुः होने पर भी जो उच्चैस्त्व-रूप धर्मविशेष कहा गया है, वह (अर्थात्) पुरुषान्तर को बोध करानारूप उच्चैस्त्वरूप (ऊंचेस्वर से बोलनारूप) प्रयोजन के कारण से है।

भा०—दूसरे को बोध कराने के लिये निगद का ऊँचे स्वर में पाठ होता है। यदि उसका उपांशु पाठ किया जावे, तो अन्य को यह बोध नहीं हो सकता, कि अध्वर्यु ने क्या कहा। अतः निगद का ऊँचे स्वर से पाठ

किया जाता है। इस प्रकार वह यजुः से भिन्न नहीं।

सं०—इसे यजुः और निगद कहते हैं इस व्यवहारभेद का यह समाधान किया जाता है।

**गुणार्थो व्यपदेशः ॥ ४३ ॥**

प० क्र०—(व्यपदेशः) यह यजुः है, और यह निगद है जो यह भेद व्यवहार है, वह (गुणार्थः) ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय से गुण के कारण है।

भा०—बीच के भेद को लेकर यह भेदव्यवहार होता है। अतः वह निगद और यजुः के पारस्परिक भेद का समर्थक नहीं।

सं०—सब शङ्का होती है।

**पू०प०—सर्वेषामिति चेत्॥ ४४ ॥**

प०क्र०—जो ऊँचे स्वर से बोला जाय, वह निगद है, ऐसा माना जाय, (सर्वेषाम्) तो ऋग् भी "निगद" हो जावेगा। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कथन किया जावे, तो समीचीन नहीं।

भा०—निगद-मन्त्रों का यजुः में अन्तर्भाव नहीं किन्तु वह अन्तर्भाव ऋग्वेद में है। क्योंकि ऋग्वेद-मन्त्र और निगद यह दोनों उच्च स्वर से पढ़े जाते हैं। उच्चैस्त्व इनका समान धर्म है।

सं०—उपर्युक्त आशङ्का का समाधान करते हैं।

**सि०प०—न ऋग्व्यपदेशात्॥ ४५ ॥**

प०क्र०—(न ऋग्) उच्चैस्त्व धर्म के समान होते हुए भी ऋग्-मन्त्रों में निगद का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि उनमें (व्यपदेशात्) ऋग् से भिन्न धर्म का उपदेश मिलता है।

भा०—कहा गया है कि 'अयाज्या वै निगदाः', 'ऋचैव यजन्ति' अर्थात् निगद याग के योग्य नहीं, तथा ऋचाओं से यज्ञ होता है। ऐसा कहने से यह सिद्ध होगया, कि ऋग् और निगद भिन्न हैं। और इसी कारण उच्च-स्वर-पाठ की समानता होते हुए भी ऋग्वेद में निगद का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। पत्युत यजुर्लक्षण के समान होने से, निगद यजुः के ही अन्तर्गत हैं।*

---

* मन्त्र संहिता (संहिताभाग) को वेद कहा है। वह ऋग्, यजुः और साम इन तीन प्रकार के मन्त्रों में विभक्त है और कोई चौथा प्रकार नहीं मिलता। इतना होते हुये भी मन्त्र दो ही प्रकार के अर्थात् गद्य और पद्यात्मक होते हैं। ऋग्वेद में 'पद्य' मन्त्र और यजुर्वेद में 'गद्य' मन्त्र हैं। यही मन्त्र जो गान

## १४—एकवाक्यताधिकरणम्

सं०—अब एकवाक्य का लक्षण करते हैं।

### सि०प०—अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्वि भागे स्यात्॥ ४६॥

प०क्र०—(अर्थैकत्वात्) जिन क्रिया और कारक पदों के मेल से एक अर्थ की प्रतीति होती है। (चेत्) और यदि (विभागे) उनमें से किसी भी एक पद को अलग कर दें, तो (साकाङ्क्षम्) अन्य पद उसकी आकाङ्क्षा रखते हों, (एकं वाक्यम्) ऐसे पदसमूह को एक वाक्य कहते हैं।

भा०—जब एक पद के बिना वाक्यार्थ बोध न करा सके उसे (दूसरे पद की इच्छा को) 'आकांङ्क्षा' कहते हैं। जैसे 'विष्णुदत्तः पद्भ्यां ग्रामं गच्छति' इस वाक्य में विष्णुदत्त को 'गच्छति' क्रिया के बिना, और गच्छति को विष्णुदत्त के बिना पांव से गांव जाता है, ऐसा बोध होना असम्भव है। इसी को ही वाक्यार्थबोध की असम्भवता मानते हैं। साकाङ्क्ष क्रिया, कर्त्ता, कर्म और करणादि कारकरूप पदसमूह, क्रिया कर्त्ता अथवा कर्मादि में से किसी एक के भी न रहने पर वाक्यार्थबोध नहीं करा सकता। प्रत्युत बोध के लिये उस त्यक्तपद की अकाङ्क्षा होने से सर्वदा साकाङ्क्ष (इच्छावाला) रहता है। और उसकी उपलब्धि हो जाने पर निराकाङ्क्ष वाक्यर्थबोध कराता है। ऐसा क्रिया-कारक पदसमूह 'एकवाक्य' कहलाता है।*

## १५—वाक्यभेदाधिकरणम्

सं०—अब अनेक वाक्य का लक्षण करते हैं।

---

किये जा सकें, उन्हें साम कहते हैं और जो स्पष्ट अर्थ के द्योतक हैं, उन्हें निगद अर्थात् अथर्ववेद कहा गया है। वर्तमान काल में जो मन्त्रसंहिता मिलती हैं, उनमें मन्त्र सब परस्पर मिले हुये हैं। इस कारण ऋग्-मन्त्र यजुः में, और यजुः—मन्त्र ऋग् में पाये जाते हैं। अतः वैदिक लोग प्रथम ऋग्, यजुः भेद से दो प्रकार का भेद करके पुनः हर एक के दो-दो प्रकार के भेद मानकर चार प्रकार का वेद मानते हैं। इसी कारण साम-ऋक् का और अथर्व यजुः का अवान्तर भेद हो गया है।

* 'इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु' इत्यादि मन्त्र में निराकाङ्क्षपदसमुदाय का एकार्थ है। यदि इसमें से एक भी पद निकाल दिया जावे, तो वह साकाङ्क्ष हो जावेगा।

सूचना—समः=परस्परानाकाङ्क्षः पदसमूह इति देव आचार्य।

## सि०प०—समेषु वाक्यभेदः स्यात्॥ ४७॥

प०क्र०—(समेषु) जो निराकाङ्क्ष पदसमुदाय है उसमें (वाक्यभेदः) प्रतिसमूह वाक्यभेद (स्यात्) माना जाता है।

भा०—अनेकवाक्य का लक्षण इस कारण करना पड़ा, कि यजुर्वेद (अ० ४।४) के मन्त्र 'चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु' इत्यादि, तथा आयुर्यज्ञेन कल्पताम्-(यजुः-१८।२९) इत्यादि मन्त्र में एकार्थकक्रिया होने से संपूर्णपदसमूहरूप वाक्य एक है, नाना वाक्य नहीं हैं। ऐसा पूर्वपक्षी कहता था, उसका यह समाधान है, कि जो पदसमूह दूसरे पदसमूह की इच्छा नहीं रखता। ऐसे पदसमूहरूप वाक्य भिन्न भिन्न मानने चाहियें, न कि एक। चित्पतिर्मा आदि मन्त्रों में अपना-अपना अर्थज्ञान कराने में परस्पर नैराकाङ्क्ष्य होने से समानता है। अतः प्रथम समूह से एक वाक्य, और दूसरे समूह से दूसरा वाक्य, इसी क्रम से आगे भी उत्तरोत्तर वाक्य हैं। अतः इसी क्रम के अनुसार यजुः-मन्त्रों में सर्वत्र एकवाक्य तथा नानावाक्य की कल्पना कर लेनी चाहिये।

### १६—अनुषङ्गाधिकरणम्

सं०—अध्याहार कर लेने के लिए भी कहते हैं।

## सि०प०—अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात्॥ ४८॥

प०क्र०—(वाक्यसमाप्तिः) वाक्य की परिसमाप्ति के लिए (अनुषङ्गः) पदान्तर का योग (सर्वेषु) जिन वाक्यों में अपेक्षित हो, उसका वहाँ अध्याहार कर लेना चाहिये। क्योंकि (तुल्ययोगित्वात्) उसका सबसे तुल्य सम्बन्ध है।

भा०—पहिले बतलाया जा चुका है, "चित्पतिर्मा पुनातु" मन्त्र का "अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः" यह अन्तिम वाक्य शेष है। इसका 'चित्पतिर्मा पुनातु' में अनुषङ्ग है अथवा नहीं, इस सन्देह को दूर करने के लिये कहते हैं, कि 'देवो मा सविता पुनातु' (यजु० ४।४) वाक्य में जिस प्रकार पुनातु क्रिया को करण अपेक्षित है, उसी प्रकार पूर्व के उभय वाक्यों में आया हुआ 'पुनातु' क्रियापद भी 'करण' की इच्छा रखता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि अन्तिम वाक्य के समान पूर्व के दोनों वाक्यों में भी उक्त करणरूप वाक्यशेष का अनुषङ्ग कर लेना चाहिये, अध्याहार करना ठीक

नहीं।*

सं०—अनुषङ्ग के अपवाद का निरूपण करते हैं।

**सि०प०—व्यवायान्नानुषज्येत॥ ४९॥**

प०क्र०—(व्यवायात्) मध्य में व्यवधान अर्थात् अन्तर होने से (न अनुषज्येत) अनुषङ्ग नहीं होता।

भा०—इस मन्त्र में कि ''सन्ते वायुर्वातेन गच्छताम्'' 'सं यजत्रैरङ्गानि' 'सं यज्ञपतिराशिषा' इनमें 'गच्छताम्' क्रिया का अनुषङ्ग 'सं यज्ञपतिराशिषा में है या नहीं' ऐसी शङ्का होने पर संगति के लिये उत्तर दिया जाता है, कि अनुषङ्ग न बतलाये गये वाक्यों में ही होता है, बतलाये हुओं में नहीं होता। 'सन्ते' तथा 'सं यज्ञ' वाक्यों के बीच में 'सं यजत्रैरङ्गानि' वाक्य का व्यवधान है। इस कारण उक्त (गच्छताम्) क्रिया का, अन्तिमवाक्य में अनुषङ्ग नहीं हो सकता। अब यह कि 'सं यजत्रैरङ्गानि' में 'गच्छताम्' का अनुषङ्ग क्यों नहीं होता, तो इसका उत्तर यह है-कि 'गच्छन्ताम्' इस प्रकार एकवचन का बहुवचन परिणाम करने से, श्रुतपद जो एकवचन गच्छतां था, उसका अनुषङ्ग नहीं माना जा सकता। अतः समङ्गानि वाक्य में सम्बन्ध न होने से अन्तिमवाक्य में भी गच्छताम् का अनुषङ्ग नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि एकवचन तथा बहुवचन लौकिकक्रिया का अध्याहार करके वाक्यार्थ पूर्ण कर लेना चाहिये, अनुषङ्ग करना ठीक नहीं।

**द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः समाप्तः।**

## अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः प्रारभ्यते

सं०—आख्यात पद का वाच्य और गौण तथा प्रधान दो भाँति से धर्म का स्पष्टीकरण, पिछले पाद में किया जा चुका है। अब याग, होम, दान इत्यादि रूप से उस कथित कर्मरूपधर्म के अनेक भेद निरूपण करने के लिए आख्यात भेद का स्पष्टीकरण करते हैं।

### १—शब्दान्तराधिकरणम्

**सि०प०—शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्॥ १॥**

प०क्र०—(शब्दान्तरे) आख्यात (तिङन्तपद) भेद होने से

---

* एक वाक्य में सुने हुए पद का जो वाक्यान्तर के साथ सम्बन्ध है, उसको अनुषङ्ग कहते हैं।

(कर्मभेदः) कर्म का भेद है। क्योंकि (कृतानुबन्धत्वात्) आख्यात भेद से कर्म भेद का सम्बन्ध नियत है।

भा०—यजेत से जुहोति ददाति आदि। तथा जुहोति से यजेत, ददाति इत्यादि। एवं ददाति से यजेत, जुहोति आदि शब्दान्तर हैं। तथा शब्दान्तर का कर्म भेद के साथ नियतसम्बन्ध है। यथा 'कटं करोति' 'पुरोडाशं पचति' 'ग्रामं गच्छति' इत्यादि में 'करोति' के कर्ता का कटकरण क्रिया के साथ, पचति के कर्ता का पुरोडाशपचनक्रिया के साथ, तथा गच्छति के कर्ता का गमनक्रिया के साथ योग है। अब यदि इन आख्यातपदों का एक ही कर्म अर्थ माना जाय, तो शब्दान्तर का प्रयोग सर्वथा निरर्थक हो जायगा। अतः उन्हें एक ही कर्म का वाचक कहना ठीक नहीं, यथाक्रम याग, होम, दान* इत्यादिरूप भिन्न-भिन्न कर्म के वाचक हैं।**

सं०—अभ्यास के द्वारा कर्म भेद का निरूपण करते हैं।

## २—अभ्यासाधिकरणम्

## सि०प०—एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात्॥ २॥

प०क्र०—(एकस्य) एक आख्यात पद का (पुनः श्रुतिः) पुनः पुनः सुनना भी (एवम्) पूर्वोक्त अख्यातभेद के समान कर्म का भेदक है। (हि) क्योंकि निश्चय ही (अविशेषात्) कर्म भेद न मानने पर एकप्रयोग का बार-बार पढ़ना। (अनर्थकम्) व्यर्थ (स्यात्) हो जायगा।

भा०—'समिधो[१] यजति' 'तनूनपातं यजति' 'इद्रो यजति' 'बर्हिर्यजति' 'स्वाहाकारं यजति' इन वाक्यों में पाँच बार 'यजति' शब्द सुने जाने से, यह शब्द एक ही कर्म का प्रतिपादक है, अथवा प्रति श्रवण (बार-बार सुनने के कारण) विभिन्नकर्मों का विधान करने वाला है। यद्यपि यहाँ पिछले अधिकरणों की भांति आख्यात भेद नहीं, केवल एक ही 'यजति' शब्द का पुनः वुनः श्रवण, प्रयोगवश किया गया है, तब भी यहाँ एक ही

---

* परमात्म उद्देश्य से द्रव्योत्सर्गरूप कृत्य का नाम याग। त्यागपूर्वक अग्नि में द्रव्य डालने को 'होम' और अपने अधिकार का त्याग कर दूसरे को उत्सर्ग किये हुए पदार्थ का अधिकारी बनाना 'दान' कहलाता है।

** यथा—सोमेन यजेत, अग्निहोत्रं जुहोति, 'हिरण्यमात्रेयाय ददाति।'

सूचना—(१) तै०सं० १।१।२।, श०ब्रा० १।४।५।१। (जै०न्या०टि०) इति देव आचार्यः।

कर्म नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा मानने से 'यजति' शब्द का बार-बार सुनना वृथा हो जाता है, अतः 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्य भिन्न-भिन्न कर्म के विधायक हैं, न कि एक ही कर्म के।

पं०—विद्वद्वाक्य 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' इत्यादि को 'आग्नेय' आदि याग का अनुवादक निरूपण करते हैं।

## ३—पौर्णमास्यधिकरणम्

## सि०प०—प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात्॥ ३॥

प०क्र०—'तु' शब्द कर्मान्तरविधान की शङ्का का परिहारक है। (पौर्णमास्यां प्रकरणम्) 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' विद्वत् शब्दयुक्त यह विद्वद्वाक्य, उस प्रकरण में पढ़े गये—'आग्नेय'! आदि याग का अनुवादक है, न कि विधायक। क्योंकि (रूपावचनात्) उससे याग के रूप (देवतादि) का भान नहीं होता।

भा०—(१) जो प्रकाशमय परमात्मदेव के उद्देश्य से अमावस्या तथा पौर्णमासी में प्रदत्त 'अष्टाकपाल' अच्युत होता है (२) प्रकाश तथा सौम्यस्वभाव परमात्मदेव के उद्देश्य से पौर्णमासी में घृत से 'उपांशु' करे (३) दधि तथा घृत का, अमावस्या में सर्वैश्वर्ययुक्त परमात्मात्मा के निमित्त याग करे, इत्यादि में आग्नेय, ऐन्द्र[१], यह तीन तो दर्शनामवाले, और आग्नेय, उपांशुयाज, अग्निषोमीय-यह तीन पूर्णमाससंज्ञक, अर्थात् दर्श और पूर्णमास संज्ञा वाले 'आग्नेय आदि षट्-याग को विधान करके' 'य[२] एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वान् अमावस्यां यजते' वह ऐहिक और पारलौकिक सुख को प्राप्त होता है। यहाँ विद्वद्वाक्य पढ़ा है वह पौर्णमासी संज्ञा वाले 'आग्नेय' आदि षट्-याग का अनुवादक है, अथवा पौर्णमास और अमावास्यासंज्ञक कर्मान्तर का प्रतिपादक है। ऐसी शङ्का होने पर यह जानना चाहिये कि 'द्रव्य तथा देवता' यह दोनों याग के स्वरूप हैं। यह प्रतीति द्रव्य तथा देवता के तृतीयान्त तथा चतुर्थ्यन्तपद अथवा तद्धितप्रत्यय से होती है। क्योंकि विद्वद्वाक्य में पौर्णमासी और अमावस्या पद द्वितीयान्त हैं। उस में द्रव्य और देवता की प्रतीति नहीं। इस कारण वह किसी अपूर्वकर्म के प्रतिपादक नहीं। अतः पौर्णमासी तथा अमावस्या में वह विद्वद्वाक्य किसी कर्मान्तर का बतलाने वाला नहीं। अपितु 'अमावस्या' पद से 'दर्श'

---

सूचना—(१) ऐन्द्र-नाम्ना यागद्वयं गृह्यते—इति देव आचार्यः।

सूचना—(२) तै०सं० २।६।३।३। (जै०न्या०टि०) इति देव आचार्यः।

नाम वाले 'आग्नेय' आदि तीन, और पौर्णमासी पद से 'पूर्णमास' संज्ञावाले 'आग्नेय' आदि दूसरे 'तीन' का अनुवादक है। अर्थात् द्रव्य, देवतारूप याग का स्वरूपभाव न होने से, वह विद्वद्वाक्य पौर्णमासी तथा अमावस्या में कर्मान्तरसंख्या का प्रतिपादक होने से दर्शपूर्णमास नामवाले आग्नेय आदि प्रकृत षट्-याग का अनुवादक है।

पू०प०—सं०—यदि विद्वद्वाक्य अनुवादक है, तो प्रयाज का भी अनुवादक क्यों नहीं। क्योंकि 'आग्नेय' आदि के सदृश वह (प्रयाज) भी तो प्रकृतयाग है।

**उ०प०—विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात्॥ ४॥**

प०क्र०—(समेषु) समानभाव से प्रकृत (प्रकरण में स्थित) होते हुए भी—(सर्वेषाम्) 'आग्नेय' तथा 'प्रयाज' इन सब यागों के अनुवाद करने की (अप्रवृत्तिः स्यात्) विद्वद्वाक्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। (हि) क्योंकि निश्चय ही (विशेषदर्शनात्) आग्नेय आदि में काल-सम्बन्धरूप अधिक पाया जाता है। (च) और वह प्रयाजादि में नहीं मिलता।

भा०—विद्वद्वाक्य में आया पौर्णमासी तथा अमावस्या पद, पौर्णमासी तथा अमावस्या काल में होने वाले कर्मविशेष का वाची है, न कि कालमात्र अथवा कर्ममात्र का। इस कारण आग्नेय आदि तथा प्रयाज आदि के मध्य में से आग्नेय आदि षट् याग आदि ही पौर्णमासी और अमावस्या कालसहित बतलाये गये हैं। अतः समानभाव से पढ़ा जाने पर भी वह विद्वद्वाक्य केवल 'आग्नेय' आदि षट् याग का ही अनुवादक है, न कि प्रयाजादि का।*

सं०—इसमें पूर्वपक्ष उठाते हैं।

**पू०प०—गुणस्तु श्रुतिसंयोगात्॥ ५॥**

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष का द्योतक है। (गुणः) उस विद्वद्वाक्य द्वारा बतलाये गये कर्म में द्रव्य, देवतारूप गुण का विधान है, (श्रुतिसंयोगात्) उनके संयोग का श्रवण होने से। अर्थात् उनमें उन गुणों का संयोग पाया

* समिधो यजति, तनूनपातं यजति-आदि वाक्यों में बतलाये ये घृताहुतिरूप पाँच याग की 'प्रयाज' संज्ञा है। उपर्युक्त पांचों प्रयाज, और घृतादिरूप तीन अनुयाज तथा चार अथवा आठ पत्नीसंयाज, ये सब आग्नेय आदि षट् प्रधान याग के अंग याग हैं। प्रयाज पूर्वाङ्ग और अनुयाजादिक उत्तराङ्ग कहे जाते हैं।

जाता है।

भा०—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' आदिवाक्य दर्शपौर्णमासनामक 'आग्नेय' आदि यज्ञ का विधान नहीं करते, किन्तु वाक्य द्वारा बतलाये हुए कर्म में द्रव्य, देवतारूप गुण का विधान करते हैं। भाव यह है कि 'यदाग्नेय' आदि वाक्य गुणविधि हैं, न कि 'क़र्मविधि'। अतः रूपावचनरूप हेतुमात्र से विद्वद्वाक्य को अपूर्वकर्म का विधायक न मानकर अनुवादक मानना उचित नहीं, अपितु उसको गुणविधि मानना चाहिये।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्राच्चोदिते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्यते॥ ६॥**

प०क्र०—'वा' पूर्वपक्ष के परिहार के लिये आया है। (चोदना) कर्मविधिवाक्य 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' इत्यादि गुणविधिविधायक नहीं। क्योंकि (गुणानाम्) द्रव्य, देवता रूप गुणों का (युगपत्-शासनात्) एक काल में ही शासन (कथन) होने से। क्योंकि (चोदिते) वाक्यान्तर से विहितकर्म में ही (तस्य तस्य उपदिश्यते) पृथक् पृथक् उपदेश किया जाता है। (हि) क्योंकि निश्चय ही (तदर्थत्वात्) वे बतलाये हुए कर्म के लिए हैं।

भा०—यदि विद्वद्वाक्य को अपूर्वकर्म का विधायक मानकर, उसमें अपेक्षित द्रव्य, देवतारूप गुणों के विधायक 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' इत्यादि को मान लिया जाय, तो जिस प्रकार 'आघारमाघारयति' वाक्य में बतलाये गये 'आघार' नामवाले कर्म के लिए आवश्यक 'ऋतुत्व' और 'सन्तत' रूप गुणों का, 'ऋजुमाघारयति' 'सन्ततमाघारयति' के द्वारा पृथक् पृथक् विधान किया गया है, उसी प्रकार 'यदाग्नेय' आदि से भी उक्तगुणों का पृथक् विधान होना चाहिये था। परन्तु उन वाक्यों में द्रव्य देवतारूप गुणों का एक विधान मिलने से यह अनुमान होता है, कि उस वाक्य में द्रव्य देवतारूपगुणविशेष अपूर्वकर्म के विधान करने वाले हैं, न कि गुणविधायक हैं।

सं०—वाक्यों के गुणविधि न होने में और भी हेतु देते हैं।

**सि०प० सहा०—व्यपदेशश्च॥ ७॥**

प. क्र.—(च) और जिस प्रकार द्रव्य, देवतारूप गुणों का एक साथ विधान, गुणविधि का समर्थक नहीं, (तद्वत्) उसी प्रकार (व्यपदेशः)

समुच्चय व्यपदेश (कथन) भी गुणविधि का समर्थक नहीं है।

भा०—अमावस्या में यह आहुतियाँ (उग्राणि ह वा एतानि हवींषि अमावास्यायां संश्रयन्ते आग्नेयं प्रथमम् ऐन्द्रे उत्तरे) प्रधान हविः की हैं। इनमें पूर्व अग्नि=परमात्मा, और शेष दोनों इन्द्र-परमात्मा के निमित्त दी जाती हैं। यहाँ अमावास्या में जो तीन समुदायरूप हवि का उपदेश है, वह 'यदाग्नेय' आदि वाक्यों की गुणविधि में नहीं आता। क्योंकि उससे 'अमावास्या' याग में अग्नि और इन्द्र नामवाले अनेक देवताओं का विधान मिलता है। परन्तु विद्वद्वाक्य में कहा गया 'अमावास्या' याग एक है, और एकयाग में अनेक देवताओं का एक साथ होना असम्भव है। अतः विद्वद्वाक्य अनुवादक ही है। विधायक नहीं।

सं०—इस अर्थ में और भी हेतु देते हैं।

**उ०प० सहा०—लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ८ ॥**

प०क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) 'चतुर्दशपौर्णमास्याम्' इस प्रकार का संकेत पाया जाने से 'यदाग्नेयः' इत्यादि वाक्य गुणविधि नहीं, किन्तु कर्मविधि ही हैं।

भा०—चौदह पौर्णमास में, और तेरह-आहुति अमावास्या में दी जाती हैं। इस वाक्य में तेरह 'और चौदह आहुतियों का कथन है।' 'यदाग्नेय' आदि वाक्यों में कर्मविधि उसका लिङ्ग है। क्योंकि विद्वद्वाक्य विधायक माना जाय, तो पूर्वोक्त संख्या की अपूर्णता होती है। अर्थात् पाँच 'प्रयाज'। तीन 'अनुयाज'। दो 'चक्षुः', 'जिसमें' आज्य भाग और 'स्विष्टकृत' नामक हविर्दान है, यह १० अथवा ११ हविः अङ्ग हैं। इन तीन प्रधान हवियों के मिलाने से वह संख्या पूर्ण हो जाती है। उन तीन हविः का विधान 'यदाग्नेयः' वाक्यों से ही मिलता है, न कि विद्वद्वाक्य से। अतः वह वाक्य गुणविधायक नहीं, किन्तु कर्म विधायक है। अतः पौर्णमास तथा अमावास्या नामक तीन-तीन प्रधान आहुतिरूप कर्म का विद्वद्वाक्य अनुवादक है।

सं०—अब पूर्वपक्ष करते हैं कि:—

## उपांशुयाजधिकरणम्

**पू०प०—पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् ॥ ९ ॥**

स०क्र०—(पौर्णमासीवत्) जिस प्रकार 'पौर्णमासी पद का विद्वद्वाक्य अनुवादक है, उसी प्रकार (उपांशुयाजः स्यात्) उपांशुयाज भी 'उपांशुयाज-मन्तरा यजति' इत्यादि वाक्य द्वारा अनुवादक है।

भा०—'उपांशुयाजमन्तरा यजति' इस वाक्य में द्रव्य देवता रूप याग सिद्ध नहीं होता, और विधायक लिङादिप्रत्यय होने के कारण, 'यजति' पद से याग का विधान भी नहीं मिलता। अत एव वह वाक्य (उपांशुयाजमन्तरेत्यादि) अपूर्वकर्मविधान नहीं करता। किन्तु विद्वद्वाक्य के समान 'विष्णवादि' वाक्य में बतलाये यागत्रय का अनुवादक है। सारांश यह है कि विष्णवादि में बतलाये गये यागत्रय अपूर्वकर्म के विधान करनेवाले हैं, और 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' उसका अनुवादक है।

सं०—अब पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—चोदना वाऽप्रकृतत्वात्॥ १०॥**

प०क्र०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष के खण्डन के लिये आया है। (चोदना) यह कर्मविधायक विधि है, अनुवादक नहीं। क्योंकि 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' में ऐसा ही मिलता है। (अप्रकृतत्वात्) प्रकृतयाग का अभाव होने से।

भा०—'उपांशुयाजमन्तरा' यह वाक्य उपांशुयाज नामक अपूर्व कर्म का विधानकर्त्ता है, और 'विष्णुरूपांशु यष्टव्यः' इत्यादि वाक्य स्तुतिकरने वाले होने के कारण उसके अर्थवाद हैं।

सं०—इसे 'उपांशुयाज' क्यों कहते हैं।

**सि०प०—गुणोपबन्धात्॥ ११॥**

प०क्र०—(गुणोपबन्धात्) उपांशुत्वरूप गुणसंबन्ध से उस कर्म (याग) की संज्ञा 'उपांशु' है।

भा०—इस समस्तकर्म (याग) में 'उपांशु' मन्त्रोच्चारण है। अतः इसको 'उपांशुयाज' कहते हैं।*

सं०—कर्म के प्रधान होने में हेतु देते हैं।

**प्राये वचनाच्च॥ १२॥**

प०क्र०—(च) तथा वे (प्राये) प्रधानकर्मों के भीतर (वचनात्) पाठ पाया जाने से प्रधान हैं।

भा०—पौर्णमासी** कर्म का 'आग्नेययाग' मस्तक है, उपांशुयाज हृदय, तथा अग्नीषोमीय याग चरण हैं। ऐसा पाठ मिलता है। यदि वह

---

* होठों के भीतर ही अर्थात् मुख के भीतर ही कह लेने को उपाशुं कहते हैं।

** तस्य वा एतस्याग्नेय एव शिरः हृदयमुपांशुयाजः—पादावग्नीषोमीयः।

प्रधान न होता तो प्रधानयागों में उसका पाठ न पाया जाता। उसी पाठ के कारण यह अनुवादक सिद्ध होता है। अतः वह भी प्रधानयाग ही है। क्योंकि प्रधानयाग में प्रधान का ही पाठ हो सकता है, न किसी और का। अत एव 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' यह वाक्य, उपांशुयाज—नामक प्रधानभूत याग का विधानकर्त्ता है, न कि अनुवादक है।

सं०—'आघार' वाक्य और 'अग्निहोत्र' या अपूर्वकर्म विधान करते है, इसका निरूपण करते हैं।

## ५—आघाराग्निहोत्राधिकरणम्

## पू०प०—आघारग्निहोत्रमरूपत्वात्॥ १३॥

प०क्र०—(आघारग्निहोत्रम्) आघार और अग्निहोत्र वाक्य अनुवादक हैं, क्योंकि (अरूपत्वात्) उनसे यागस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती।

भा०—'आघारमाघारयति' यह वाक्य 'ऊर्ध्वमाघारयति' तथा 'ऋजुमाघारयति' इस कर्मसमुदाय का अनुवादक है। और 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह वाक्य 'दध्ना जुहोति' 'पयसा जुहोति' इस कर्मसमुदाय का अनुवादक है। उपर्युक्त दोनों वाक्य (आघारम्, अग्निहोत्रम्) कर्म के विधायक नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों के अन्दर द्रव्य, देवता लक्षण यागरूप का अभाव है। अतः दोनों वाक्य अपूर्वकर्म के विधायक नहीं, किन्तु अनुवादक ही हैं।*

सं०—इसमें हेतु भी देते हैं।

## पू०प० सहा०—संज्ञोपबन्धात्॥ १४॥

प०क्र०—(संज्ञोपबन्धात्) उपर्युक्त वाक्यों से संज्ञा का सम्बन्ध मिलता है। अतः वह विधायक नहीं कहे जा सकते।

भा०—'अग्निहोत्रं जुहोति' 'आघारमाघारयति' में द्वितीया-विभक्ति द्वारा अग्निहोत्र और आघार की ओर संकेत किया है। अतः वह कर्म प्रतीत होते हैं। परन्तु सिद्धकर्म की नामनिर्देशपूर्वक कहा जाता है, न कि असिद्ध। अतः इस नियम के अनुसार 'अग्निहोत्र' तथा 'आघार' सिद्धकर्म के नाम हैं। और अग्निहोत्र वाक्य एवं आघारवाक्य उसके अनुवादक हैं, न कि विधायक।

सं०—उस अर्थ में हेतु देते हैं।

---

* अग्निहोत्रं जुहोति, दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति, आधारमाघारयति, ऊर्ध्वमाघारयति, ऋजुमाघारयति, इस अधिकरण का विषय है।

## पू०प० सहा०—अप्रकृतत्वाच्च ॥ १५ ॥

प०क्र०—(च) तथा (अप्रकृतत्वात्) प्रकरण में आये हुए वाक्यों से भी द्रव्य देवता की उपलब्धि नहीं होती।

भा०—अग्निहोत्रवाक्य और आघारवाक्य द्रव्यदेवता के द्योतक नहीं। उसी प्रकार वाक्यान्तर से भी कोई द्रव्य तथा देवता की प्रतीति नहीं होती। और अपूर्वकर्म का स्वरूप द्रव्य तथा देवता माना गया है। वह यदि प्रतीत न हो, तो ऐसे वाक्यों को अपूर्वकर्मों का विधायक नहीं कहा जा सकता। अत: वह विधायक के स्थान में अनुवादक ही माने जावेंगे।

सं०—अब पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

## चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्, तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुन: श्रुति: ॥ १६ ॥

प०क्र०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष के परिहार के लिये कहा गया है। (चोदना) अग्निहोत्र तथा आघारवाक्य कर्मविधायक होने से अनुवादक नहीं कहे जा सकते। क्योंकि (शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्) अग्निहोत्र तथा आघाररूपशब्द का प्रयोग होने से। (तत्सन्निधे:) उनके समीप (श्रुति:) पढ़े गये दधि आदि वाक्य (पुन: गुणार्थेन) गुणविधान के लिये हैं, अर्थात् गुणविधि हैं।

भा०—यद्यपि 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'आघारमाघारयति' वाक्यों से द्रव्य तथा देवतारूप का द्योतन नहीं पाया जाता। तब भी उनमें अग्निहोत्र तथा आघारकर्म की कर्त्तव्यता प्रतीत होती है कि पुरुष को अग्निहोत्र तथा आघारकर्म करना चाहिये। और जो उसके समीप दध्यादि वाक्य पढ़े हैं, वह उस कर्म के लिए आवश्यक द्रव्यरूप गुणमात्र के विधान करने वाले हैं, न कि गुणविशिष्ट अपूर्वकर्म के। क्योंकि दधि आदि गुणवाची हैं। उनका लक्षणावृत्ति से ही अर्थ हो सकता था। और विशेष अर्थ न होने से 'जुहोति' पद के सम्बन्ध न होना सम्भव न था। भाव यह है-कि दधि पद का अर्थ दधि द्रव्य, और जुहोति पद का अर्थ होम है। द्रव्य और क्रिया का समानाधिकरण सम्बन्ध हो नहीं सकता, अर्थात् द्रव्य क्रियारूप नहीं हो सकता। अत: उस सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिये द्रव्यपद की द्रव्यवाले में लक्षणा की जाती है। यह लक्षणा उसी समय होनी चाहिये, जब कोई अन्य वाक्य विधायक न मिलता हो। परन्तु यहाँ ऐसा नहीं, यहाँ तो अग्निहोत्र वाक्य को अपूर्वकर्म का विधायक, एवं दधि आदि वाक्य को दधिरूपगुण

का विधायक उभयवाक्य चरितार्थ हो सकते हैं। अतः मत्वर्थलक्षणा के मानने से, की आवश्यकता नहीं। उसी प्रकार आघारकर्म में भी परमात्म उद्देश्य से किया कर्म बड़े फल का देने वाला होने से 'आघार' कर्म कर्त्तव्य है। और द्रव्य तथा देवता का समीपस्थ-वाक्यों द्वारा ज्ञान कर लेना चाहिये। अतः वे वाक्य अनुवादक नहीं, किन्तु अग्निहोत्र तथा आघारसंज्ञक अपूर्वकर्म के विधानकर्त्ता हैं, यही मानना ठीक है।

सं०—अब वाक्यों को अपूर्वकर्म का विधानकर्त्ता कहते हैं।

## ६—पशुसोमाधिकरणम्

**द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः, प्रकरणे ह्यनर्थको द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन॥ १७॥**

प०क्र०—(पशुसोमयोः) 'सोमेन यजेत', तथा 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (चोदना) दोनों वाक्य अपूर्वकर्म के विधानकर्त्ता हैं। उनमें 'द्रव्यसंयोगात् द्रव्य का योग पाया जाता है।' (हि) यदि (प्रकरणे) प्रकरण में पढ़े हृदयादि 'और ऐन्द्रवायवादि' वाक्यों को विधानकर्त्ता मानें, तो (द्रव्यसंयोगः) सुने हुये द्रव्य का योग (अनर्थकः) व्यर्थ हो जाता है। अतः (तस्य) उसका श्रवण (गुणार्थेन) गुणरूप से भी (न हि) नहीं हो सकता है।

भा०— *'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' और 'हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः' अर्थात् प्रकाश एवं सौम्यस्वभाव परमात्मा के निमित्त पशु का उत्सर्ग (त्याग) करे, अथवा पशु के हृदय जीभ और छातीसम्बन्धी आगे के भाग को किसी रङ्गविशेष से चित्राङ्कित 'चिह्नित' करे। इसी प्रकार 'सोमेन यजेत' सोमयाग करे, और 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' 'आश्विनं गृह्णाति' ऐन्द्रवायव (इन्द्र वायु देवतावाले) तथा आश्विन-नामवाले पात्र का ग्रहण करे। इनमें अवद्यति और गृह्णति-वाक्य अपूर्वकर्म के विधान करनेवाले हैं,

---

१. 'इन्द्र उर्ध्वोऽध्वरो दिवि स्पृश मह्वत यज्ञो यज्ञपतेरिन्द्रावान् स्वाहेत्याघारयति' इति मन्त्रेण (इन्द्रः) देवताः, 'चतुगृहीतं वा एतद भूत् तस्याघारमाघार्य इत्यादिन द्रव्यं च विधीयते।'

* यज्ञ में पशबलि समर्थक आलभते क्रिया का अर्थ हनन अर्थात् मारना कहते हैं। वह अर्थ दूषित होने से त्याज्य है आलभेत का अर्थ स्पर्श, लाभ करना आदि उत्तम अर्थ है, पशुबलि समर्थक महीधर ने भी यजुर्वेद भाष्य में कात्यायन सूत्र का प्रमाण देकर 'यजमानमालभते' यज मान का स्पर्श ही 'आलमते' पद का अर्थ किया है, न कि याजमान को मार डालना।

तथा आलभति, यजति, वाक्य उसके अनुवादक अथवा अपूर्वकर्म के विधानकर्ता, एवं अवद्यति, गृह्णाति वाक्य में अपेक्षित पशु और सोमरूपद्रव्य के संस्कार को बतलाते हैं, या किसी अन्य कार्य को, ऐसी शङ्का होने पर यह उत्तर है—कि परमात्मा के निमित्त द्रव्यविशेष के उत्सर्ग को याग कहते हैं, और अवद्यति तथा गृह्णाति वाक्यों से परमात्मा के निमित्त द्रव्यविशेष का उत्सर्ग नहीं मिलता, किन्तु अवद्यति का अर्थ चित्रीकरण, और गृह्णाति का अर्थ है ग्रहण, न कि त्याग। और यदि हृदयादि द्रव्यमात्र के सुनने से ही उस वाक्य को द्रव्यविशेष या अपूर्वकर्म का विधायक मानकर, आलभति और यजति वाक्य को उसका अनुवादक मानें, तो पशु तथा सोमरूप द्रव्य का सुना जाना व्यर्थ सा प्रतीत होता है। और केवल कर्म-विधायक मानकर आलभति और यजति-वाक्य को पशु एवं सोमरूपगुण का ही विधानकर्त्ता कहें, तो हृदयादि द्रव्य का उपदेश सार्थक नहीं रहता। अत एव साक्षात् द्रव्य का सम्बन्ध मिलने से आलभति और यजति वाक्य अपूर्वकर्म के बतलानेवाले हैं, अवद्यति आदि नहीं हैं।

सं०—अवद्यति आदि संस्कार कर्म का विधानकर्त्ता है, इसका निरूपण करते हैं।

**सि०प०—अचोदकाश्च संस्काराः ॥ १८ ॥**

प०क्र०—(च) तथा (अचोदकाः) अपूर्वकर्म के विधायक नहीं, किन्तु (संस्काराः) पशु तथा सोमरूप द्रव्य का संस्कार बतलाते हैं।

भा०— *जिसके करने से वस्तु अर्थसिद्ध (कार्य करने) योग्य बन सके, उसे संस्कार कहा गया है, ललाट, पीठ आदि अङ्गों की चित्रकारी करना, पशुविशेष का संस्कार है, और यजमान ने स्वयं अपने हाथों से

* मीमांसा में यह वह स्थल है कि जिसका अर्थ अवैदिककालिक टीकाकारों ने पशु के अङ्गों को काटकर उसकी जिह्वा आदि अङ्गों से होम 'अवद्यति' पद का करना अर्थ किया है। जो महर्षि जैमिनि के सिद्धान्त के सर्वथा प्रतिकूल है। यहाँ अवदान पशु का संस्कार कहा गया है और विद्यमान वस्तु में ही अतिशयाधान का किया जाना संस्कार है, काटना आदि अतिशयाधान के विपरीत अर्थ है। काटने से पशु अङ्ग से हीन होगा, न कि अतिशयता को पहुँचेगा। क्योंकि पूर्व से कुछ और अच्छा बन जाना 'अतिशय' है। वर्त्तमान काल में गाय, घोड़े, गधे आदि पशु का पर्वविशेष पर चित्रण करते हैं, वह अतिशयता का द्योतक है, वही यहाँ भाव है, अर्थात् दान देनेवाले पशु का 'अतिशय' करना, न कि काटकाट के विकृत करना।

पकड़ना या लेना, सोम का संस्कार है। अर्थात् प्रकाश और सौम्यगुणविशिष्ट परमात्मात्मा के निमित्त दान के लिये नहला धुलाकर माथा, पीठ, उदर आदि अङ्ग को किसी रङ्गविशेष से चित्रण कर, उसको और परमात्मा के निमित्त 'ऐन्द्रवायव' आदि नामक सोम भरे हुए पात्रों को अध्वर्यु अपने हाथ में लेता है, तथा हविर्दान करता है। उस दशा में पशु एवं सोम, अपूर्व अर्थ के प्रतिपादक होते हैं। उस संस्कार की प्राप्ति 'अवद्यति' और 'गृह्णाति' वाक्यों द्वारा ही हो सकती है। तथा वह संस्कार के विधायक हो सकते हैं, न कि अपूर्व कर्म के निरूपक। दूसरा 'आलभेत' पद पर जिसका कि अर्थ मारना करके नये टीकाकरों ने मीमांसा को दूषित किया है, बुद्धि से काम नहीं लिया। क्योंकि 'लभ' का अथ लाभ अर्थात् प्राप्ति है, और आङ् का अर्थ है—विशेष, अर्थात् जिस क्रिया के करने से कर्त्ता को लाभ विशेष मिले, उस क्रिया का वाचक आलभेत पद है। यज्ञ में धन-धान्य की वृद्धि के लिये पशुदान आया है, न कि हिंसा के लिये। श्री शबरस्वामी ने भी 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र का भाष्य करते हुए लिखा है, कि (हिंसा हि सा, हिंसा च प्रतिषिद्धा) अर्थात् जिस क्रिया से प्राणी के प्राणों का विच्छेद हो, उसे हिंसा कहा है, वह वेद में निषिद्ध है। अतः 'आलभेत' का अर्थ हिंसापरक करना ठीक नहीं। श्रीशबरस्वामी ने 'तमालभ्य' तमुपयुज्य (मी० १।२।१०) के सूत्र में 'आलभ्य' पद का ऐसा अर्थ किया है। अतः आलभेत का विवरण उपयुञ्जीत है। अर्थात् जिस क्रिया से सुख मिले, उस क्रिया को करे। अतः 'आलभेत' क्रिया पद का अर्थ त्याग या दान करने के लिए विधिपूर्वक प्राप्त करना इत्यादि उत्तम अर्थ करना ही समीचीन है, न कि हिंसापरक करके पशु काटना या कटवाना।

सं०—'सोमेन यजेत' से एक ही सोमयाग की विधि पाई जाती है। परन्तु 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' में दश सोमपात्रों की विधि मिलती है। अतः 'याग एक, और पात्र दश का ग्रहण कैसे हुआ!'

**पू०प०—तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद्भेदो द्रव्यगुणीभावात्॥ १९॥**

प०क्र०—(तद्भेदात्) पात्रभेद से (कर्मणः) सोमयाग की (अभ्यासः) आवृति समझनी चाहिये। क्योंकि (द्रव्यपृथक्त्वात्) पात्रभेद होने से उसमें स्थित सोमद्रव्य का भी भेद मिलता है। (हि) यदि कर्मावृत्ति न हो, तो (भेदः) वह पात्रभेद (अनर्थकम्) वृथा (स्यात्) हो जाता है। और (द्रव्यगुणीभावात्) सोमरूप द्रव्य को गुणीभाव होने से अर्थात् अङ्ग होने से

उसकी आवृत्ति स्वयं हो जावेगी।

भा०—जिस एक कर्म को बार-बार किया जाता है, उसे अनुष्ठान कहते हैं। अभ्यास और आवृत्ति पर्यायवाची हैं। अत: आवृत्ति के कारण दश पात्रों का ग्रहण प्रयोजन के अनुकूल हो जाता है। क्योंकि अग्निहोत्रकर्म की प्रात: तथा सायं आवृत्ति होने से, और द्रव्य तथा देवता भेद होने से याग की आवृत्ति होती है। उसी प्रकार ग्रहण की आवृत्ति भी आवश्यक है। क्योंकि ग्रहणरूप संस्कार कर्म के कारण गौण, तथा सोमरूप-द्रव्य संस्कार्य होने से प्रधान है। और इसकी आवृत्ति आवश्यक है। अतएव दशों पात्रों का एकसाथ ग्रहण कर पीछे विभागपूर्वक याग करना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्येकपात्र का यागभेद के समान ग्रहणभेद भी समीचीन है।

सं०—'खादिरे पशुं बध्नाति' खैर के खम्भे से पशु को बाँधे, 'पालाशे पशुं बध्नाति' ढाक के खम्भे से पशु को बाँधे-इत्यादि वाक्यों की भी क्या 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' इत्यादि वाक्य में विधान के समान द्रव्यभेद से याग का अभ्यास (आवृति) करना है। क्योंकि स्तभरूप द्रव्य यहाँ पर भी तो है।

**सि०प०—संस्कारस्तु न भिद्येत परार्थत्वाद्द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्॥ २०॥**

प०क्र०—'तु' शब्द आशङ्का दूरीकरण के लिये है। (संस्कार:) पशुबन्धनरूप संस्कार की (न भिद्यते) यूपभेद होने से भी आवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि (परार्थत्वात्) यूप का पशुबन्धन के निमित्त होने से। (गुणभूतत्वात्) गौण होने से।

भा०—प्रधान के कारण गुण की आवृत्ति है, न कि गुण के कारण प्रधान की। और जो अन्य के निमित्त होता है, वह गुण (गौण) होता है। गौण, शेष, अङ्ग आदि पर्यायवाची शब्द हैं। परमात्मा के निमित्त दान में दिये जाने के लिये पशुबन्ध के निमित्त एक स्तम्भ (खम्भा) गाड़ा जाता है। वह खैर की लकड़ी का होता है, अथवा ढाक का होता है। उक्त खम्भे में पशुबन्धन संस्कार को पशुसंस्कार कहते हैं। यहाँ क्रिया प्रधान और स्तम्भ गौण है। क्योंकि वह केवल पशुबन्धन के लिये गाड़ा गया है। अत: स्तम्भरूपद्रव्य के कारण पशुबन्धन रूप संस्कार की आवृत्ति नहीं हो सकती।

सं०—अब संख्याकृत कर्मभेद को कहते हैं।

**सि०प०—पृथक्त्वनिवेशात्संख्यया कर्मभेद: स्यात्॥ २१॥**

प०क्र०—(संख्यया) संख्याभेद के कारण (कर्मभेद:) कर्म का

भेद (स्यात्) है। क्योंकि उसमें (पृथक्त्वनिवेशात्) पृथक्त्व का निवेश है। संख्यभेद से नियतसम्बन्ध है।

भा०—प्रजापालक परमपिता परमात्मा के लिये 'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते' वाजपेय-याग में इस पाठ से सत्रह पशुओं का उत्सर्ग (त्याग) करे। अब यहाँ सत्रह पशुओं का त्याग एक ही याग की विधि है, अथवा दिये हुये पशुरूप द्रव्य का भेद होने से सत्रह याग का विधान है। यतः याग का प्रधान साधन द्रव्य है। उस के भेद से यागभेद होना सम्भव है। विशेषकर संख्याभेद से उनका भेद स्पष्ट है। अतः द्रव्यरूप साधन के द्वारा होनेवाला सप्तदश याग एक नहीं हो सकता।

सं०—संज्ञाकृत कर्मभेद को बतलाते हैं।

**सि०प०—संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात्॥ २२॥**

प.क्र.—(च) और (संज्ञा) नाम भी कर्मभेद करनेवाला माना गया है। क्योंकि उस का (उत्पत्तिसंयोगात्) कर्म के विधायक वाक्य के साथ योग (सम्बन्ध) है।

भा०—'अथैष ज्योतिः' 'अथैष विश्वज्योतिः,' 'अथैष सर्व ज्योतिः,' 'एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत' इत्यादि वाक्य ज्योतिष्टोम याग में पढ़े गये हैं। यहाँ तीनों पदों में आये ज्योतिः-शब्द का अनुवाद करके उस वाक्य से उस में एक सहस्रदक्षिणारूप गुण की विधि बतलाई गई है, अथवा एकसहस्रदक्षिणावाले इस नाम से तीनों यागों की विधि का वर्णन है। इस शङ्का का उत्तर यह है-कि यद्यपि यहाँ ज्योतिष्टोम का प्रकरण है, पुनरपि 'अथ' यह शब्द प्रकरण के विभाग का विच्छेदक है। अतः तीनों संज्ञा उसकी नहीं हो सकतीं। साथ ही इस ज्योतिष्टोम की 'द्वाद्वशशतदक्षिणा' (१२००) दक्षिणा होने से एकसहस्त्र दक्षिणा (१०००) नहीं हो सकती। अतः वे वाक्य, ज्योतिः-नामों से एकसहस्रदक्षिणारूप गुण के विधायक नहीं हो सकते, किन्तु एकसहस्रदक्षिणावाले तीन यागों की विधि बतलाते हैं। अत एव ज्योतिः, विश्वज्योतिः, सर्वज्योतिः-ये तीनों याग ज्योतिष्टोमयाग से भिन्न हैं। इनकी एकसहस्त्र और ज्योतिष्टोम की बारहसौ दक्षिणा है।

सं०—गुणभेद से कर्मभेद कहते हैं।

**९—गुणाधिकरणम्**

**गुणश्चाऽपूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात्॥ २३॥**

प०क्र०—(च) तथा (अपूर्वसंयोगे) प्रकृत देवता के साथ सम्बन्ध

न होने से (गुणः) गुण, कर्म का भेद करने वाला है। (वाक्ययोः) पूर्व और उत्तर उभय वाक्यों के (समत्वात्) समान होने से।

भा०—'सा वैश्वदेव्यामिक्षा' इस वाक्य के पश्चात् 'वाजिभ्यो वाजिनम्' ऐसा पढ़ा जाता है। यहाँ आमिक्षा आदि नाम विश्वदेवस्वामिक हैं। यह वाक्य 'वैश्वदेव याग' के विश्वेदेव देवता का वाजिभ्यः पद से अनुवाद कर, उसमें वाजिनगुण का विधायक है, अथवा कर्मान्तर का विधान करने वाला है, ऐसी शङ्का होने पर इसका समाधान यह है-कि आमिक्षारूप द्रव्य से अवरुद्ध होने के कारण वैश्वदेव याग पहले से ही निराकाङ्क्ष है। और इस कारण वाजिन-द्रव्य का सम्बन्ध असंभव है। इसके अतिरिक्त 'वाजिभ्यः' पद से विश्वदेव का अनुवाद भी नहीं हो सकता। क्योंकि वह उनका पर्यायवाचक भी नहीं है। अतः 'वाजिभ्यो वाजिनम्' वाक्य वैश्वदेव-याग में गुणविधायक नहीं, किन्तु कर्मान्तर का विधानकर्त्ता है। भाव यह है कि देवता के साथ, द्रव्य के सम्बन्ध का नियम तद्धितप्रत्यय अथवा चतुर्थी विभक्ति के द्वारा ही होता है। सो देवता यहाँ है नहीं।

पू०प०—सं०—जब 'वैश्वदेव्यामिक्षा' वाक्य द्वारा बतलाये गये 'वैश्वदेव' कर्म में 'वाजिभ्यो वाजिनम्' यह वाक्य वाजिनरूप गुण का विधान नहीं कर्त्ता, तो पुनः 'अग्निहोत्रं जुहोति' द्वारा विहित-अग्निहोत्र कर्म में, 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य द्वारा विहित दधिरूपगुण का विधान क्यों माना गया है?

### १०—गुणशेषाधिकरणम्

### उ०प०—अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत॥ २४॥

प०क्र०—(तु) शब्द शङ्कापरिहारार्थ है। (कर्मशब्दे) अपूर्वकर्म का विधायकवाक्य (अगुणे) गुणरहित कर्म का विधायक होता है। (तत्र) उस वाक्य द्वारा बतलाये गये कर्म में (गुणः) वाक्यान्तर से गुण का (प्रतीयेत) विधान होता है।

भा०—'वैश्वदेव्यामिक्षा' यह वाक्य गुणविशिष्ट कर्म का विधान करनेवाला है। अतः उसके द्वारा बतलाये गये कर्म में वाक्यान्तर द्वारा गुण का विधान नहीं हो सकता। परन्तु 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह वाक्य केवल कर्ममात्र का विधायक है, न कि गुणविशिष्ट कर्म का। अतः उस वाक्य द्वारा बतलाये गये 'अग्निहोत्र' कर्म में वाक्यान्तर से गुण का विधान होने में कोई दोष नहीं।

सं०—अब दधि आदि गुण का फल कहते हैं।

## ११—इन्द्रियकामाधिकरणम्

### पू०प०—फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात्, फलस्य कर्मयोगित्वात्॥ २५॥

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष का द्योतक है। (कर्म०) दधि[1]-वाक्य अपूर्वकर्म का (स्यात्) विधानकर्त्ता है। क्योंकि (फलश्रुतेः) उसका फल सुना गया है। (फलस्य) और फल से (कर्मयोगित्वात्) कर्म का निश्चित सम्बन्ध होता है।

भा०—'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' अर्थात् चक्षुः आदि इन्द्रियों की कामनावाला दही से होम करे। इसमें यह इन्द्रियफलरूप उपदेश कर्म के बिना, केवल एक दधिरूपद्रव्यमात्र से नहीं मिल सकता। क्योंकि फल कर्मजन्य होता है। अतः पूर्वोक्तवाक्य इन्द्रिय फल के लिये दध्यादिरूप गुणमात्र का विधायक नहीं हो सकता। किन्तु 'अग्निहोत्र' वाक्य के समान गुण से साध्य अपूर्वकर्म का विधान करता है।

सं०—अब इसका समाधान किया जाता है।

### उ०प०—अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोर्गुणे तस्य प्रतीयेत॥ २६॥

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष के परिहार्थ है। (वाक्ययोः) 'अग्निहोत्र' तथा 'दध्नेन्द्रिय' इन दोनों वाक्यों में (अतुल्यत्वात्) समानता नहीं है। अतः (तस्य) अग्निहोत्र कर्म में (गुणः) फलविशेष के लिये गुण का (प्रतीयेत) विधान है।

भा०—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस लोक और परलोक की इच्छावाला पुरुष नित्य दोनों समय अग्निहोत्र करे। यहाँ इस वाक्य में फल का जन्य जनक सम्बन्ध है। परन्तु उसी भाँति का सम्बन्ध 'दध्नेन्द्रिय' वाक्य में नहीं है। किन्तु उस वाक्य में दधिरूपगुण और इन्द्रियरूप फल का जन्यजनक भाव प्रतीत होता है। अतः केवल दधिरूप गुण से वह फल नहीं मिल सकता। क्योंकि फलमात्र अर्थात् समस्तफल कर्म से उत्पन्न होते हैं। और गुणविशिष्टकर्म का विधान स्वीकार करने से गौरवरूप दोष आता है। अतः 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य द्वारा विहित धात्वर्थ का अनुवाद कर के 'दधिवाक्य' फल के लिए केवल गुणमात्र का विधान करता है।

सं०—'वारवन्तीय' आदि के कर्मान्तर को कहते हैं।

---

सूचना—(१) 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' (तै०ब्रा० २।१।५।६) इति देव आचार्यः।

## १२—रेवत्यधिकरणम्

### समेषु कर्मयुक्तं स्यात्॥ २७॥

प०क्र०—(समेषु) सदृश वाक्यों में (कर्मयुक्तम्) अपूर्व कर्म के साथ फल का सम्बन्ध (स्यात्) होता है।

भा०—जिस प्रकार प्रकृतयाग के विधायकवाक्य से याग एवं फल का जन्यजनकभाव सम्बन्ध है, उसी प्रकार उस वाक्य में गुणविशिष्टयाग के साथ पशुरूप फल का जन्यजनकभाव सम्बन्ध नहीं, और 'दध्नेन्द्रिय' के समान गुण की प्रतीति भी नहीं है। और यदि पशुरूपफल सिद्धि के लिये उस याग में गुण-विधानकर्त्ता मानें, तो याग के लिए गुण का विधान, और फल के लिये याग का विधान मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा मानने में वाक्यभेदरूप दोष आता है। अतः 'एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वा' 'पशुकामो ह्येतेन यजेत' अर्थात् पशुकामनावाला 'रेवतीर्नः सधमादः' (ऋग्वेद। १। २। ३०। १३ से) 'रेवती' नामवाली ऋचाओं में वारवन्तीय-नामक सामगान करके याग करे। 'इस त्रिवृदग्निष्टुत्' यज्ञ में पशुरूपफलसिद्धि के लिये गुणविधानकर्त्ता नहीं, किन्तु उससे भिन्न पशुफलवाले गुणविशिष्ट कर्म का विधानकर्ता है।

सं०—सौभर और निधन का समानफल निरूपण करते हैं।

## १३—सौभराधिकरणम्

### पू०प०—सौभरे पुरुषश्रुतेर्निधनं कामसंयोगः॥ २८॥

प०क्र०—(सौभरे) सौभरसम्बन्धी निधन में (पुरुषश्रुतेः) पुरुषप्रयत्न का उपदेश है। अतः (निधनम्) वह निधन (कामसंयोग) फलवाला है।

भा०—जिस* पुरुष को वर्षा, अन्न तथा सुखविशेष की इच्छा हो, वह सौभरनामक सामविशेष से परमात्मा की स्तुति करे। क्योंकि इससे समस्त फल प्राप्त होते हैं। यह विधि बतलाकर साम के पाँच अथवा सात भाग होते हैं, और अन्तिम को निधन कहते हैं। यहाँ पर वृष्टिकामनावाला, 'हीष' अन्न कामना वाला, 'उर्ग' सुखविशेषकामनावाला, 'ऊ' स्वर्गकामना वाला, इसका निधन करे। इन वाक्यों में 'कुर्यात्' पद से पुरुषप्रयत्न का उपदेश मिलता है। प्रयत्न का फल से एक नियतसम्बन्ध है। यदि वह वाक्य स्वतन्त्र, फल के निमित्त निधनविशेष का विधानकर्त्ता न माना जाय,

---

* 'हीषितिवृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्', 'उर्गित्यन्नाद्यकामाय', 'ऊ इति स्वर्गकामाय'। साम के पाँच अथवा सात भाग कहलाते हैं।

तो पुरुषप्रयत्न का श्रवण असिद्ध (व्यर्थ) होगा। ऐतातिरिक्त निधनवाक्य में 'वृष्टिकामाय' चतुर्थी पद है। उससे हीषादिवृष्टिकामपुरुष अवशेष (अङ्ग) विदित होता है। क्योंकि वह तादर्थ्य में चतुर्थीपद है। परन्तु वह उसी दशा में हो सकते हैं जब कि पुंरुषेच्छानुसार वृष्टि आदि फल को साधन मान लिया जावे। अतः वह वाक्य सौभर के फल वृष्टि आदि से अतिरिक्त पुरुष को वाञ्छित वृष्टिफल के निमित्त हीषादिनिधनविशेष का विधानकर्त्ता है, न कि व्यवस्था का।

सं०—अब इसका समाधान किया जाता है।

**उ०प०—सर्वस्य वोक्ताकामत्वात्तस्मिन्कामश्रुतिः स्यान्निधनार्था पुनः श्रुतिः ॥ २९ ॥**

प०क्र०—(वा) पूर्वपक्ष के परिहारार्थ है। (सर्वस्य) सब साम (उक्तकामत्वात्) वृष्टि आदि फल के हेतु हैं। याग के नहीं। अतः (तस्मिन्) सौभर में (कामश्रुतिः) फलश्रवण (स्यात्) है। (पुनः) तथा (श्रुतिः) निधन वाक्य में फलश्रवण (निधनार्था) व्यवस्थाहेतुक है।

भा०—सम्पूर्ण साम से फलसिद्धि होती है, अथवा उसके किसी अंश से भी होती है। इस विषय में यह कहना है, कि निधन[१] सौभरसाम का एक भाग है, उसका फल वृष्टि आदि नहीं हो सकता। अतः उस वाक्य में सौभर-साम के वृष्टि आदि फल का 'वृष्टिकामाय' आदि पदों से अनुवाद करके निधन की व्यवस्था की है—कि यदि वृष्टिकामनावाला पुरुष हो, तो उसको सौभर-साम का। 'हीष'-अन्न की कामनावाले को सौभर साम का — 'उर्क्'-और स्वर्गकामनावाले को सौभर साम का 'ऊ' निधन करना चाहिये। सारांश यह है कि सौभर साम के फल से निधन का फल भिन्न नहीं है। अर्थात् दोनों का एक ही फल है। तादर्थ्य चतुर्थी होने पर भी कोई दोष नहीं है। यहाँ तो केवल निधनविशेष का नियमनविधि है।

**द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः।**

## अथ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः प्रारभ्यते।

सं०—ज्योतिष्टोम यज्ञ का अङ्ग 'ग्रह' ग्रहण है, उसके गुणनिरूपण

---

सूचना—(१) हिङ्कारः, प्रस्तावः, उद्गीथः, ओङ्कारः, प्रतिहारः, उपद्रवः, निधनञ्चेति साम्नः सप्त भक्तयः। भक्तिः=भागः=अवयव इति यावत् (जै०न्या०टि०) इति देव आचार्यः।

करते हैं।*

**पू०प०—गुणस्तु क्रतुसंयोगात्कर्मान्तरं प्रयोजयेत् संयोगस्याशेष-भूतत्वात्॥ १ ॥**

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष का द्योतक है (गुणः) रथन्तरादि सामरूप गुण के श्रवण से (कर्मान्तरम्) दूसरे कर्म का (प्रयोजयेत्) प्रेरक है। क्योंकि (क्रतुसंयोगात्) उसका अन्य कर्म से योग सम्बन्ध है, और (संयोगस्य) वह सम्बन्ध (अशेषभूतत्वात्) मुख्यकर्म से पृथक् करता है।

भा०—'यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात्, ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्' 'यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान्, यदि जगत्सामा आग्रयणाग्रान्—इन वाक्यों द्वारा ग्रहग्रहणरूप गुणविशेष का विधान है, अथवा रथन्तर साम बृहत्सामरूप कर्मान्तर का। ऐसी शङ्का होने पर पूर्वपक्षी कहता है—कि प्रकृतयाग में 'जगत्' नामक कोई साम नहीं, और विषयवाक्य में जगत्सामवाला कर्मविशेष बतलाया है। अतः वह वाक्य रथन्तरसाम आदि पदों से प्रकृत ज्योतिष्टोम याग का अनुवाद करके उसमें ग्रहग्रहणरूप गुणविशेष का कोई विधान नहीं करता, केवल वह 'रथन्तरसाम' आदि कर्मान्तर का विधानकर्त्ता है।

सं०—अब पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

**उ०प०—एकस्य तु लिङ्गभेदात् प्रयोजनार्थ-मच्येतैकत्वं गुणवाक्यत्वात्॥ २ ॥**

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष निराकरणार्थ है। (एकस्य) एक ही ज्योतिष्टोम याग के (लिङ्गभेदात्) विशेषणभेद से (प्रयोजनार्थम्) ग्रहग्रहणरूप अर्थ के निमित्त (उच्येत) वे वाक्य कहे गये हैं। अतः (गुणवाक्यात्) ग्रहग्रणरूप गुणविशेष का विधानकर्त्ता होने से उनमें (एकत्वम्) एकत्व है, अर्थात् एकतावश कर्म का भेद नहीं।

---

* सोमयाग को ही ज्योतिष्टोम कहते हैं। इस याग में प्रातः मध्याह्न और सायंकाल में जो सोमलता कूटी जाती है, उस सोम के कूटने का नाम 'सवन' है। प्रातः सवन में उपांशुः, अन्तर्यामः, ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन, शुक्रः, मन्थी, आग्रयण, उवथ्य, ध्रुव, ऋतुग्रहाः, वैश्वदेवश्चेत्यादि नामवाले पलाश की लकड़ी के पात्र 'कठौती' होती हैं, जिनमें सोमरस भरते हैं, उनको ग्रहण किया जाता है। इसी ग्रहण करने के कारण इन्हें 'ग्रह' कहते हैं। (जै०न्या०टी०) में उपांशु और अन्तर्याम को नहीं लिखा है—इति देव आचार्यः।

भा०—ज्योतिष्टोम याग में जो स्तोत्र गान होता है, उसमें साम का विकल्प विधान किया गया है। उसी विकल्प के अनुसार ग्रहग्रणरूपगुण की व्यवस्था के निमित्त वे वाक्य कहे गये हैं। अत: ग्रहग्रहण ज्योतिष्टोम का अङ्ग होने से कर्मान्तर नहीं कहा जा सकता।* किन्तु ज्योतिष्टोम का अनुवाद करके उसमें रथन्तर साम आदि विशेषणों के कारण ग्रहग्रहणरूप गुणविशेष का विधान करता है।

सं०—ब्राह्मणादि विहित अवेष्टि के कर्मान्तर होने का निरूपण करते हैं।

## अवष्ध्यधिकरणम्

### सि०प०—अवेष्टौ[१] यज्ञसंयोगात्क्रतुप्रधानमुच्यते ॥ ३ ॥

प०क्र०—(अवेष्टौ) राजसूय की 'सन्निधि' में पठित अवेष्टिनामकयाग (क्रतुप्रधानम्) अपूर्वकर्मविधायक (उच्यते) है। क्योंकि (यज्ञसंयोगात्) क्षत्रिय का सम्बन्ध होने से।*

भा०—राजसूय यज्ञ क विधायक 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इस वाक्य में यागकर्त्ता राजा कहा गया है। परन्तु ब्राह्मण और वैश्य भी राजकर्त्ता हो सकते हैं। क्योंकि यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिमाहुतिं हुत्वाऽभिघारयेत् **यदि राजन्य ऐन्द्रम्, यदि वैश्यो वैश्वदेवम्-ऐसा लिखा है।

'अतएव इन वाक्यों में प्राप्त हुए ब्राह्मणादि का अनुवाद करके

---

१. दिग्व्यवस्थापनप्रयुक्तोन्मादयितृणामवजननहेतुत्वात्' अवेष्टि: ' इति कर्मनामधेयम्। इष्टेरस्या अवजननहेत्वं तैत्तिरीयब्राह्मणे प्रथमाष्टके—अष्टमप्रपाठके तृतीयानुवाके प्रतिपादितम्। इति (जै०न्या०टि०) इति देव आचार्य:।

* राजसूययाग, जिसे क्षत्रियलोग करते थे। उस याग के अन्तर्गत 'अवेष्टि' नामक याग होता है। उसमें आठ कपालों में पकाये पुरोडाश का प्रदान किया जाता है। 'अवेष्टि' में यह पाठ है—'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपति हिरण्यं दक्षिणा'। 'ऐन्द्रमेकादशकपालमृषभो दक्षिणा'। 'वैश्वदेवं चरुं पिशङ्गी पष्ठौही दक्षिणा'। 'मैत्रावरुणीमामिक्षां वशा दक्षिणा'। 'बार्हत्पत्यं चरुं शितिपृष्ठो दक्षिणा'।

** 'अभिघारण' ऊपर से घी के डालने को कहा जाता है।

सूचना—पिशङ्गी=पिङ्गलवर्ण। पष्ठौही=बालगर्भिणी गौ:, वशा=वन्ध्या गौ:। शितिपृष्ठ= उपरिभागे श्वेतवर्ण: पशु:। (जै०न्या०टि०) इति देव आचार्य:।

संस्काररूप गुण का विधान किया है। ऐसी शङ्का होने पर उत्तर देते हैं कि राज्यसम्पत्ति का क्षात्रधर्म से नियत सम्बन्ध है, न कि ब्राह्मण और वैश्य को राजा कहा जा सकता है, परन्तु वह गौणरूप से कथन माना जायगा। अत एव 'अवेष्टि' कर्म में ब्राह्मणादि का अनुवाद करके गुणविधान नहीं है। किन्तु राजसूय याग के बाहर ब्राह्मणादि द्वारा सपांदित अवेष्टि यागरूप अपूर्वकर्म का विधान है।

सं०—अग्न्याधान् तथा उपनयन को कर्मान्तर निरूपण करते हैं।

## ३—आधानाधिकरणम्

## आधानेऽसर्वविशेषत्वात्॥ ४॥

प०क्र०—(आधाने) अग्न्याधान, और यज्ञोपवीत में विधि है। क्योंकि यह दोनों (असर्वविशेषत्वात्) सब मनुष्यों को पहिले से प्राप्त नहीं हैं।

भा०—वैदकिकर्मानुष्ठान और अग्न्याधान विद्याप्राप्त के विना नहीं हो सकता। और विद्याप्राप्ति उपनयन के विना नहीं हो सकती। अतः विना कर्मसम्बन्धी अनुष्ठान के भी ब्राह्मणादि द्वारा किये गये आधान तथा उपनयन यह दोनों कर्म पूर्व से ही प्राप्त हैं, किन्तु वसन्तादि कालविशेष प्रथम प्राप्त नहीं हैं।* अत एव वे वाक्य प्रथम ब्राह्मणादि से प्राप्त अग्न्याधानादि का अनुवाद करके, अप्राप्त वसन्तादि कालविशेष का विधान करते हैं। ऐसी शङ्का होने पर उत्तर दिया जाता है, कि वैदिक कर्म के अनुष्ठान की अन्यथा प्राप्ति (अर्थापत्ति) से ब्राह्मणदिकृत आधान और उपनयन की प्राप्ति नहीं। क्योंकि विना उपनयन के भी पुस्तक द्वारा अनुष्ठान और ज्ञान प्राप्त हो सकता है। अतः पहिले ब्राह्मणादिकर्तृक आधान और उपनयन की प्राप्ति न होने से, वे वाक्य ब्राह्मण आदि का अनुवाद करके वसन्तादि काल के विधायक नहीं, किन्तु वसन्तादि कालविशेष ब्राह्मणादि द्वारा किये गये अग्न्याधान तथा उपनयनरूप कर्मान्तर का विधान करते हैं।

सं०—'दाक्षायाण' आदि गुणकथन है, इसको सिद्ध करते हैं।

## ४—दाक्षायणयज्ञाधिकरणम्।

## पू०प०—अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात्॥ ५॥

---

* वसन्ते ब्राह्मणेऽग्नीनादधीत (तै०ब्रा० १।१।२।६) ग्रीष्मे राजन्यः (तै०ब्रा० १।१।२)। शरदि वैश्यः (तै०ब्रा० १।१।२।७)। तथा वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम् इस क्रम से अग्न्याधान और उपनयन होता है।

प०क्र०—(अयनेषु) दाक्षायाणादि वाक्य में (चोदानान्तरम्) कर्मान्तर की विधि है। क्योंकि उनमें (संज्ञोपबन्धात्) कर्मसंज्ञा का सम्बन्ध हैं।

भा०—*'दाक्षायण[१]' तथा 'साकंप्रस्थाय' आदि पदों का वाचक कोई गुणविशेष लोक में नहीं है। और 'उद्भिदा यजेत' के सदृश याग के साथ सम्बन्ध होने से, वे याग के नाम प्रतीत होते हैं। अत: उक्त वाक्य 'दाक्षायण' तथा साकंप्रस्थाय आदि नामक अपूर्वकर्म के विधान करनेवाले हैं। किसी गुणविशेष के विधायक नहीं।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

**पू०प० सहा०—अगुणा च[२] कर्मचोदना॥**

प०क्र०—(च) तथा (अगुणात्) अन्यगुण का सम्बन्ध न होने से (कर्मचोदना) कर्ममात्र का विधान है।

भा०—उन वाक्यों ('दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकाम:') की परीक्षा करने से, वहाँ किसी अन्य गुण के विधान की प्रतीति नहीं होती। अत एव कर्ममात्र की ही विधि है, न कि गुण की।

सं०—अन्य हेतु भी है।

**पू०प० सहा०—समाप्तं च फले वाक्यम्॥ ७॥**

प०क्र०—(च) और (वाक्यम्) वह वाक्य (फले) प्रजाकामादि फल में (समासम्) कर्म का सम्बन्ध बतलानेमात्र से ही आकाङ्क्षा रहित है।

भा.—गुण का विधान करनेवाला यदि वह वाक्य होता, तो फल के साथ कर्म का सम्बन्ध कहकर निराकाङ्क्ष न होता। किन्तु गुण का विधान करने के लिए साकाङ्क्ष बना रहता। परन्तु फल के साथ कर्म का सम्बन्धमात्र

---

* दर्शपूर्णमास यज्ञ में पाठ है—कि 'दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकाम:' 'साकंप्रस्थायीयेन यजेत पशुकाम:' संक्रमयज्ञेन यजेतान्नाद्यकाम:—अर्थात् प्रजाकामनावाला दाक्षायणयाग और पशुकामनावाला साकंप्रस्थायाख्य यज्ञ करे। तथा अन्नाद्यकामनावाला संक्रमयज्ञ करे।

१. शतपथ–कौषीतकिब्राह्मणयोस्तु 'स वै (प्रजापति:) दीक्षनाम। तद्यदेनेन सोऽग्रेऽयजत, तस्माद् दाक्षायणयज्ञ:' (कौ०ब्रा० ४.४) इति वाक्यशेषो दृश्यते।

२. काशीचन्द्रप्रभामुद्रणालयमुद्रितमीमांसासूत्रपाठे 'च्च' इति पाठो दरीदृश्यते। सतन्त्रवार्तिकशाबरभाष्यसमेतमीमांसादर्शने च 'च' इत्येवं पाठ इति देव आचार्य:।

विधान करके ही निरकाङ्क्ष प्रतीत होता है। अतः वह कर्मविधि है, न कि गुणविधि।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

**उ०प०—विकारो वा प्रकरणात्॥ ८॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के परिहारार्थ कहा गया है। (विकारः) दर्शपूर्णमास यज्ञ का ही दाक्षायाणादि[१] विकार रूप है, अर्थात् उसी में गुणविशेष का विधान करनेवाला है। क्योंकि (प्रकरणात्) दर्शपूर्णमास के प्रकरण में ही पढ़ा गया है, इसी कारण से।

भा०—जिस यज्ञ में* दक्षकर्तृक आवृत्ति होती है, वह दाक्षायण यज्ञ कहलाता है। इस आवृत्ति के कर्म का गुण सर्वसंसार को विदित है। यह आवृत्ति कृषिविद्या, आदि कर्म में सर्वत्र मिलती है। इसी भाँति साकंप्रस्थाय याग भी दही और दूध के चार घड़ों को एक साथ स्थापानरूप गुणवाची है। यहाँ 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' दर्शपूर्णमास याग में आवृत्ति तथा साकंप्रस्थायरूप गुणविशेष का विधान करनेवाला है, न कि कर्मान्तर का विधान करनेवाला है। अर्थात् सायं प्रातः अग्निहोत्र के समान इस स्वर्गकामनावाले दर्शपूर्णमास की भी आवृत्ति सायं प्रातः करें, और पशुकामनावाले दही तथा दूध की कुम्भीचतुष्टय (चार कलशों) का प्रस्थान करें।

सं०—और भी हेतु हैं।

**उ०प० सहा०—लिङ्गदर्शनाच्च॥ ९॥**

प०क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) चिह्न—प्रतीत होने से वाक्य गुणविधायक है, न कि किसी कर्मान्तर का विधायक।

भा०—तीस वर्ष तक दर्शपूर्णमास याग को करे। यदि दाक्षयणयजन करनेवाला हो, तो पन्द्रह वर्ष तक ही याग को करे। अर्थात् प्रतिदिन सायं प्रातः दो दर्शयाग तथा दो पूर्णमास याग करनेवाले को वही सम्पत्ति मिलती है, जो कि तीस वर्ष करनेवाले का मिलती है। वही दाक्षायाणयाजी पन्द्रह

---

१. अयनम्=आवृत्तिः। दक्षस्येमे दाक्षाः, तेषामयनमिति तन्निर्वचनम्। दक्ष उत्साही, पुनः पुनरावृत्तावनलस इत्यर्थः। तदीयानां प्रयोगाणामावृत्तिर्दाक्षायणशब्दार्थः।

* उत्साही यजमान को 'दक्ष' और जिन ऋत्विजों से यज्ञानुष्ठान हो वे 'दाक्ष' और अयन आवृत्ति को कहते हैं।

वर्ष में प्राप्त करता है। इससे तो दोनों एक से ही विदित होते हैं। उस वाक्य की सामर्थ्य से स्पष्ट है—'दाक्षायाणयज्ञेन यजेत' यहाँ पर दाक्षायणरूप गुणविशेष के विधान के निमित्त याग का अनुवाद करता है, न कि कर्मान्तर का। और दाक्षायाण की आवृत्ति से ही यह सिद्ध है, कि यदि 'दाक्षयाण' प्रकृतयाग (दर्शपूर्णमास) से भिन्न होता, तो तीसवर्ष तक दर्शपूर्णमास याग का अनुष्ठान कहकर, उसी फल को दाक्षयाण यजनकर्त्ता के लिए पन्द्रह वर्ष की आज्ञा न दी जाती।

सं०—अब 'संज्ञोपबन्धात्' इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**गुणात्संज्ञोपबन्धः ॥ १० ॥**

प०क्र०—(गुणात्) पुनः पुनः रूप का गुण कथन से (संज्ञोपबन्धः) याग की दाक्षायाण संज्ञा कही गई है।

भा०—दाक्षायाण शब्द पुनः पुनः (बारम्बार) रूप गुण का वाचक है। उसी गुण के सम्बन्ध के कारण प्रकृत दर्शपूर्णमास याग को दाक्षायण याग कहा गया है। किसी अपूर्वकर्म के प्रयोजन से नहीं।

सं०—अब सातवें सूत्र के पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**समाप्तिविशिष्टा ॥ ११ ॥**

प०क्र०—(समाप्तिः) उस वाक्य का आकाङ्क्षारहित होना। (अवशिष्टा) गुणफलसम्बन्धकथन करने के समान है।

भा०—फल के साथ कर्मसम्बन्ध का कथन करने से जिस प्रकार वह वाक्य निराकाङ्क्ष है, उसी प्रकार फल के साथ गुण का सम्बन्ध कथन करने से भी निराकाङ्क्ष ही हो जाता है। अतः वाक्य का निराकाङ्क्ष होना कर्मान्तरविधि का बतानेवाला नहीं हो सकता। अत एव वह गुणविधायक है, न कि कर्मान्तर का विधायक।

सं०—'वायव्यं श्वेतम्' ऐसे वाक्यों में अपूर्वकर्म का विधान पाया जाने से पूर्वपक्ष करते हैं।

### ५—ईषालम्भाधिकरणम्

**संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दात् ॥ १२ ॥**

प०क्र०—यहां 'च' शब्द पूर्वपक्ष की सूचना देता है। (अप्रकरणे) प्रकरण में न होने पर भी पढ़ा हुआ 'वायव्यं श्वेतम्' आदि वाक्य (संस्कारः) स्पर्शरूपसंस्कारगुण के विधानकर्त्ता हैं, न कि अपूर्वकर्म के विधानकर्त्ता हैं, क्योंकि उनमें (अकर्मशब्दात्) कर्मवाचक कोई शब्द नहीं है, इस कारण से।

भा०—पूर्वपक्षी कहता है-कि दर्शपूर्णमासयाग में 'ईषा[१] स्पर्श,' तथा 'चरु'[२] का निर्वाप पहिले करना चाहिये, और 'भूति' तथा ब्रह्मवर्चस फल भी उस याग के सब फल का दाता पहिले ही विद्यमान है, और विधान का पुनः पुनः कहना ठीक नहीं, 'आलभेत' पद के अतिरिक्त कोई प्रधानकर्म का वाचक भी नहीं। अत एव वाक्य दर्शपूर्णमासयाग के अतिरिक्त किसी भागान्तर का विधान नहीं करते। किन्तु पहिले विधान किये हुए स्पर्श आदि का, 'आलभेत' पद से अनुवाद करके छूने योग्य 'ईषा' (बम्ब) में श्वेतगुण आदि का विधान करते हैं। अर्थात् 'ईषा' श्वेत और वायुस्पर्शवती होनी चाहिये। और चरुसिद्धि के लिये चार मुट्ठी चावलों का 'निर्वाप' सूर्य पद से कहे गये अग्निसम्बन्धी हंडिया (मृत्पात्र) में होना चाहिये। इसी बात को दोनों वाक्य[३] बतलाते हैं। अतः इसमें अपूर्वकर्म का विधान नहीं है।

सं०—द्वितीयपक्ष को कहते हैं।

**पू०प०—यावदुक्तं वा कर्मणः श्रुतिमूलत्वात्॥ १३॥**

प०क्र०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष का द्योतक है। (यावदुक्तम्) उन वाक्यों में स्पर्श तथा निर्वपणमात्र कर्म का विधान है। क्योंकि (कर्मणः) कर्म को (श्रुतिमूलत्वात्) श्रुतिमूलक होने से। जैसा सुना गया हो, वैसा ही विधान मानना ठीक है।

भा०—यदि वे दोनों वाक्य दर्शपूर्णमास में नहीं पढ़े गये, तब तो वह स्पर्श आदि का अनुवाद करके श्वेत आदि गुण का भी विधान नहीं करते। क्योंकि अप्रकरणपठित होने से उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। और बिना सम्बन्ध के गुणविधान कैसा! अतः उक्त-वाक्य, पूर्ति आदि फल के लिये स्पर्श और निर्वापमात्र कर्म का विधान करते हैं। प्रयोजन यह है कि वहाँ

---

१. 'ईषा' छकड़े की आगे की लम्बी लकड़ी, इसे 'बम्ब' कहते हैं।

२. 'चरु' शब्द का शक्ति-वृत्ति से अर्थ 'भात' और लक्षणावृत्ति से अर्थ है थाली, हांडी, जिसे बटलोई पतीली, कसेंड़ी आदि भी कहते हैं।

३. 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः'। सौर्य्यं चरु निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः, यह दोनों वाक्य हैं जो अप्रकरणपठित कहे गये हैं, अर्थात् किसी यागविशेष के प्रकरण में नहीं पढ़े गये हैं। पहिले वाक्य का अर्थ यह है—कि ऐश्वर्यकामनावाला श्वेतरङ्ग की गाय का परमात्मा निमित्त त्याग करे। दूसरे का यह अर्थ है कि ब्रह्मतेजकामनावाला परमात्मा के निमित्त 'चरु' प्रदान करे।

स्पर्श और निर्वाप का श्रवण है, और उसी के अनुकूल विधान भी माना गया है। अतएव स्पर्श और चरु-निर्वाप पूर्वोक्तकर्म के ही द्योतक हैं, किसी प्रधानकर्म के नहीं।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

**उ०प०—यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात्॥ १४॥**

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष के परिहारार्थ है। (यजतिः) ये वाक्य प्रधानकर्म के विधान करनेवाले हैं। क्योंकि उसमें (द्रव्यफल-भोक्तृसंयोगात्) द्रव्य, फल तथा देवता तीनों का सम्बन्ध मिलता है। और (एतेषाम्) इन तीनों का (कर्मसम्बन्धात्) प्रधानकर्म के साथ नियत सम्बन्ध है।

भा०—द्रव्य और देवता ही याग है, और प्रयोजन उसका फल है। और जिस वाक्य में इन तीनों का सम्बन्ध सुना जावे, वह प्रधानकर्मविधायक होता है। क्योंकि उस वाक्य में भी पशु आदि द्रव्य, वायु आदि देवता तथा भूति आदि फल के सम्बन्ध का श्रवण होता है। अतएव वह गुण, अथवा जहाँ तक कहा गया है, उतने ही कर्म के विधायक नहीं, किन्तु प्रधानकर्म के विधानकर्त्ता हैं। भाव यह है—कि गुणविधि मानने से फल-श्रवण व्यर्थ होता है, और जो कहा हुआ निर्णयरूपकर्म अतिदेश से प्राप्त हो जाता है, उसका विधान मानना समीचीन नहीं, अतः वे वाक्य अपूर्वकर्म के विधायक हैं, यही मानना ठीक है।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

**उ०प०स०—लिङ्गदर्शनाच्च॥ १५॥**

प०क्र०—(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये याने से भी पूर्वोक्तकार्य की सिद्धि होती है।

भा०—जैसे इस वाक्य में कि 'सौमारौद्रं चरुं निर्वपेत्' (तै० सं० २।२।१०) अर्थात् सौम्य और रौद्रस्वभाव परमात्मा के निमित्त चरु में निर्वपण* करे। यहाँ चरुविधान कर 'परिश्रिते याजयेत्' समाज में याग करावे। उस निर्वाप का यागवाचक 'यजि' पद से अनुवाद करके जो परिश्रयणरूप गुणविधान किया गया है, वह उन वाक्यों के यागविधानकर्त्ता होने में लिङ्ग है। जैसे कि सौमारौद्र वाक्य में निर्वापमात्र कथन नहीं, किन्तु याग भी अभिप्रेत है, उसी भाँति उन वाक्यों में यागविधान से ही तात्पर्य है, न कि

* निर्वपण का अर्थ शान्त करना अथवा प्रदान करना है।

वहाँ गुणविधान से, अथवा निर्वापमात्रविधान से प्रयोजन है।

सं०—वत्सया लभते में संस्कारकर्म का विधान है इसका निरूपण करते हैं।

### ६—वत्सालम्भाधिकरणम्

### सि० प०—विशये प्रायदर्शनात्॥ १६॥

प०क्र०—(विशये) यागविधि है अथवा संस्कारविधि है इस संशय के उपस्थित होने पर (प्रायदर्शनात्) प्रकरणबलादेश से निश्चय करे।

भा०—अग्निहोत्र के प्रकरण में 'वत्समालभेत' यह वाक्य प्रधानकर्म का वाचक है अथवा स्पर्शरूपसंस्कारमात्र का विधायक है। इसको स्पष्ट करने के लिए यह समाधान है-कि गो-दोहन=गौ का दुहना आदि विधिवाक्यों में वह पाठ है। दुहना संस्कार कर्म है। उनके बीच में होने से वत्सालम्भन भी संस्कार कर्म ही है। क्योंकि लोक में भी ऐसा ही देखा जाता है—कि प्रधानपुरुषों की कक्षा में प्रधान का ही नाम प्रधानतया लिखा जाता है। फलरहित का विधान मानना ठीक नहीं। अत: वह वाक्य वत्स (बछड़े) के छूनेरूप-संस्कारमात्र का विधायक है, न कि याग का।

सं०—इस अर्थ में अब हेतु देते हैं।

### सि०प० स०—अर्थवादोपपत्तेश्च॥ १७॥

प०क्र०—(च) तथा (अर्थवादोपपत्तेः) अर्थवाद से भी उस अर्थ की सिद्धि है।

भा०—जैसे—इस वाक्य का शेष अङ्गरूप अर्थवाद उस वाक्य की समीपता में पढ़ा है-कि 'वत्सनिकान्ता ही पशवः' अर्थात् पशु अपने बछड़े से प्यार करने वाले होते हैं। दोनों वाक्यों के योग से यह कह सकते हैं, कि जिस कारण पशुओं को अपने बच्चे प्यारे हैं, इस कारण वत्स (बछड़े) का आलम्भ करना ठीक है। जब गौ दुहने के समय उसका बछड़ा गौ के सम्मुख खड़ा किया जाता है, तो वह गौ प्रसन्न होकर दूध की धारायें छोड़ने को उद्यत हो जाती है। अत: उस समय बछड़े की पीठ पर हाथ फेरना चाहिये। यह अर्थवाद का भाव है। यदि 'आलम्भ' क्रिया का अर्थ स्पर्श करना हाथ फेरना आदि न किया जाय, और परित्याग ही किया जावे, तो अर्थवाद नहीं बन सकेगा। क्योंकि सामीप्य के परित्याग से गौ का प्रसन्न होना अस्वाभाविक है। अत: उस वाक्य में प्रधानकर्म का विधान नहीं,

* यस्मात् वत्सप्रियाः पशवः तस्माद् वत्स आलब्धव्यः।

किन्तु गोवत्स के लालनपालनस्पर्शरूप संस्कार का ही विधान है।

सं०—'चरुमुपध्यति' यह वाक्य संस्कारकर्म का विधान करने वाला है, इसे कहते हैं।'

## ७—चरूपधानाधिकरणम्

### सि०प०—संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात्॥ १८॥

प०क्र०—(अर्थशब्देन) उपधानरूपकर्मवाची (उपदधाति) क्रिया के साथ (संयुक्तः) नियोतिज जो चरु है, यह (तदर्थः) उपधान के निमित्त है, (तु) न कि याग के निमित्त। क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) श्रुति के साथ संयोग होने से, अर्थात् इससे सुने हुए अर्थ का लाभ होता है।

भा०—'चरुमुपदधाति' ऐसा अग्निचयनप्रकरण में पाठ है। यह वाक्य नीवार (साठी के चावल) का चरुद्रव्यसाधनरूप प्रधानकर्म का विधान करने वाला है, अथवा चरु के उपधानरूप-संस्कारमात्र का विधान करता है। ऐसा संदेह होने पर यह उत्तर दिया जाता है—कि चरु का योग (सम्बन्ध) 'उपदधाति' के साथ है, न कि 'यजति' के साथ। यदि 'यजति' के साथ काल्पनिक सम्बन्ध माना जावे, तो कल्पनारूप गौरवदोष आता है, और सुने हुए 'चरु' और उपधान के सम्बन्ध की हानि होती है, अतः यह ठीक नहीं। चरु का उपधान मानने से सुने हुए अर्थ का लाभ होता है। क्योंकि उपधान, चरु का संस्कार ही तो है। अतएव वह वाक्य प्रधानकर्म का विधानकर्त्ता नहीं, किन्तु उपधानरूप संस्कार का है।

सं०—पर्यग्निकृत वाक्य भी संस्कार का विधायक है।

## ८—पात्नीवताधिकरणम्

### सि०प०—पात्नीवते तु पूर्वत्वादवच्छेदः॥ १९॥

प०क्र०— **(पात्नीवते) वाक्यविशेष द्वारा (अविच्छेदः) सामान्य-याग में अभिलषित द्रव्यसंस्कार का विधान है, न कि अपूर्वयाग का, क्योंकि (पूर्वत्वात्) याग पद पूर्व ही आ चुका है।

भा०—'त्वाष्ट्र पात्नीवत' नामक—याग में त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत अर्थात् परमात्मा विश्वकर्मा, जो कि सर्वशक्तियुक्त है, उसके उद्देश्य से पशु

---

* (चरु)=चार मुट्ठी साठी के चावल के भात को 'चरु' और उसका जो स्थानविशेष में रखना है, उसको 'उपधान' कहते हैं।

** 'पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति' वाक्य है।

का उत्सर्ग करे। इसमें 'आलभेत' पद का 'उत्सृजन्ति' पद से अनुवाद किया गया है। और 'पात्नीवत' पद से प्रकृत 'त्वाष्ट्र पात्नीवत' पशु का ग्रहण भी है। क्योंकि एकदेश का ग्रहण भी समूह का परामर्शक होता है। अत एव उक्त वाक्य में अपूर्व (प्रधान) कर्म का विधान नहीं, किन्तु प्रकृतयाग का अनुवाद करके, उसके साधन पशु में पर्यग्निकरणरूप संस्कार का विधान करता है, और जो प्रकृतयाग में पशु दिया जाता है, उसका पर्यग्निकरण पर्यन्त ही संस्कार करके दान होता है, न कि उसमें अग्निसम्बन्धी संस्कार अपेक्षित होता है। सारांश यह है- 'दर्भमुष्टि' अर्थात् कुशामुष्टि के आगे के भाग में अग्नि लगाकर पशु के चारों ओर घुमानारूप संस्कार को पर्यग्निकरणसंस्कार कहते हैं। उसी का केवल यहाँ विधान है।

सं०—'अदाभ्य' नामक पात्रविशेष का निरूपण करते हैं।

## ९—अंश्वदाभ्याधिकरणम्[1]

## सि०प०—अद्रव्यत्वात्केवले कर्मशेषः स्यात्॥ २०॥

प०क्र०—(अद्रव्यत्वात्) द्रव्य और देवता के न होने के कारण (केवले) केवल 'अदाभ्य' और 'अंशु' ग्रहण सुने जाने से यागविधान की कल्पना नहीं हो सकती। क्योंकि (कर्मशेषः) यह ज्योतिष्टोम कर्म का अङ्ग (स्यात्) है, न कि प्रधान कर्म।

भा०—द्रव्य और देवता दोनों याग के स्वरूप हैं। जहाँ इन दोनों की प्राप्ति हो, वह वाक्य याग का विधान करने वाला होता है। इस वाक्य में 'एष ह वै हविषा हविर्यजते योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते' (तै० सं० ३।३।४।२। अर्थात् वही पुरुष हविः से हवन करता है, जो कि 'अदाभ्य' लेकर सोम्यगुरुरूप परमात्मा के निमित्त हविर्दान करता है। क्योंकि वह 'परा वा एतस्याऽऽयुः प्राण एति योऽशुं गृह्णाति' अर्थात् उस पुरुष का प्राण आयु का लाभ करता है। इन वाक्यों में द्रव्य तथा देवतावाची कोई शब्द नहीं है। और प्रथमवाक्य में जो यागवाची 'यजते' पद है, उससे 'अदाभ्य' का सम्बन्ध नहीं है। किन्तु वह 'गृहीत्वा' पद से मिला हुआ है। अतः 'अदाभ्य' का सम्बन्ध गृहीत्वा से है। और 'अंशु' वाक्य में तो यागवाची कोई पद भी नहीं है। अतः वे वाक्य याग के विधान करनेवाले नहीं हो सकते। प्रत्युत ज्योतिष्टोमयज्ञ में दोनों ग्रहों के ग्रहण करने का विधान वरते

सूचना—(१) एतानि सर्वाण्यधिकरणानि (पूर्वोक्तानि वक्ष्यमाणानि च) जैमिनीय न्यायामालायां प्रकाशितानि, तत एव विद्वद्भिर्विलोकनीयानीति देव आचार्यः।

हैं,[१] न कि किसी यागविशेष का।

सं०—अब अग्निचयन संस्कारकर्म का निरूपण किया जाता है।

## १०—चयनाधिकरणम्

### अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् क्रतुशब्दः प्रतीयेत॥ २१॥

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष का द्योतक है। (अग्निः) अग्नि वाक्य (क्रतुशब्दः) याग का नाम (प्रतीयेत) प्रतीत होता है। क्योंकि (लिङ्गदर्शनात्) उसके बतलानेवाले स्तोत्र तथा शस्त्ररूप चिह्न मिलते हैं।

भा०—जिसका जिसके साथ नियत सम्बन्ध है, उसके देखने से उसका ज्ञान हो जाता है। उसी प्रकार स्तोत्र और शस्त्र का भी याग से नियत-सम्बन्ध है। जैसे—अग्नेः=स्तोत्रम्, अग्नेः=शस्त्रम्। 'इनमें अग्नि-सम्बन्धी स्तोत्र और शस्त्र हैं।' इन वाक्यों से ऐसा पाया जाता है, कि 'अग्नि' याग का नाम है। क्योंकि 'य एवं विद्वानग्निं चिनुते' इस वाक्य में 'चिनुते'[२] पद लक्षणावृत्ति द्वारा यागवाची है। अतः यह वाक्य अग्निचयनरूप संस्कारकर्म का विधानकर्त्ता नहीं; किन्तु 'अग्नि' संज्ञक अपूर्वकर्म (याग) का बतलानेवाला है।

सं०—इसका समाधान यह है।

### उ०प०—द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात्॥ २२॥

प०क्र०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष के परिहारार्थ है। (द्रव्यम्[३] अग्नि शब्द से अग्नि द्रव्य का विधान है। (चोदनायाः) क्योंकि वह प्रेरणा (तदर्थत्वात्) उसी के स्थापनार्थ है।

भा०—वैदिककर्मकाण्डी गार्हपत्यादिरूप से स्थापित हुई अग्नि को वेदि (स्थण्डिल) में स्थापित करने का नाम 'चयन' संस्कार कहते हैं। जैसे-कोई एक चौकी पर रक्खी संहिता को अन्यत्र रख देवे, तो वह रखना संस्कारमात्र जाना जाता है। उसी प्रकार वह 'चयन' आधान की हुई अग्नि का संस्कार है, जो कि 'चिनुते'—पद का अर्थ है। यहाँ लक्षणा करके अग्नि शब्द का यदि याग अर्थ निकालें, तो अग्नि शब्द का 'ज्वलन'

१. 'अदाभ्य' और 'अंशु' ये दोनों नाम, दो 'ग्रह' अर्थात् पात्रविशेष के नाम हैं, जिनका उपयोग ज्योतिष्टोमयाग में होता है।
२. उत्तर वेदि (स्थण्डिल) में संस्कृत अग्नि का 'चयन' नाम स्थापन क्रिया को 'चयन' कहते हैं।
३. यहाँ अग्नि शब्द का अर्थ है आधान, और ज्वलन दूसरे द्रव्य का नाम है।

द्रव्यविशेष रूप अर्थ लुप्त हो जायगा। इस कारण लक्षणा करना समीचीन नहीं। अतएव यही ठीक है-कि अग्निसंज्ञक अपूर्वयाग का विधायक वह पद नहीं है, किन्तु केवल अग्निचयनरूप संस्कार कर्म का ही बतलानेवाला मानना चाहिये।

सं०—'आग्नेः स्तोत्रम्' में अग्नि पद यागवाची है, इसी बात का समाधान किया जाता है।

**सि०प० सहा०—तत्संयोगात्क्रतुरतदाख्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि॥ २३॥**

प०क्र०—(तत्संयोगात्) यज्ञ के साथ अग्नि का अङ्गाङ्गिभावरूप सम्बन्ध है। (तदाख्यः) इस कारण अग्नि पद (क्रतुः) ज्योतिष्टोम यज्ञ का वाचक (स्यात्) है। अतः (तेन) वह वाक्य (धर्मविधानानि) याग में स्तोत्र एवं शस्त्ररूप गुण का विधान करता है, न कि संज्ञा का बोधक है।

भा०—'अग्नेः स्तोत्रमग्नेः शस्त्रम्' इन वाक्यों में अग्नि पद का प्रयोग ज्योतिष्टोम-यज्ञ के निमित्त है। क्योंकि अग्नि पद का उस यज्ञ में अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध है। अतः वह वाक्य ज्योतिष्टोम यज्ञ में स्तोत्र और शस्त्ररूप गुणविशेष का विधायक है, न कि 'अग्नि' नामक किसी अपूर्व यागविशेष का।

सं०—'मासाग्निहोत्र' पद में कर्मान्तर का विधान करते हैं।

## ११—प्रकरणान्तराधिकरणम्।

**सि०प०—प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम्॥ २४॥**

प०क्र०—(प्रयोजनान्यत्वम्) नित्य अग्निहोत्र कर्म से 'मासाग्निहोत्र' कर्म भिन्न है। क्योंकि (प्रकरणान्तरे) वह अन्य प्रकरण में पढ़ा हुआ है।

भा०—जो वाक्य जिस कर्म के प्रकरण में नहीं पढ़ा गया है, वह उस कर्म में गुणविधायक नहीं हो सकता। क्योंकि उस वाक्य का वहाँ सम्बन्ध ही नहीं है। 'कुण्डपायिनामयने' अर्थात् उस अयन नामक सत्र के प्रकरण में पढ़ा हुआ अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमास, नियत अग्निहोत्र तथा नियत दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पढ़ा हुआ* नहीं माना जा सकता है। अत एव उसमें 'मास' रूप गुणविशेष का विधान नहीं, किन्तु नित्यकर्म से भिन्न मासाग्निहोत्र** आदि कर्मविशेष का ही विधान है।

* कुण्डपायिनामंयनामकसत्रे 'मासमग्निहोत्रं जुहोति', 'मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' आदि वाक्य हैं।

** जिस यज्ञ में अनेक यजमान तथा स्वयं ऋत्विक् होते हैं वह 'सत्र' कहलाता है।

सं०—'आग्नेय' आदि वाक्य को कर्मान्तर में विहित सिद्ध करते हैं।

## १२—फलसंस्कार्याधिकरणम्।

### सि०प०—फलं चाकर्मसन्निधौ॥ २५॥

प. क्र.—(च) तथा (अकर्मसन्निधौ) कर्मसन्निधि से पृथक् पृथक् पढ़ा हुआ (फलम्) फल प्रकरणान्तर से कर्म का भेद करनेवाला होता है।

भा०—'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद् रुक्कामः', 'अग्नीषोमीयमेकादशकपालं निर्वपेद् ब्रह्मवचर्सकामः', 'ऐन्द्राग्नेमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः'—इन वाक्यों में शङ्का होती है, कि ये वाक्य प्रकृत आग्नेयदियागों का अनुवाद करके केवल फलमात्र का विधान करते हैं, अथवा प्रकृतयागों में कर्मान्तर का। पूर्वपक्षी कहता है—कि फलमात्र का। सिद्धान्ती कहता है—कि नहीं। ये वाक्य कर्मान्तर का विधान करते हैं। क्योंकि अनुवादक वाक्यों में फल का विधान नहीं किया जा सकता। फल सदा कर्म के विधान के साथ रहता है, और अनुवादकवाक्यों में कोई शब्द कर्म का विधायक होता नहीं। क्योंकि वे तो विहित हुए का अनुवाद करते हैं। अतः ये उपर्युक्त वाक्य फलसहित कर्मान्तर के द्योतक अर्थात् विधायक हैं।

सं०—अवेष्टियाग में 'एतया' आदि वाक्य फलविधायक हैं, यह निरूपण करते हैं।

## १३-प्रकरणान्तर प्रत्युदाहरणाधिकरणम्।

### सन्निधौ त्वविभागात्फलार्थेन पुनः श्रुतिः॥ २६॥

प०क्र०—(सन्निधौ) अवेष्टि-यज्ञ की समीपता में पढ़ा हुआ 'एतया' वाक्य (फलार्थेन) फलसम्बन्ध के कारण (पुनःश्रुतिः) अवेष्टि याग का पुनः पुनः करना बतलाता है, (तु) न कि कर्मान्तर का, (अविभागात्) विभाग न होने से।

भा०—'एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्' इस वाक्य में जो (एतया) अर्थात् 'एतत्' शब्द है, वह भी प्रकृतयाग का ही परामर्शक है। और 'अवेष्टि' नामक याग में उसकी फलाकाङ्क्षा है। अतः वह वाक्य प्रकृत अवेष्टियाग में फलविधायक होने से कर्मान्तर का विधायक नहीं कहा जा सकता।

सं०—अब 'आग्नेय' वाक्य अर्थवाद है यह दिखलाते हैं।

## १४—आग्नेयस्तुत्यर्थताधिकरणम्।

### पू०प०—आग्नेयस्तूक्तहेतुत्वादभ्यासेन[१] प्रतीयेत॥ २७॥

प०क्र०—'तु' पद पूर्वपक्ष का द्योतक है। (आग्नेयः[२]) 'आग्नेय' आदि वाक्य में बारबार आग्नेय याग के सुने जाने से (अभ्यासेन) पुनः पुनः अनुष्ठान करना चाहिये। क्योंकि (उक्तहेतुत्वात्) पुनः पुनः पढ़ना कर्मभेद का साधक है।

भा०—बारबार श्रवण होने के आग्नेयद्विरुक्तिवाक्य अर्थवाद नहीं हो सकता, किन्तु वह पूर्ववाक्य में बतलाये गये आग्नेय याग से पृथक्, अनुष्ठान के निमित्त 'आग्नेय' नामक यागान्तर का ही विधान करता है।[३]

सं०—इसका समाधान करते हैं।

## एकदेशि सि० प०—अविभागात्तु कर्मणो[४] द्विरुक्तेन विधीयते॥ २८॥

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण करता है। (द्विरुक्तेन) पुनः पुनः कथन होने से भी (विधीयते) कर्मान्तर का उक्त वाक्य में विधान नहीं। क्योंकि (कर्मणः) पूर्ववाक्यविहितकर्म में (अविभागात्) इस वाक्य से विहित कर्म का सामञ्जस्य अर्थात् ऐक्य है।

भा०—'आग्नेय' याग का दो बार कथन मिलता है। तथापि वहाँ कर्मभेद का तात्पर्य नहीं। क्योंकि प्रकरण तो एक ही है। अत एव वह वाक्य पूर्ववाक्य में बतलाये कर्म से भिन्न आग्नेय-कर्म को नहीं बतलाता। किन्तु पूर्व बतलाये गये कर्म का ही विकल्प से विधान करता है।

सं०—पुनः पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

## सि०प०—अन्यार्था वा पुनःश्रुतिः॥ २९॥

प०क्र०—'वा' पूर्वपक्ष का परिहार करता है। और एकदेशी के समाधान को 'समाधानाभास' मात्र बतलाता है। (पुनःश्रुतिः) आग्नेय याग

---

* इसका वर्णन आगे आवेगा।

१. काशी०च०प्र०यु० मुद्रित मीमांसासूत्रपाठे 'सू' इत्येवं पाठो वर्तते-इति देव आचार्यः।

१. 'मदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां च पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' (तै०सं० २।६।३।३) इति विधाय पुनरुच्यते-'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति' (तै०सं० २।५।३।२) इति देव आचार्यः।

३. बारबार विधान का समर्थन मीमांसा० २।२। में पूर्व ही कहा गया है।

४. काशी०च०प्र०मु०मु० मीमांसासूत्रपाठे 'कर्मणा द्विरुक्तेर्न' इत्येवं पाठो लभ्यत इति देव आचार्यः।

का पुनः पुनः श्रवण (अन्यार्था) ऐन्द्रयाग का स्तावक है।

भा०—जब प्रकरण की एकता और पूर्वकथितयाग की समानता से अभेद है, तो वे वाक्य विकल्प से भी विधायक नहीं कहे जा सकते। किन्तु वे अनुवादक ही रहेंगे। प्रयोजनहीन अनुवाद वृथा ही है। क्योंकि अनुवाद केवल विधेय की स्तुति के लिये होता है, यहाँ विधेय 'आग्नेय याग' है। अत एव वह वाक्य उस याग के पृथक् यागान्तर को नहीं कहता, किन्तु उस याग का स्तावक (स्तुतिरूप अर्थवाद) है, अर्थात् प्रकृतयाग का देवता अग्नि (परमात्मा) होने से वह याग परम तेजस्वी है।

**इति भाषाभाष्येपेतद्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः।**

## अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः प्रारभ्यते

सं०—'जब तक जिये अग्निहोत्र कर्म करे' इसमें पूर्वपक्ष करते हैं।

**पू०प०—यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात्॥ १॥**

प०क्र०—(यावज्जीविकः) जीवनपर्यन्त होनेवाला। (अभ्यासः) पुनः पुनः अनुष्ठान, (कर्मधर्मः) अग्निहोत्रकर्म का धर्म है। क्योंकि (प्रकरणात्) कर्म का प्रकरण होने से।

भा०—'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' और 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' काम्यकर्मों में पठित इन वाक्यों में 'यावज्जीव' शब्द का अर्थ जीवनकाल पर्यन्त है। वह कर्म का धर्म है, न कि पुरुष का। कर्म वहाँ प्रकरण से ही प्राप्त है। अतः उक्तवाक्य प्रकृत अग्निहोत्रादि कर्म में यावज्जीवरूप धर्म के विधायक हैं, न कि पुरुषगतधर्म के विधायक हैं।

सं०—इस पक्ष का समाधान किया जाता है।

**सि०प०—कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात्॥ २॥**

प०क्र०—'वा' शब्द का पूर्वपक्ष परिहार के निमित्त प्रयोग है। (कर्तुः) 'यावज्जीव' पुरुष का धर्म है। क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) मुख्यार्थ लाभ होने से।

भा०—यहाँ 'जावज्जीव' शब्द का जीवनकाल यह लक्ष्यार्थ है, वाच्यार्थ नहीं। उसका वाच्य-अर्थ 'कृत्स्नजीवन' यह है, जो पुरुषधर्म होने योग्य है, न कि वह कर्म का धर्म है। क्योंकि वह कर्म तो जड़ है। अतः ऐसे वाक्य पुरुषधर्म के होने योग्य जो जीवनरूपनिमित्त उसके द्वारा अग्निहोत्र आदि काम्यकर्म से पृथक् नैमित्तिक अग्निहोत्रकर्म का विधान करते हैं, न कि प्रकृतकर्म के धर्मभूत (जब तक जीये करता रहे) उस अभ्यास का

विधान करते हैं।*

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

**सि०प० सहा०—लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत तत्रानर्थकमन्यत्स्यात्॥ ३॥**

प०क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) चिह्न अर्थात् प्रमाण मिलने से। क्योंकि जब तक जीये तब तक कर्म करे, यह पुरुष धर्म है, न कि कर्म का। (हि) इस कारण कि, (कर्मधर्मे) कर्म का धर्म होने पर (प्रक्रमेण) कर्म आरम्भ करके (नियम्येत) मरणपर्यन्त समाप्त करने का नियम माना जाता। (तत्र) पर ऐसा नहीं है। (अन्यत्) क्योंकि ऐसा मानने पर फलक्षयश्रवण (अनर्थकम्) वृथा (स्यात्) हो जाता है।

भा०—'जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ च, जरया ह वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च' अर्थात् जरा-मरण-पर्यन्त प्रतिपर्वसमाप्ति पर अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमासयज्ञ करता रहे। मृत्यु हो जाने पर ही समाप्त होना चाहिये, बीच में नहीं। क्योंकि 'अपि ह वा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी पौर्णमासीममावास्यां वाऽतिपातयेत्' इस वाक्य में लिखा है कि जो दर्शपूर्णयाग को आरम्भ कर बीच में छोड़ दे, तो, उसके दोनों लोक के अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक सुख क्षीण हो जाते हैं। इसमें फल के क्षय का कथन किया गया है, अर्थात् वह फल नष्ट हो जाता है। क्योंकि वह अभी तक अपूर्ण है, वह तो आयुपर्यन्त ही होना चाहिये था, बीच में नहीं छोड़ना था। अतः सिद्ध हुआ कि 'यावज्जीव', कर्म का धर्म नहीं, किन्तु पुरुष का धर्म है। और वह प्रतिदिन समाप्त हो जाने के कारण बीच में छूट सकता है। अत एव ऐसे कर्मों को अग्निहोत्रादि काम्यकर्म से पृथक्, जीवननिमित्तक अग्निहोत्रादि नित्यकर्म के विधायक मानना चाहिये, न कि यावज्जीवरूपगुण के विधायक समझना चाहिये।

सं०—इसमें यह हेतु भी है।

**शि०प० सहा०—व्यपवर्ग[१] च दर्शयति कालश्चेत्कर्मभेदः स्यात्॥ ४॥**

प०क्र०—(व्यपवर्गम्) दर्श आदि कर्म की समाप्ति (च) तथा

---

* इस विषय में 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः (यजुः-४०। २) आदि प्रमाण हैं।'

१. काशी०चं०प्र०मु०मु० मीमांसासूत्रपाठे (र्गश्च) इति पाठ इति देव आचार्यः।

कर्मान्तर की विधि (दर्शयति) वाक्यान्तर में मिलती है। (चेत्) यदि (कालः) दर्शकर्म की समाप्ति के पश्चात् काल शेष है, (कर्मभेदः) तभी तो कर्मविशेष का विधान (स्यात्) हो सकता है।

भा०—'दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' अर्थात् दर्शपूर्णमास यज्ञ करके ज्योतिष्टोम याग करे—इस वाक्य में दर्शपूर्णमासकर्म की समाप्ति और तदनन्तर ज्योतिष्टोमयाग की विधि कही गई है। यदि 'यावज्जीव' को कर्म का धर्म मानें, तो कर्म की समाप्ति और समाप्ति के अनन्तर कर्मान्तर की विधि न बतलाई जाती। क्योंकि जीवनभर में पूर्ण होने वाले कर्म बीच में पूर्ण, और तदनन्तर पुनः कर्मान्तर की विधि नहीं हो सकती। परन्तु उस वाक्य में दोनों विधियाँ मिलती हैं। अतः यही ठीक है कि 'यावज्जीव' पुरुष का धर्म है, न कि कर्म का धर्म है।

सं०—इसमें अन्य हेतु देते हैं कि:—

**सि०प० सहा०—अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात्॥ ५॥**

प०क्र०—(तु) तथा सामान्य-अग्निहोत्रादि काम्यकर्म (एवम्) इस प्रकार जरा, मृत्यु अवधिवाला (न स्यात्) नहीं होता। (अनित्यत्वात्) क्योंकि वह अनित्य है।

भा०—वृद्धावस्था और मरणपर्यन्त अग्निहोत्र कर्त्तव्य है। क्योंकि 'जरामर्यं वा एतत्' इस वाक्य से ऐसा ही सिद्ध होता है; कि वैदिककर्म कभी न छोड़े। परन्तु यह काम्यकर्म की नित्यता बतलाता है, न कि काम्यपक्ष की। काम्यकर्म स्वेच्छा पर करने अथवा न करने योग्य होते हैं। परन्तु प्रत्यवाय तभी होगा कि जब काम्यकर्म न होगा। अत एव सामान्य अग्निहोत्रादिरूप काम्यकर्मों से, नित्य-अग्निहोत्र-कर्म पृथक् है, और पूर्वोक्त वाक्य उसी का विधान करता है।

सं०—इसमें हेतु देते हैं:—

**सि०प० सहा०—विरोधश्चापि पूर्ववत्॥ ६॥**

प०क्र०—(च) तथा (पूर्ववत्) पूर्व कहे दोषों के समान (विरोधः अपि) अनुष्ठान न करना रूप दोष भी आता है।

भा०—सामान्यतः यज्ञ दो प्रकार के होते हैं, प्रकृति तथा विकृति। जो अन्नसाध्य याग हैं, और जहाँ समग्र अङ्गों का उपदेश है, उनकी संज्ञा प्रकृतियाग, जैसे दर्शपूर्णमास है। और उससे अतिरिक्त को विकृतियाग कहते हैं। जैसे—'सौर्य' याग को विकृतियाग कहा है। इन दोनों यागों के

धर्म में भेद नहीं होता। क्योंकि प्रकृतियाग के समान ही विकृतियाग भी होता है। यदि जब तक जीये, यज्ञ करे, इसको दर्शपूर्णमासादि कर्म का धर्म माना जावे, तो 'सौर्य' याग का भी धर्म स्वीकार करना होगा। परन्तु इसमें अनुष्ठान का अभावरूप दोष आता है। सौर्ययाग का अनुष्ठान यावदायुषः (आयुः पर्यन्त) नहीं हो सकता। केवल दो या एक दिन का ही अनुष्ठान हो सकता है। अतः बीच में समाप्ति न हो सकने के कारण वह पुरुषधर्म ही है, न कि कर्म का धर्म।

सं०—इसका उपसंहार करते हैं।

**सि०प० सहा०—कर्तुस्तु धर्मनियमात् कालशास्त्रं निमित्तं स्यात्॥ ७॥**

प०क्र०—(कालशास्त्रम्) समयशास्त्र के समान (यावज्जीव) वाक्य। (निमित्तम्) जीवनरूप निमित्त का बोधक होगा। (कर्तुः धर्मनियमात्) कर्ता का धर्मनियम मानने से। (तु) न कि कर्म का धर्मनियम मानने से।

भा०—जब तक जीता रहे, यही अर्थ 'यावज्जीव' का है। क्योंकि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' में यह पद आया है। इसका अभिप्राय पुरुषधर्म से ही है, न कि कर्मधर्म से। अर्थात् जीवनरूपनिमित्त के कारण अग्निहोत्र कर्मों के नियम का विधान है अर्थात् वह सायं प्रातः नियय से किया जावे, यह रहस्य है।

सं०—सब शाखाओं के वैदिककर्मों का समन्वय करते हैं।

**पू०प—नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्ति-निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्ताऽन्यार्थ-दर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात्॥ ८॥**

प०क्र०—(शाखान्तरेषु) विभिन्न शाखाओं में।* (कर्मभेदः) कर्मों का परस्पर भेद (स्यात्) है। क्योंकि (नाम, रूप, धर्म, विशेष, पुनरुक्ति, निन्दा, अशक्ति, समाप्तिवचन, प्रायश्चित्त-अन्यार्थदर्शनात्) नामभेद, स्वरूपभेद, धर्मभेद और पुनरुक्ति आदि भेद के कारण पाये जाते हैं।

भा०—ब्राह्मणों और काठादिक शाखाओं में अग्निहोत्र का विशद

---

* शतपथ, गोपथ, साम और ऐतरेय ब्राह्मण, काठक, कालापक, काण्व, माध्यान्दिन, तैत्तरीयादि शाखायें हैं। यह सब मिलकर ११२७ शाखायें हैं। महाभाष्य में पतञ्जलि ने ११३१ भेद बतलाये हैं।

वर्णन पाया जाता है। वह प्रतिशाखाभेद से पृथक्-पृथक् है, अथवा एक ही है। ऐसी शङ्का होने पर पूर्वपक्षी कहता है कि कर्मभेद के बतलाने वाले नामभेद आदि नौ (९) कारण हैं* अतः प्रतिशाखा में कर्मों का परस्पर भेद ही है, न कि ऐक्य।

सं०—इसका समाधान किया जाता है।

---

* १—नामभेद—जैसे काठक शाखा में पढ़े गये कर्म काठक कहे जाते हैं, और कालापक में पठित कालापक कहे जाते हैं।

२—रूपभेद—जैसे द्रव्य और देवता यागरूप कहे गये हैं। परन्तु कहीं ग्यारह कपाल और कहीं बारह कपाल रूपभेद से प्रतिशाखा कर्मभेद पाया जाता है।

३—धर्मविशेष अर्थात् धर्मभेद—जैसे तैत्तरीय शाखावाले 'कारीरी' वाक्यों के अध्ययन समय भूमि पर भोजन करते हैं। परन्तु अन्य नहीं करते। कोई-कोई अग्न्याधान प्रकरण के अध्ययनकाल में अध्यापक को जलकुम्भ लाकर देते हैं, अन्य नहीं। अश्वमेधप्रकरण के अध्ययनकाल में कोई-कोई (अध्यापक के) घोड़े को घास ला देते हैं, कोई नहीं भी लाते। अतः अपने-अपने आचरणभद से कर्मभेद हैं।

४—पुनरुक्ति—जैसे एक ब्राह्मण अथवा शाखा में बतलाये कर्म के ब्राह्मणान्तर में फिर बतलाये जाने का नाम पुनरुक्ति है। जब कर्म एक ही है तो पुनरुक्ति वृथा है। परन्तु यह पुनः कथन मिलता है। अतः कर्मभेद अवश्य है।

५—निद्रा—जैसे कुछ शाखावाले कहते हैं—कि सूर्योदय से पूर्व किया हुआ हवन मिथ्या बोलने के समान है। क्योंकि सूर्योदय-समय का पाठ तथा क्रिया सूर्य के उदय होने पर ही सार्थक है। इसी भाँति कोई कहते है कि जब उदय न हो तब होम करें। अर्थात् जैसे अतिथि के चले जाने पर भिक्षान्न ले जाना वृथा है। वैसे ही सूर्योदय पर होम करना है। अतः उदित और अनुदित होम की निन्दा पाई जाती है। जैसेः-'प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयात् जुह्वति येऽग्निहोत्रम्' तथा 'यथाऽतिथये प्रद्रुतायान्नमाहरेयुस्तादृक् तद् यद्युदिते जुह्वति' दोनों प्रकार से निन्दा है।

६—अशक्तिभेद—बहुत से ऐसे कर्म हैं—कि जिन्हें करना अतिदुस्तर है। जैसे ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित अग्निहोत्र का साङ्गोपाङ्ग करना। अतः ब्राह्मण और शाखाओं में कर्मभेद है।

७—समाप्तिवचन—किसी शाखावाले कहते हैं—कि 'अत्रास्माकमग्निः परिसमाप्यते'। और दूसरे कहते हैं कि 'अन्यत्र परिसमाप्यते'। यहाँ पर अत्र और अन्यत्र समाप्ति के भेद से कर्मभेद पाया जाता है।

**सि०प०—एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्॥ ९॥**

प०क्र०—(वा) शब्द का पूर्वपक्षपरिहारार्थ प्रयोग है। (एकम्) प्रति ब्राह्मण तथा प्रतिशाखा में अग्निहोत्रादिकर्म एक ही है, भेद नहीं। क्योंकि (संयोगरूपचोदनाऽऽख्याऽविशेषात्) फल, स्वरूप, प्रेरणा और नाम का सर्वत्र समन्वय है, अर्थात् एक ही है।

भा०—जैसा एकब्राह्मणग्रन्थ तथा एकशाखा में अग्निहोत्र का फल, स्वरूप, विधान है। उसी भाँति ब्राह्मणान्तर और शाखान्तर में भी है। यदि उनका भेद होता तो फलादिभेद भी अवश्य होता। परन्तु ऐसा नहीं है, फल सर्वत्र एक ही है। अतः ब्राह्मण और शाखा के भेद से कर्मभेद नहीं है, किन्तु कर्म सर्वत्र एक ही है।

सं०—नामभेदरूपहेतु का निराकरण करते हैं।

**सि०प० सहा०—न नाम्ना स्यादचोदना-विधानत्वात्॥ १०॥**

प०क्र०—(नाम्ना) नामभेद से (न स्यात्) अग्निहोत्रकर्मों का भेद नहीं हो सकता। क्योंकि (अचोदनाभिधानत्वात्) पृथक् उनकी विधि का विधान न होने से।

भा०—'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य द्वारा जो कर्म कथन किया गया है। उस वाक्य के भिन्न होने से कर्म का भेद सम्भव है, अन्यथा नहीं। काठ, कालापक आदि ग्रन्थों के भिन्न होने से तत्प्रतिपादित कर्मों का भेद हो

८—प्रायश्चित्त—कुछ शाखावाले अनुदयकाल निकल जाने पर, अर्थात् सूर्योदय से पहिले होम न करने पर प्रायश्चित्त करते हैं, दूसरे उदितहोम का समय निकल जाने पर अर्थात् सूर्योदय के पश्चात् होम न करने पर प्रायश्चित्त करते हैं। अतः प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा कर्मभेद है।

९—अन्यार्थदर्शन—जैसे किसी ने यागदीक्षा ली, तो वही प्रथम 'दीक्षित' हुआ 'ज्योतिष्टोम' (वृहत्साम) कर सकता है, वही 'रथन्तरसाम' करे। यह दोनों बृहत्साम और रथन्तरसाम याग १२ दिन में हो सकते हैं। और 'द्वादशाह' और ज्योतिष्टोम के अवान्तर भेद हैं। यहाँ दीक्षित और अदीक्षित दोनों प्रकार के पुरुषों का अधिकार मिलता है। परन्तु ब्राह्मणान्तर में कहा गया है कि ज्योतिष्टोम प्रथम याग है, इसे छोड़कर अन्य यागकर्त्ता अवनति को प्राप्त होता है। इसमें 'अदीक्षित' को अधिकार मिलता है। अतः कर्मभेद है। वे वाक्य यह हैं—ताण्ड्यके श्रूयते—'एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्जोतिष्टोमो य एतेना-निष्ट्वाऽथान्येन यजेत गर्त्तपत्यमेव तज्जायेत प्र वा मीयते' इति देव आचार्यः।

सकता है, न कि स्वतः, कर्म सब शाखाओं में एक ही है।

सं०—इसमें युक्ति देते हैं।

**सि०प० सहा०—सर्वेषां चैककर्म्यं स्यात्॥ ११॥**

प०क्र०—(च) और। (सर्वेषाम्) अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि सब यज्ञ, (एककर्म्यम्) एक कठ शब्द या एक कठ शाखा द्वारा कहे जाने के कारण एक ही कर्म क्यों न (स्यात्) मान लिए जावें। अतः ग्रन्थभेद से कर्मभेद नहीं हो सकता।

भा०—तैत्तरीय ब्राह्मण में अग्निहोत्रादिविषयक सम्पूर्णकर्म पढ़े गये हैं। यदि ग्रन्थसंयोग से होतव्यकर्म का भेद माना जाता, तो एक ग्रन्थ से प्रतिपादित सबकर्म एक ही कर्म होने चाहियें। क्योंकि वे 'तैत्तिरीय' इस नाम से कहे जाते हैं।

सं०—इसमें युक्ति यह भी है।

**सि०प० सहा०—कृतकं चाभिधानम्॥ १२॥**

प०क्र०—(च) तथा (अभिधानम्) काठक, कालापक, यह नामभेद (कृतकम्) बनावटी अर्थात् नूतन है। सार्वदिक अर्थात् सदा रहनेवाला नहीं है।

भा०—जब से कठ, कालापक आदि प्रवचन (ग्रन्थनामादि) हुए, तभी से काठक, कालापक नाम पड़े। परन्तु इससे पूर्व यह नाम न थे। अतः वह अनित्य हैं, और इसी कारण वे नाम कर्मभेद करने वाले नहीं कहे जा सकते।

सं०—रूपभेद का निराकरण किया जाता है।

**सि०प० सहा०—एकत्वेऽपि परम्॥ १३॥**

प०क्र०—(एकत्वेऽपि) प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म के एक होने पर भी (परम्) एकादशकपाल और द्वादशकपाल आदि रूपभेद तो भिन्न-भिन्न कथन के आधार पर भी हो सकता है।

भा०—एकादशकपाल और द्वादशकपाल कथन विकल्प के अभिप्राय से है, न कि कर्मभेद के अभिप्राय से। अतः उसे कर्मभेद का हेतु नहीं कह सकते।

सं०—धर्मभेद हेतु के सम्बन्ध में कहते हैं।

**सि०प० सहा०—विद्यायां धर्मशास्त्रम्॥ १४॥**

प०क्र०—(विद्यायाम्) कारीरी आदि विद्या के अध्ययन में

(धर्मशास्त्रम्) शास्त्र में बतलाये भूमि भोजनादि अङ्ग हैं, न कि कर्म में।

भा०—'कारीरी वाक्यों के अध्ययन के समय भूमि पर भोजन करना, अथवा अध्यापक को जल-कुम्भ लाना, तथा घोड़े को घास लाना इत्यादि कर्माङ्ग नहीं हैं, किन्तु वे अध्ययनाङ्ग हैं। अतः वे कर्मभेदक नहीं हो सकते।

सं०—पुनरुक्तिहेतु का समाधान करते हैं।

**सि०प० सहा०—आग्न्येयवत् पुनर्वचनम्॥ १५॥**

प०क्र०—(आग्नेयवत्) आग्नेय यज्ञ के समान (पुनवर्चनम्) पुनरुक्ति (अनुवाद) है।

भा०—जिस प्रकार 'अमावास्या' में 'आग्नेय याग' की प्राप्ति होने पर 'यदाग्नेयोऽष्टकपालः' इस वाक्यान्तर द्वारा उसका अनुवाद किया जाता है। उसी भांति एकब्राह्मण या एकशाखा से उस कर्म का ब्राह्मणान्तर तथा शाखान्तर में अनुवाद किया गया है। अतः वह कर्मभेद का प्रेरक नहीं।

सं०—इसी को पुनः पुष्ट करते हैं।

**सि०प० सहा०—अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगा-विशेषात्॥ १६॥**

प०क्र०—(वा) सूचनार्थ एवं पुष्ट्यर्थ है। (वा) अथवा (अद्विर्वचनम्) ब्राह्मण तथा शाखा में पुनर्वचन नहीं। क्योंकि (श्रुतिसंयोगाविशेषात्) वेद का सम्बन्ध सर्वत्र समान है।

भा०—एकव्यक्ति के कथन में पुनर्वचन हो सकता है। परन्तु ब्राह्मण एवं शाखाओं के बनानेवाले अनेक हैं। और वे एक वेदोक्त अग्निहोत्रकर्म का प्रवचन करते है। उनका एक ही कर्म के प्रति उपदेश हो सकता है। अत एव प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा उस कर्म का प्रवचन करने पर भी वह पुनरुक्ति नहीं।[1]

सं०—पुनः युक्ति देते हैं।

**सि०प० सहा०—अर्थासन्निधेश्च[2] ॥१७॥**

सूचना—(१) 'एकोऽर्थो बहुभिरुच्यमानः पुनरुक्तो न भवति' इति शाबरभाष्येऽस्य सूत्रस्य लिखितमिति देव आचार्यः।

सूचना—(२) आनन्दाश्रममुद्रितसतन्त्रवार्तिकाशाबरभाष्यसमेतमीमांसादर्शनेऽस्मात् सूत्रात् प्राक्—'वाक्यासमवायात्॥ १७॥'
इत्येवं प्रकारेण सूत्रमेकमधिकं लिखितमस्ति। परं तस्य शबरमुनिना भाष्यं नाकारि।

प०क्र०—(च) पुन: (अर्थासन्निधे:) एक शाखा में उस अग्निहोत्ररूप अर्थ का संपूर्ण भाव न समाने के कारण यदि उसको शाखान्तर में कह दिया, तो इतने से पुनरुक्ति नहीं मानी जाती।

भा०—दूसरी बात यह भी है—कि जिस ब्राह्मण तथा जिस शाखा में अग्निहोत्र का वर्णन है, यदि उसी ब्राह्मण तथा उसी शाखा में उसी कर्म के पास उसी अग्निहोत्रकर्म का पुन: कथन किया गया होता, तो पुनरुक्ति दोष कथन संभव था। परन्तु ऐसा नहीं है। अत: पुनरुक्ति नहीं कही जा सकती।

सं०—इसमें हेतु और भी है।

**न चैकं प्रति शिष्यते॥ १८॥**

प०क्र०—(न) और (एकं प्रति) ब्राह्मण तथा शाखा में कथित अग्निहोत्रादि कर्मों का उसी ब्राह्मण तथा उसी शाखाविषयक पुरुष के प्रति (न शिष्यते) विधान नहीं है, अपितु सब ब्राह्मण और सब शाखावाले पुरुषों के प्रति विधान है।

भा०—सब मनुष्यों के कल्याण के निमित्त अग्निहोत्र का प्रवचन है, किसी व्यक्तिविशेष के निमित्त नहीं। इसी अभिप्राय से (महीदासादि) ऋषियों ने ऐतरेय आदि ग्रन्थों में अग्निहोत्र बतलाया है। अत: वह पुनरुक्ति नहीं है। क्योंकि उस प्रवचन का उद्देश्य प्राणी-मात्र का कल्याण है। यदि वह किसी विशेष स्त्री-पुरुष के निमित्त होता, तो कुछ पुनर्वचन कहा जा सकता था। परन्तु ऐसा न होने से सर्वत्र कर्म एक ही है। ब्राह्मण तथा शाखाभेद से अग्निहोत्र कर्म में भेद नहीं। अन्यशाखावाले भी उस कर्म को करें, अत: उस कर्म का अन्य शाखाओं[१] में भी वर्णन कर दिया है।

सं०—'समासिवचन' रूप हेतु का समाधान करते हैं।

---

काशी चन्द्र.प्र.मु. मुद्रितमीमांसासूत्रपाठे च सूत्रमेतन्नास्तीत्यवगन्तव्यं विद्वद्व-रेण्यैरिति देव आचार्य:।

१. वृक्ष की शाखा के समान, वेदरूप वृक्ष की 'कठादि' शाखा है। फूल और फल एक से होते हुए भी, जैसे एक वृक्ष के समस्त पुष्प, फल, वृक्ष की किसी एकशाखा में ही नहीं रहते, अपितु विभिन्न शाखाओं में रहते हैं, उसी प्रकार वेद का कर्म एक ही शाखा में संपूर्णतया समाप्त नहीं हो जाता, अपितु विभिन्न शाखाओं में भी उसका प्रतिपादन होता है। अत: एक ही कर्म का विभिन्न शाखाओं में वर्णन होने पर भी भिन्न नहीं माना जाता—इति देव आचार्य:।

## समाप्तिवच्च संप्रेक्षा ॥ १९ ॥

प०क्र०—(च) तथा (समाप्तिवत्) कर्मसमाप्ति का बतलानेवाला वचन होने से भी (सम्प्रेक्षा) प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद नहीं है।

भा०—'अत्रास्माकमग्निः परिसमाप्यते' इस वाक्य में जो कि अस्माकं पद है, उससे विदित होता है-कि अग्निकर्म सर्वत्र एक ही है। केवल समाप्तिरूप भेद है। परन्तु यदि कर्मभेद होता, तो 'अस्माकम्' पद का प्रयोग न होता। इससे भी कर्म का भेद न होकर कर्म एक ही माने गये हैं।

सं०—निन्दा, अशक्ति तथा समाप्तिवचन ये तीनों ही कर्मभेद के हेतु नहीं हैं।

## एकत्वेऽपि पराणि निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनानि ॥ २० ॥

प०क्र०—(एकत्वेऽपि) प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा में एक अग्निहोत्र का प्रवचन होने में भी (निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनानि) निन्दा, अशक्ति तथा समाप्ति वचन (पराणि) ये तीनों होते हैं।

भा०—जिन वाक्यों में 'उदिते जुहोति, तथा अनुदिते जुहोति' ये विधिवाक्य पढ़े गये हैं। उनका अभिप्राय दोनों प्रकार के कर्म के विधान से है, निषेध से नहीं। परन्तु वहाँ दोनों विषय का विधान होने से विकल्प विधान किया गया है। अर्थात् यथावकाश उदित या अनुदित में होम करले कोई बन्धन नहीं है, यह 'निन्दा' का अर्थ है। अतएव एक ही वेदोक्त अग्निहोत्र कर्म के विकल्पविधान प्रयोजन पाये जाने से वह निन्दा कर्मभेद का अर्थ नहीं रखती। उसी प्रकार समाप्ति भी कर्मभेद का प्रयोजन नहीं रखती। इसी प्रकार कहा गया है-कि जिन अशक्त पुरुषों में कर्म करने की क्षमता नहीं वे ऐसा करें, परन्तु शक्त के लिये सब उचित है। अतः निन्दा और समाप्ति के सदृश अशक्ति भी प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा कर्मभेद का द्योतक नहीं। अतः वह कर्म सर्वत्र एक ही माना जावेगा।

सं०—पुनः आशङ्का करते हैं।

## सि०प० खं०—प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥ २१ ॥

प०क्र०—(निमित्तेन) उदित अथवा अनुदित होम की वेला पर (प्रायचित्तम्) प्रायश्चित्त विधान किया हुआ कर्मभेदपक्ष का साधक है।

भा०—सूर्योदय के समय के होम को सूर्यास्त पर, तथा सूर्यास्त का हवन सूर्योदय पर करना यह उदय तथा अनुदय का लोप माना गया है।

यदि प्रत्येक ब्राह्मण और शाखा का अग्निहोत्र कर्म एक ही है, और उदय तथा अनुदय का विधान केवल विकल्पमात्र है तो फिर प्रायश्चित्त का विधान क्यों पाया जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि प्रति-ब्राह्मण तथा प्रतिशाखा अग्निहोत्र कर्म एक न होकर नाना प्रकार के हैं।

सं०—इन शब्दों का परिहार किया जाता है।

**सि०प० सहा०—प्रक्रमाद्वा नियोगेन॥ २२॥**

प०क्र०—(वा) शब्द उपर्युक्त शङ्का के परिहारार्थ है। (नियोगेन) उदित-होम अथवा अनुदित होम की प्रतिज्ञा का नियोग (नियम) करके (प्रक्रमात्) पुनः उसके विपरीत करने पर प्रायश्चित्त कहा गया है।

भा०—उदितसमय तथा अनुदितसमय पर होम आरम्भ करने की प्रतिज्ञा करके, जब एकनियम बना लिया, पुनः उसके भङ्ग करने पर प्रायश्चित्त का विधान मिलता है। अतः वह प्रायश्चित्त कर्मभेद के कारण नहीं, किन्तु प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा अग्निहोत्र कर्म एक ही है, न कि भिन्न भिन्न।

सं०—समाप्तिवचन से मध्य (बीच) के कर्म की समाप्ति पाई जाती है। उसी को स्पष्ट करते हैं।

**सि०प० सहा०—समाप्तिः पूर्ववत्वाद्यथाज्ञाते प्रतीयेत॥ २३॥**

प०क्र०—(समाप्तिः) समाप्ति (यथाज्ञाते) प्रतिज्ञानुकूल (प्रतीयेत) समझनी चाहिये। (पूर्ववत्त्वात्) वह समाप्ति प्रथम ही निश्चित कर ली जाती है, कि अमुक दिन समाप्ति करनी है।

भा०—जो आरम्भ किया जाएगा, वह समाप्त होगा। और आरम्भ के समय अर्थात् कर्म के बराबर आरम्भ होते रहने पर भी 'अस्माकम्' का प्रयोग मिलता है, अर्थात् 'अस्माकं परिसमाप्तोऽग्निः' इति। अतः अग्निहोत्र की समाप्ति नहीं, किन्तु समाप्ति होने पर वहाँ किसी कर्म का आरम्भ अवश्य होना चाहिये। क्योंकि अग्निहोत्र के आरम्भ के समान अवान्तरकर्म का भी आरम्भ होता है। और उसी अवान्तर कर्म की बीच (मध्य) में समाप्ति होती है। अतः बीच (मध्य) में कर्म की समाप्ति को अवान्तर कर्म की समाप्ति समझना चाहिये।

सं०—अन्यार्थदर्शन के प्रथम हेतु के सम्बन्ध में कहते हैं।

**उ०प० सहा०—लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्न हि तत्र कर्मचोदना तस्माद्द्वादशाहस्याऽऽहारव्यपदेशः स्यात्॥ २४॥**

प०क्र०—(लिङ्गम्) चिह्न (अविशिष्टम्) प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा

में समान है, अतः वह कर्मभेद का हेतु नहीं। (सर्वशेषत्वात्) सर्वत्र ज्योतिष्टोम सर्वप्रथम माना गया है, अर्थात् पहिले किया जाता है, (तत्र) वहाँ (कर्म-चोदना) कर्मप्रेरणा-विधि (न हि) नहीं मानी जा सकती। (तस्मात्) अत एव (द्वादशाहस्य) बृहत्साम का (आहारव्यपदेशः) दिदीक्षाणाः तथा अदिदीक्षाणा के द्वारा प्रयोगभेद का कथन (स्यात्) है, कर्मभेद का नहीं।

भा०—'यदि पुरा दिदीक्षाणाः' वाक्य में 'दिदीक्षाणाः' और 'अदिदीक्षाणाः' इन पदों का किसी भिन्नयाग की दीक्षा से पहिले दीक्षित अथवा अदीक्षित यह अर्थ नहीं, किन्तु बृहत्साम की दीक्षा से प्रथम दीक्षित अथवा अदीक्षित यह अर्थ है, अर्थात् 'बृहत्सामा' से अदीक्षित 'रथन्तर' याग कर सकता है। और जिस ज्योतिष्टोम याग की द्वादशाह दीक्षा है, उस ज्योतिष्टोम यज्ञ को भी कर सकता है। ज्योतिष्टोम सबयज्ञों में मुख्य यज्ञ है। अतः अदीक्षित का ही अधिकार है। भेद इतना ही है—कि पहिला वाक्य 'ज्योतिष्टोम' याज्ञिक (यज्ञ करने वाले) को 'बृहत्सामा' का, और अयजनकर्ता को रथन्तरयाग का विधान करता है। अतः कर्मभेद सिद्ध नहीं होता।

सं०—अन्यार्थ का दूसरा हेतु देते हैं।

**द्रव्ये चाचोदितत्वाद्विधीनामव्यवस्था स्यान्निर्देशाद्व्य-वतिष्ठेत तस्मान्नित्यानुवादः स्यात्॥ २५॥**

प०क्र०—(च) और (द्रव्ये) अग्निरूप द्रव्य के चयन करने में (अचोदितत्वात्) एकादशिनी-याग का उपदेश (प्रेरणा) न होने के कारण (विधीनाम्) पक्षतुल्य निन्दा, और वेदसदृश यज्ञभूमि, और यूपों के बीच रथाश्वपरिमित अन्तरालरूप विधिवाक्यों का (अव्यवस्था) व्यतिक्रम (स्यात्) अवश्य होता है। तथापि (निर्देशात्) 'वाचःस्तोम' याग में एकादश यूप की विधि होने से (व्यवतिष्ठेत) उक्त-विधियों की व्यवस्था हो सकती है। (तस्मात्) अतः वह अग्निचयनविभाग (नित्यानुवादः) पूर्वोक्त विधिवाक्यों का अनुवाद (स्यात्) है, न कि विधान।

भा०—यद्यपि अग्निचयनप्रकरण में दोनों भाँति के वाक्य पढ़े गये हैं, तब भी अग्निचयनप्रकरण में पक्षसमान भूमि की निन्दा करके वेदिसमान भूमि और ग्यारह यूपों के बीच में रक्षाश्वपरिमित अन्तराल का विधान नहीं किया जाता। क्योंकि अग्निचयनप्रकरण में केवल एक ही यूप होता है, न कि ग्यारह, जो कि वाचःस्तोम में पाये गये हैं। इसी प्रकर वे यज्ञस्थल में रथचक्र की धुरी पर खड़े किये जाते हैं। उनकी भूमियाँ यदि पक्षसमान हों, तो वह दोष हो सकता था। परन्तु वेदिसमान होने में वह दोष नहीं आता।

अत: यहाँ अनुवादमात्र है, पक्षसमान भूमि की निन्दा करके वेदिसमान भूमि की विधि नहीं है।

सं०—अन्यार्थदर्शन में तृतीय हेतु दिया जाता है।

**सि०प०सहा०—विहितप्रतिषेधात् पक्षेऽतिरेकः स्यात्॥ २६॥**

प०क्र०—(विहितप्रतिषेधात्) अतिरात्र-याग में 'षोडशी पात्र के ग्रहण करने अर्थात् विधान करने तथा निषेध करने की विधि के (पक्षे) पक्ष में (अतिरेक:) दो और तीन का अनुपात (स्यात्) हो सकता है।

भा०—'द्वे संस्तुतानाम्' आदि वाक्यों में ज्योतिष्टोम में दो या तीन ऋचाओं का विराट् की अपेक्षा अतिरेक (अधिक) कथन है। वह अतिरात्रनामक ज्योतिष्टोमयाग के विशेष अभिप्राय से है। उस यज्ञ में 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' तथा 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इन वाक्यों से षोडशी के ग्रहण करने और न करने का विधान करके विधिनिषेधात्मक विकल्प का कथन किया गया है। अत: विकल्प होने के कारण ऋचाओं के अतिरेक का भी विकल्प पाया जाता है। इसमें कोई विरोध भी नहीं। अत: वह कर्मपक्ष में आ सकता है, इस कारण प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा कर्मभेद नहीं मानना चाहिये।*

सं०—अन्यार्थदर्शन में चौथा हेतु देते हैं।

**सारस्वते विप्रतिषेधाद्यदेति स्यात्॥ २७॥**

प०क्र०—(सारस्वते) सारस्वत-सत्र में। (विप्रतिषेधात्) पुरोडाशी और सान्नायी का अधिकार होने के कारण जो शाखान्तर में 'एष वाव प्रथमो यज्ञः' इत्यादि वाक्यद्वारा जो विरोध आता है। उसका परिहार (यदा, इति) 'यदा' इस पद के अध्याहार से (स्यात्) होता है।

भा०—सारस्वत-यज्ञ में असोमयाजी तथा सोमयाजी दोनों का अधिकार वर्णन किया गया है। और अधिकारकथन करने में 'एष वाव प्रथमो यज्ञः' इस शाखान्तरवाक्य से जो कर्मभेदरूप विरोध निरूपित है, वह 'यदा' पद के अध्याहार से हट जाता है। और वे जब सोमयाजी हों, तो सत्र के भीतर 'वत्सवारणादि' क्रिया करें। अत: वहाँ सोमयाजी के ही अधिकार का वर्णन है, न कि असोमयाजी के भी। क्योंकि यह बात असोमयाजी के यज्ञभूमि से बाहर बैठने से भी पत्यक्ष है। तब उस

* शाबरभाष्य में इसको बड़े विस्तारपूर्वक समझाया गया है, यहाँ अधिक विस्तार के भय से नहीं लिखा गया है, तत्त्व बात लिख दी है।

शाखान्तरीय-वाक्य से विरोध नहीं आता। और अविरोध होने पर प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा कर्मभेद भी प्रमाणित नहीं होता। अत: वह कर्म सर्वत्र एक है, भिन्न भिन्न नहीं।

सं०—अन्यार्थदर्शन में पांचवां हेतु देते हैं।

**पू० प०—उपहव्येऽतिप्रसवः ॥ २८ ॥**

प०क्र०—(उपहव्ये) उपहव्य-याग में बृहत् तथा रथन्तर साम का विधान वृथा है। क्योंकि (अप्रतिप्रसवः) वह स्वभाव से ही प्राप्त है।

भा०—यदि प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा कर्म का अभेद माना जावे, तो 'उपहव्य' संज्ञक ज्योतिष्टोम के विकृतियाग में बृहत् तथा रथन्तर का विधान निरर्थक है। वह तो ज्योतिष्टोमरूप प्रकृतियाग से ही उपलब्ध है। तथा प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा नामभेद ही माना जावे, तो प्रकृति से उभय का नियमपूर्वक ग्रहण हो जावेगा। क्योंकि प्रकृतियाग से दोनों साम विकल्प से प्राप्त हैं। और यदि पूर्वोक्त 'उपहव्यो निरुक्तः' आदि वाक्य उस विकल्प का निषेध कर प्रतिशाखा कर्म से उसका नियम कर देते हैं तो, प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा कर्म का भेद ही सिद्ध होता है, ऐक्य नहीं।

सं०—इन पूर्वपक्षों का समाधान किया जाता है।

**गुणार्था वा पुनःश्रुतिः ॥ २९ ॥**

प०क्र०—(वा) शब्द का पूर्वपक्ष के निराकारणार्थ प्रयोग किया गया है। (पुनःश्रुतिः) प्रकृतियाग से प्राप्त होने पर भी जो बृहत्साम और रथन्तरसाम का पुनः विधान किया है, वह (गुणार्था) दक्षिणारूप गुणविशेषसम्बन्धी नियम के निमित्त है।

भा०—ज्योतिष्टोमरूप प्रकृतियाग से 'उपहव्य' नामक विकृतियाग में उभय साम प्राप्त हैं, तब भी 'उपहव्यो निरुक्तः' आदि वाक्य से उनका पुनर्विधान दक्षिणारूप गुणविशेषसम्बन्धी नियम के तात्पर्य से किया गया है, वृथा प्रयोग नहीं है। अत: प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा कर्म का भेद नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वहाँ दक्षिणाफल का तो नियम है, परन्तु साम का नियम नहीं है।

सं०—प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा कर्मभेद के साधक-लिङ्गों का निराकरण कर अब कर्म के अभेद के साधक लिङ्गों को कहते हैं।

**प्रत्ययं चापि दर्शयति ॥ ३० ॥**

प०क्र०—(च) तथा। (प्रत्ययम्) एकशाखा में यागरूप कर्म का

विधान, और दूसरी शाखा में उसके गुणों का विधान मिलने से (अपि) भी, (दर्शयति) प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा में अग्निहोत्रकर्म का अभेद ही है।

भा०—एक-शाखा में विहित कर्म का दूसरी-शाखा में अनुवाद करके गुणविधान तभी सङ्गत हो सकता है, जब कि प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा कर्म का अभेद माना जावे। अन्यथा एक शाखा के कर्म का दूसरी शाखा में अनुवाद करके गुण का विधान करना सर्वथा असङ्गत और वृथा हो जायगा। जो कि कभी असङ्गत और वृथा नहीं होना चाहिये। अतः सिद्ध हुआ कि प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा में अग्निहोत्रादि वैदिककर्म एक हैं, और जब तक जीवे, तब तक उनका करना, मनुष्य का कर्त्तव्य[१] है।

सं०—पुनः आशङ्का करते हैं।

**पू०प०—अपि वा क्रमसंयोगाद् विधिपृथक्त्वमे-कस्यां व्यवतिष्ठेत॥ ३१॥**

प०क्र०—(अपि वा) शब्द शङ्का द्योतनार्थ है। (एकस्याम्) प्रत्येक शाखा में (विधिपृथकत्वम्) अङ्गों के अनुष्ठानभेद से (व्यवतिष्ठेत) ही व्यवस्था होनी चाहिये। क्योंकि (क्रमसंयोगात्) अनुष्ठान का पाठक्रम से सम्बन्ध है, और वह प्रतिशाखा में भिन्न भिन्न है।

भा०—प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा में कर्म का अभेद मानने से, जिन जिन शाखाओं में अङ्गों का विधान किया गया है, उन शाखाओं में से अन्यशाखाओं में उनका एकत्र संग्रह करना पड़ेगा। क्योंकि अङ्गोंसहित कर्मानुष्ठान ही विहितफल का दाता हो सकता है, अन्य अङ्गों से रहित नहीं। ऐसा करने पर यह आपत्ति होगी कि—प्रतिशाखा में अपने अपने (भिन्न-भिन्न) क्रम का पाठ है, एकत्र उपसंहार करने पर तत्तत् पाठक्रमानुसार ही उनका अनुष्ठान करना होगा। क्योंकि नूतनकल्पना की अपेक्षा पाठक्रमानुकूल ही अनुष्ठान की कल्पना करना श्रेष्ठ होगा। यतः पाठक्र म से अनुष्ठान का नियत सम्बन्ध होता है। परन्तु पाठक्रम भिन्न होने से अनुष्ठानक्रम अभिन्न नहीं हो सकता, भिन्न ही रहेगा। अतः प्रतिशाखा और प्रतिब्राह्मण के कर्म का अभेद मानना युक्तियुक्त नहीं, अपितु भेद ही मानना उत्तमपक्ष है।

सं०—इस आशङ्का का परिहार करते हैं।

---

सूचना—(१) 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतᳬ समाः' (यजुः ४० अ० २ मन्त्र) अयं मन्त्रोऽत्र प्रमाणभूत इति देव आचार्यः।

**उ० सि० प०—विरोधिना[१] त्वसंयोगादैककर्म्ये तत्संयोगाद्विधीनां सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात्॥ ३२॥**

प०क्र०—'तु' शब्द का शङ्का के परिहारार्थ प्रयोग है। (विरोधिना) अनुष्ठानकम से विरोध करनेवाले पाठ के साथ (असंयोगात्) अङ्गानुष्ठान का सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि (ऐककर्म्ये) पूर्वकथित युक्तियों द्वारा प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा में कर्म की एकता सिद्ध होने पर (विधीनाम्) विधियों का (तत्संयोगात्) सब शाखाओं में बतलाये गये कम के अनुसार ही अङ्गों का अनुष्ठान (स्यात्) होता है।

भा०—सम्पूर्ण अङ्गविधियाँ कर्मविधि का शेष (अङ्ग) होने के कारण वे शेषी (अङ्गी=कर्मविधि) के ही अनुसार हुआ करती हैं। इस नियम से अङ्ग के समान प्रकृतिभूत अङ्गीरूप कर्म के विधानकर्त्ता वाक्यों में जो क्रम अङ्गों के अनुष्ठान का विधान किया गया है, उसी क्रमानुसार शाखान्तर से एकत्र संगृहीत किये हुए अङ्गों का अनुष्ठान करना ही उचित है। अतः पाठक्रम से उनका अनुष्ठान न होने से प्रतिशाखा कर्मभेद भी प्रमाणित नहीं होता। भाव यह है कि वाक्यविहित क्रम ही अङ्गानुष्ठान का क्रम है, और पाठक्रम अथवा किसी नूतन कल्पना द्वारा कल्पित क्रम नहीं माना जाता। अतः प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा अग्निहोत्र कर्म एक ही हैं। अर्थात् अनेक (भिन्न-भिन्न) नहीं कहे जा सकते।

**इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।**

---

सूचना—(१) आनन्दाश्रम मुद्रणालय मुद्रित शाबर भाव्यादि समेत मीमांसा दर्शन (नाम्) इति पाठः। का०च०प्र०मु०मु० मीमांसासूत्रपाठे च (ना) इति पाठोऽस्तीति सुधियो-विभाव्वयन्तिवति देव आचार्यः।

# अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः प्रारभ्यते

सं०—दूसरे अध्याय में यज्ञादिकर्मों के भेद, तथा उनके मध्य में कौन शेष और शेषी कर्म हैं, इसका निरूपण करके अब प्रथमशेष के लक्षण बतलाते हैं।

### १—प्रतिज्ञाधिकरणम्—

**अथातः शेषलक्षणम्॥ १॥**

प०क्र०—(अथ) भेदादि कथन के पश्चात् (शेषलक्षणम्) शेष का लक्षण निरूपण करते हैं, (अतः) इस कारण कि वह लाभप्रद है।

भा०—शेष और शेषी का जब तक ज्ञान नहीं होता, तब तक प्रथम शेष, जिसकी कि प्रतिज्ञा है, सिद्ध नहीं हो सकता। अतः दोनों का सम्बन्ध कहते हैं।

सं०—शेष के क्या लक्षण हैं?

**शेषः परार्थत्वात्॥ २॥**

प०क्र०—(परार्थत्पात्) दूसरे के लिये होने वाला (शेषः) शेष कहलाता है।

भा०—क्योंकि वह दूसरे के निमित्त है। अतः 'परार्थत्वात्' इस पञ्चम्यन्त पद से उसका कथन किया गया है। और इसी कारण वह शेष है। क्योंकि शेषत्व किसी का स्वाभाविक धर्म नहीं होता। वह तो 'परार्थ' परक ही माना जाता है।*

सं०—'शेष' क्या है इसका निरूपण करते हैं।

### ३—बादर्यधिकरणम्

**पू०प०—द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः॥ ३॥**

प०क्र०—(द्रव्यगुणसंस्कारेषु) द्रव्य गुण तथा संस्कार में शेष-शब्द की प्रवृत्ति होती है। यह बादरि आचार्य मानते हैं।

भा०—जिस प्रकार बिना सामग्री के यज्ञकर्म सम्पन्न नहीं होते, उसी

---

* 'यैस्तु द्रव्यम्' मी०। २। १। ८। में केवल कर्ममात्र का लक्षण किया गया है। अब यहां शेषमात्र का लक्षण किया गया है।

प्रकार जो जो गुण सामग्री के बतलाये गये हैं, उनके तथा प्रोक्षणादि संस्कारों के ज्ञान के बिना भी वे कर्म सिद्ध नहीं हो सकते। अतः द्रव्य, गुण और संस्कार तीनों परार्थ के लिये हैं, ऐसा जैमिनि के पिता व्यासजी मानते हैं।

सं०—इसमें जो कमी है, उसको कहते हैं।

**सि० उ० प०—कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्॥ ४॥**

प०क्र०—(कर्माणि, अपि) यज्ञ, दान, होम आदि भी शेष हैं। (फलार्थत्वात्) क्योंकि वे फल के लिये हैं। ऐसा (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य मानते हैं।

भा०—द्रव्य गुण और संस्कार कर्म के लिए अर्थात् कर्म की सिद्धि में हेतु होने के कारण कर्म के शेष हैं। उसी भाँति कर्म भी फल की सिद्धि में हेतु होने के कारण फल के शेष[1] हैं। अतः तीन ही शेष के लक्ष्य हैं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कर्म भी तो परार्थ होने से शेष का लक्ष्य है, यह जैमिनि आचार्य का मत है।*

सं०—और भी शेष हैं, इसका कथन करते हैं।

**सि० उ० प०—फलं च पुरुषार्थत्वात्॥ ५॥**

प०क्र०—(च) और (फलम्) द्रव्य, गुण, संस्कार और कर्म के समान फल भी शेष[1] हैं। क्योंकि (पुरुषार्थत्वात्) वह पुरुषार्थ के लिए है।

भा०—यज्ञादिकर्मों के अनुष्ठान का फल पुरुष के लाभ के निमित्त होने के कारण, वह पुरुष का शेष है। क्योंकि 'स्वर्गादिफलं मे भवतु' अर्थात् मुझे स्वर्गादि फल मिले—इस प्रकार के वाक्यों में कामना पाई जाती है। और इसी कामना से यज्ञानुष्ठान भी किया जाता है। अतः द्रव्य के समान वह फल भी शेष का लक्ष्य है। यह जैमिनि आचार्य का मत है।

सं०—शेषान्तर का भी निरूपण करते हैं।

**पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्॥ ६॥**

प०क्र०—(च) तथा। (पुरुषः) द्रव्य की भाँति पुरुष भी शेष है। क्योंकि (कर्मार्थत्वात्) वह कर्म निमित्त है।

---

१. जो परार्थ होता है उसको शेष कहते हैं। इसी कारण (जे०न्या०मा०टी०) में लिखा है कि—(पारार्थ्यं लक्षणममिप्रेत्य फलादयोऽपि शेषा इति जैमिनेर्मतम्) इति देव आचार्यः।

* 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' मी० २। २३। में ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थों को भी शेष कहा है।

भा०—जिस प्रकार द्रव्यादि के बिना कर्म सिद्ध नहीं हो सकता, उसी प्रकार यजमान के बिना धर्मसम्पादन भी नहीं हो सकता। अतः द्रव्य की भाँति यजमान भी कर्म-का शेष है। ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं परन्तु दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है।*

सं०—अवहननादि धर्म भी शेष हैं, उनको कहते हैं।

## ४—अर्थाधिकरणम्

## सि०प०—तेषामर्थेन सम्बन्धः ॥ ७ ॥

प०क्र०—(तेषाम्) अवहननादि धर्मों का (अर्थेन) वितुषीभावादि दृष्ट-फल के अनुसार व्रीहि आदि के साथ (सम्बन्धः) शेष-शेष-भाव-सम्बन्ध है।

भा०—दर्शपूर्णमासयज्ञ में अवहनन, प्रोक्षण, आदि व्रीहि (धान्यादि) के, विलापन (पिघलाना), अवक्षेपण आदि घृत के, तथा दोहन और आतञ्चन आदि सान्नाय्य के धर्म कहे गये हैं। इनमें जो जिसके विधान किये गये हैं,

---

* वादरि के मत में द्रव्य, गुण और संस्कार तीनों को शेष, केवल नियत (वास्तविक=स्वाभाविक) शेषता के अभिप्राय से माना है और जेमिनि ने उक्त तीनों के अतिरिक्त कर्म, फल और पुरुष को भी जो शेष कहा है, वह केवल अपेक्षित शेषता के कारण से कहा है। क्योंकि कर्मों में शेषता सापेक्ष है। नियत (स्वाभाविक) नहीं, अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा कर्म शेषी, और फल की अपेक्षा शेष। कर्म की अपेक्षा फल शेषी, और पुरुष की अपेक्षा शेष। तथा फल की अपेक्षा पुरुष शेषी, तथा कर्म की अपेक्षा शेष होती है। यह कथन परमवैय्याकरण आचार्य श्रीपाणिनि मुनि के गुरु महाराज श्री 'उपवर्ष' मुनि का कथन है। इनकी मीमांसा पर वृत्ति पाई जाती थी। इसके कहीं-कहीं शाबरभाष्य में उद्धरण मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शङ्कराचार्य के समय तक यह वृत्ति बना रही है। और इन्हीं के समय 'नैष्कर्मसिद्धि' जैसे ग्रन्थ बने। कर्मकाण्ड पर कुठार चले, और यह वृत्ति बौधायन-वृत्ति के समान या तो दबी पड़ी है, अथवा नष्ट हो गई है। क्योंकि श्रीशङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र १।३।२८ के 'शब्द' इति चेन्नः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २८ ॥ इस सूत्र का भाष्य करते हुये उपवर्ष-मुनि के सिद्धान्त का सत्कार किया है। कदाचित् बौद्धों के अत्याचार से वृत्ति नष्ट हो गई हो। परन्तु शबर-स्वामी विक्रम की शताब्दी में हुये थे। और मीमांसा पर उन्होंने भाष्य रचा। उस समय उसके देखने में अवश्य यह वृत्ति आई थी, अन्यथा वह उद्धरण नहीं देते।

वे उसी के धर्म हैं, अथवा सब धर्म सब के हैं-ऐसी शङ्का होने पर उत्तर देते हैं-कि अवहनन (छड़ना) आदि धर्म, तथा 'तुषविमोक' (भूसी हटाना) आदि फल व्रीहिद्रव्य में पाये जाते हैं, घी और सांनाय्य में नहीं। तथा विलोना आदि धर्म द्रव-पदार्थ घी-दूध में ही चरितार्थ हो सकते हैं, जौ=व्रीहि और सान्नाय्य में नहीं। इसी प्रकार दुहना और जमाना आदि धर्म दूध और दही में ही संभव हो सकते हैं, अन्यत्र नहीं। अतः इस उपर्युक्त व्यवस्था से फल ठीक प्राप्त होता है। सारांश यह है-कि जो धर्म जिस द्रव्य का कहा गया है वह धर्म उसी द्रव्य का शेष होगा, दूसरे का नहीं।

सं०—उपर्युक्तपक्ष में पूर्वपक्ष करते हैं।

**पू०प०—विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात् संयोगतो-ऽविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्च॥ ८॥**

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष का द्योतक है। (विहितः) शास्त्र में बतलाये अवहनन (कूटना) आदि (सर्वधर्मः) सब के धर्म (स्यात्) हो सकते हैं। क्योंकि (संयोगतः—अविशेषात्) उनका प्रधान कर्म के साथ संयोग भी समान है। (च) तथा (प्रकरणाविशेषात्) प्रकरण भी समान है।

भा.—'व्रीहीनवहन्ति' 'आज्यं विलापयति' इत्यादि वाक्यों में जो अवहनन आदि धर्म कहे गये हैं, वे दर्शपूर्णमास के द्रव्यमात्रं अर्थात् सब द्रव्यों के लिये कहे हैं, न कि किसी नियत द्रव्योद्देश्य से। अतः उनका प्रयोजन यज्ञ की सिद्धि के लिये गुण-सम्बन्ध बतलाना है। वह सम्बन्ध प्रत्येक-धर्म का याग के प्रत्येक द्रव्य के साथ समान अर्थात् तुल्य है।

सं०—पहिलापक्ष (सि० प०) स्थापित करते हैं।

**उ०प० सहा—अर्थलोपादकर्म स्यात्॥ ९॥**

प०क्र०—(अर्थलोपात्) फल दृष्टिगत न होने से (अकर्म स्यात्) सब-कर्म सब-द्रव्यों में नहीं किये जा सकते। अतः वे प्रति द्रव्य के लिये हैं।

भा०—अवहनन इत्यादि क्रिया से जो भूसी आदि पृथक् करना रूप फल है, वह प्रति द्रव्य में नहीं पाया जाता है। अतः अविशेषरूप से सब-द्रव्यों में अवहनन आदि क्रियायें नहीं की जा सकतीं। क्योंकि जिस द्रव्य में जिस क्रिया का फल दिखाई देता है, वह-क्रिया उसी द्रव्य का शेष है, अन्य का नहीं।

सं०—'आज्य' में और 'तुषविमोक' में फल नहीं दीखता, परन्तु

प्रकरणबल से अवहनन आदि क्रिया क्यों न की जानी चाहिये।

उ०प०सहा०—फलं तु सह चेष्टाया शब्दार्थो-ऽभावाद्विप्रयोगे स्यात्॥ १०॥

प०क्र०—'तु' आशङ्का को दूर करने के लिये प्रयोग में लाया गया है। (चेष्टया) अवहनन क्रिया के (सह) द्वारा (फलम्) तुषविमोकादि रूप प्रयोजन, (शब्दार्थः) शब्द का भाव (अर्थ) (स्यात्) है। (विप्रयोगे) फल न होने पर (अभावात्) अवहननादि 'अवहन्ति' आदि के अर्थ नहीं माने जा सकते।

भा.—इसका यह भाव है-कि 'व्रीहीनवहन्ति' धान को कूटे, और 'आज्यं विलापयति' घी को पिघलावे। इन में 'अवहन्ति' आदि शब्दों से फलसहित क्रिया का बोध होता है, केवल क्रिया का नहीं। अतः अवहननादि संस्कार क्रिया व्रीहि, विलापन आदि क्रिया आज्यादि, और दोहन-आदि संन्नाय का शेष है। सब क्रिया में सब द्रव्य शेष नहीं।

सं०—'स्फ्य' आदि यज्ञों के साधनों की व्यवस्था कहते हैं।

## ५—स्फ्याधिकरणम्

## द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्तदर्थमेव चोद्येत॥ ११॥

प०क्र०—(च) और (द्रव्यम्) 'स्फ्य' इत्यादि द्रव्यों का (उत्पत्तिसंयोगात्) उत्पत्तिवाक्य द्वारा जिस जिस क्रिया के साथ योग्यसम्बन्ध हो सकता है, (तदर्थम्-एव) वे उसी किया के निमित्त से (चोद्येत) विधान किये गये हैं।

भा०—भले ही किसी साधन से किसी क्रिया को न किया जा सकता हो। परन्तु उत्पत्तिवाक्यों (विधायवाक्यों) ने जिन साधनों से जिन क्रियाओं को विहित माना हो, उस से वही क्रियायें करने योग्य होती हैं, अन्यथा नहीं। अतः वे साधन* उत्पत्ति वाक्यों के अनुसार प्रतिक्रिया अर्थात् उन्हीं नियत क्रियाओं के आश्रित हैं।

---

* ''स्फ्यश्च कपालानि चाग्निहोत्रहवणी च शूर्पञ्च कृष्णाजिनञ्च शम्या चोलूखलञ्च मुसलञ्च दृषच्चोपला चैतानि वै दश यज्ञयुधानि'' तै०सं० १।६।८।३। 'स्फ्य' खड्गाकारं काष्ठम्=(कुदाली) कपाल (कमोरी) अग्निहोत्रहवनी= निर्वापसाधनं काष्ठपात्रम्। शूर्पम्=सूप। काले हिरन की खाल। शम्या (गदाकारं काष्ठम्)। उलूखलम् (ऊखल)। मुसलम्=(मूसल)। दृषत् (सिल)। उपला (खरल) आदि यज्ञ के साधनों का परस्पर'' सम्बन्ध है :-

सं०—अरुण आदि गुणों का नियम करते हैं।

## ६—अरुणधिकारणम्—

## सि० पा०—अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात्॥ १२॥

प०क्र०—(अर्थैकत्वे) एक वाक्यार्थ में (द्रव्यगुणयो:) द्रव्य और गुण के (नियमः) परस्पर योग से नियम (स्यात्) है। इसलिये कि (ऐककर्म्यात्) दोनों का किया सिद्ध कार्य समान है।

भा०—भाव यह है कि जैसे ज्योतिष्टोम यज्ञार्थ "सोम" मोल के प्रकरण में "अरुणया एकहायन्या पिङ्गाक्ष्या गवा सोमं क्रीणाति" यह वाक्य पढ़ा गया है। इसमें तृतीयाविभक्तिश्रुति केवल 'क्रय' रूप क्रिया में प्रयुक्त की गई है। और 'आरुण्य' गुण क्रिया के साधन 'एकहायनी' गौरूप द्रव्य का ही परिच्छेदक=व्यावर्तक होने के कारण उसको अन्य द्रव्यों से पृथक् करता है, कि सोम क्रय (खरीदने) का साधन पीली आँखवाली और "एकहायनी" गाय है। वह लालरङ्ग की होनी चाहिये। इस वाक्य में विहित क्रय (मोल लेने) के साधन वस्त्र आदि अन्य द्रव्यों के साथ आरुण्य गुण का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस कारण वे चाहे जिस रङ्ग के हों। अतः वह कथित गुण 'गौ' आदि में मिलता है, उसके अतिरिक्त में नहीं। अर्थात् 'आरुण्य' गुण सोमक्रय के साधन गौरूप द्रव्य का शेष है, न कि द्रव्यमात्र का, यह जानना चाहिये।

सं०—'सम्मार्जन' आदि को 'ग्रह' आदि द्रव्यमात्र का धर्म निरूपण करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

## ७—ग्रहैकत्वाधिकरणम्—

## पू०प०—एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात्॥ १३॥

प०क्र०—ग्रह आदि (एक) द्रव्य का सम्मार्जन (एकत्वयुक्तम्) एक बार ही होना उचित है, क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) 'ग्रहम्' में एक वचन का श्रवण है, और उसका 'सम्मार्जन' से सम्बन्ध है।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में "दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि" वस्त्रखण्ड से पात्रविशेष का मार्जन करे—ऐसा लिखा है। और अग्निहोत्र-प्रकरण में 'अग्नेस्तृणान्यपचिनोति' अर्थात् अग्नि से कूड़ा कचरा निकाल फैंके—ऐसा लिखा है। उसी प्रकार दर्शपूर्णमासप्रकरण में 'पुरोडाशं पर्य्यग्निकरोति' अर्थात् पुरोडाश का पर्य्यग्निसंस्कार करे इत्यादि वाक्य पढ़े गये हैं। इनमें

एकवचनान्त 'ग्रहम्' आदि शब्द होने से एकत्वयुक्त ही ग्रह आदि लिये जावेंगे[१], ऐसा विदित होता है, न कि अनेक ग्रह का ग्रहण है। अतएव एकत्व संख्या सहित अर्थात् एक ही 'ग्रह' आदि द्रव्य का सम्मार्जनादि धर्म विधान किया गया है, न कि सब ग्रह आदिकों का।

सं०—इस का समाधान करते हैं।

**उ०प०—सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम्॥ १४॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के परिहारार्थ आया है। (सर्वेषाम्) सब ग्रह आदि द्रव्यों का सम्मार्जनादि विहित है। (लक्षणत्वात्) क्योंकि एकवचन के लक्षण (स्वरूप) का उपन्यास तो 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' इत्यादि में ग्रहत्वजाति के अभिप्राय से है। (हि) अतः निश्चय ही (लक्षणं) वह जाति (अविशिष्टम्) सब ग्रह आदि पदार्थों में तुल्य है।

भा०—जैसे ग्रहादिप्रातिपदिक के अन्त में एकवचन होने के कारण ग्रह-आदि के एकत्व का बोध होता है, उसी प्रकार कर्मवाची द्वितीयाविभक्ति के कारण उद्देश्य और अभिप्राय का भी बोध होता है। क्योंकि उद्देश्य तथा प्रयोजन में ही द्वितीया विभक्ति का विधान होता है। अतः इस नियम से ग्रह आदि प्रधान, और सम्मार्जन आदि गौण हो जाते हैं। तथा 'प्रतिप्रधानञ्च गुण आवर्तनीयः' अर्थात् प्रत्येक प्रधान के प्रति गुण की आवृत्ति करनी चाहिये— इस नियम के अनुसार जितने ग्रह आदि द्रव्य हैं, उन सब में प्रतिग्रह सम्मार्जन आदि का विधान है। अतः वहाँ संख्या अविवक्षित है। सब ग्रहों का संमार्जन, सब-अग्नियों से तृण का अपचयन (निःसारण), तथा सब-पुराडाशों का पर्यग्निकरण करना चाहिये। अर्थात् सम्मार्जनादि सब ग्रहादिकों का धर्म है, न कि किसी एक का।

सं०—'पशुमालभेत' यह उदाहरण क्यों है।

**उ०प० सहा०—चोदिते तु परार्थत्वाद्यथाश्रुति प्रतीयेत॥ १५॥**

प०क्र०—(तु) शब्द यहाँ दृष्टन्त का द्योतक है। (चोदिते) याग में विधान के अनुसार दिये गये पशु में (यथाश्रुति) जैसा सुना गया है, अर्थात् जिस संख्या का श्रवण है, उसका (प्रतीयेत) ही ग्रहण होना ठीक है। क्योंकि (परार्थत्वात्) वह पशु परार्थ (आलम्भ=प्राप्ति अथवा दान) के लिये होने से गौण है।

---

सूचना—(१) अर्थात् एको ग्रहः, एकोऽग्निः, एकः पुरोडाश इह ग्रहीतव्यः इति देव आचार्यः।

भा०—'ग्रहं सम्मार्ष्टि' आदि में (पशुना यजेत) का दृष्टान्त नहीं दे सकते। क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों परस्पर विषम हैं। दृष्टान्त में पशु आलम्भ (प्राप्ति, दान) क्रिया के प्रति प्रयोजनीय होने से गौण है। और दार्ष्टान्तिक में सम्मार्जनक्रिया के प्रति उद्देश्य होने से प्रधान है। अत: विधेय 'पशुना' में श्रूयमाणसंख्या की बिवक्षा होते हुए भी, उद्देश्य 'ग्रहम्' में सुनी संख्या की विवक्षा नहीं। अर्थात् ग्रहगत सुनी गई एकत्वसंख्या की अविवक्षा होने से सम्मार्जन किसी एक ग्रह का धर्म नहीं, अपितु ग्रहमात्र का धर्म है। यही न्याय शाखान्तर में उदाहृत किया गया है।

सं०—सम्मार्जन 'ग्रहों' का ही धर्म है, चमसों का नहीं, इसको कहते हैं।

## ८—चमसाधिकरणम्—

### पू०प०—संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात्॥ १६॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष को बतलाता है। (गुणानाम्) गुणभूत सम्मार्जन आदि की (अव्यवस्था, स्यात्) अव्यवस्था है, अर्थात् सम्मार्जन ग्रह आदि का ही धर्म है, न कि चमसों का, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि (संस्कारात्) वह संस्कार कर्म है।

भा०—लकड़ी के और मिट्टी के दो प्रकार के पात्र सोमयाग में हुआ करते हैं। मिट्टी के दो प्रकार के होते हैं, जिन्हें स्थाली और कलश कहते हैं। ये मिट्टी के होने के कारण सम्मार्जनीय नहीं। उसी प्रकार लकड़ी के भी दो ही भाँति के होते हैं, जिनका नाम 'ग्रह' और 'चमस' है। यह दोनों सोमरस की आहुति देने में काम आते हैं। इनमें 'ग्रह' ईश्वर के निमित्त आहुति देने में उपयुक्त होता है, और जिससे सोमरस पान किया जाता है, वह 'चमस' कहलाता है। यत: सम्मार्जन संस्कार-कर्म है, अत: वह सर्वत्र अनुष्ठेय है। 'ग्रह' के सदृश 'चमस' भी पात्र होने से संस्कार्य है। अत: दोनों सम्मार्जनीय हैं।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान यह है।

### उ०प०—व्यवस्था वाऽर्थस्य श्रुतिसंयोगात्, तस्य शब्दप्रमाणत्वात्॥ १७॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के निरास के लिये है। (व्यवस्था) ग्रह का ही मार्जन धर्म है, न कि चमस का। क्योंकि (अर्थस्य) ग्रहों का (श्रुतिसंयोगात्) 'ग्रहम्' इस द्वितीयान्तपद श्रवण के कारण सम्मार्जन के

साथ धर्म-धर्मि-भाव सम्बन्ध है। क्योंकि (तस्य) उसमें (शब्दप्रमाणत्वात्) 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' यह शब्दप्रमाण विद्यमान है।

भा०—सम्मार्जन संस्कार कर्म होने से संस्कार्यमात्र का धर्म है। अतः चमस और ग्रह दोनों संस्कार्य्य होने के कारण दोनों का ही धर्म होना चाहिये। परन्तु तो भी ग्रहों का ही धर्म मानना उचित है। क्योंकि 'ग्रहम्' इस द्वितीयान्तपदश्रुति ने केवल 'ग्रहों के ही सम्मार्जन का साक्षात् श्रवण कराया है, चमासों का नहीं। अतः श्रुतिसिद्ध अर्थ को त्यागकर लाक्षणिक अर्थ मानना ठीक नहीं।'

सं०—'सप्तदशारत्निता' का ('वाजपेय' यज्ञ में यशुयाग सम्बन्धी यूप का) निरूपण करते हैं।

## ९—आनर्थक्यतदङ्गाधिकरणम्—

## सि०प०—आनर्थक्यात्तदङ्गेषु ॥ १८ ॥

प०क्र०—(तदङ्गेषु) 'सप्तदशारत्नि' यह वाक्य,वाजपेययज्ञ के अङ्गभूत पशुयागसम्बन्धी यूप में होने के कारण (आनर्थक्यात्) वाजपेययाग में यूप के होने से अर्थात् यूपरूप धर्मी के न होने से निरर्थक सिद्ध होता है।

भा०—'सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवति' 'एक हाथ की बंधी हुई मुट्ठीभर नाप को अरत्नि कहते हैं। और सत्रह हस्तबद्ध मुष्टिपरिमाणवाला, वाजपेययाग का यूप (खम्भा) होता है। इस वाक्य में यह समझना चाहिये—कि यह सोमयाग की विकृति होने से केवल औषधिसाध्य है। तथा पशु का दान न होने से यूप की आवश्यकता नहीं। और भी अन्य अनेक पशुयाग हैं, जिनमें पशु-दान होता है, जिनमें कि बांधने को यूप आवश्यक होते हैं। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में यह कहना है—कि 'खैर की लकड़ी का' 'षोडशिनामक' लम्बा पात्र होता है। वह लम्बा और खैर का होने से यूप के सदृश हो सकता है। क्योंकि यूप भी लम्बा और खैर का ही बनता है। परन्तु उसकी सत्रह मुट्ठी की लम्बाई माननी चाहिये कि नहीं, यह विचार करना है। क्योंकि इतनी लम्बाई वाला याग के उपयोग में नहीं आ सकता, और 'यूप' पद की 'यूप समान' पात्र विशेष में लक्षणा करने की अपेक्षा 'वाजपेय पद' का वाजपेयाङ्गरूप औपचारिकप्रयोग मान लेना ही ठीक है। अतः उस वाक्य में जो सत्रह मुट्ठी अरत्नि (आरत्नि) की नाप है, वह वाजपेययज्ञसम्बन्धी किसी पात्र विशेष का धर्म न होकर उसे याग के अङ्गभूत पशुयाग के यूप का ही धर्म मानना ठीक है।

सं०—अब 'अभिक्रमण' आदि, 'प्रयाज' मात्र का धर्म हैं, इसको कहते हैं। इसमें यह पूर्वपक्ष है कि:—

### १०—अभिक्रमणाधिकरणम्—

**पू०प०—कर्तृगुणे तु कर्मासमवायाद्वाक्यभेदः स्यात्॥ १९॥**

प०क्र०—(तु) पद पूर्वपक्ष का द्योतक है। (वाक्यभेदः) 'अभिक्रामं जुहोति' इस वाक्य में वाक्यभेद (स्यात्) होना ठीक है। क्योंकि (कर्तृगुणे) कर्त्ता के गुण अमिक्रमण का (कर्मासमवायात्) 'जुहोति' किया से सम्बन्ध नहीं।

भा०—'अभिक्रामम्' पद 'णमुल्' प्रत्यान्त होने से अभिक्रमण वाची है। उस अभिक्रमण का जुहोतिपदवाची क्रियारूपहवन से सम्बन्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि अभिक्रमण क्रिया के प्रति कारक नहीं। क्रिया तथा कारक का परस्पर सम्बन्ध होता है, न कि क्रिया के सम्बन्ध का। अतः कर्त्ता से सम्बद्ध 'अभिक्रमण' केवल प्रयाज का ही धर्म नहीं, किन्तु होममात्र का धर्म है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—साकाङ्क्षं त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण॥ २०॥**

प०क्र—(तु) शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है। (एकवाक्यम्) अभिक्रामं जुहोति यह एकवाक्य है। (हि) निश्चय ही (साकाङ्क्षं स्यात्) विभाग करने से दोनों पद साकाङ्क्ष बन जाते हैं। (पूर्वेण) केवल (अभिक्राम) पद से (असमाप्तम्) वाक्य पूरा नहीं होता।

भा०—जैसे दूसरे अध्याय के पहिले पाद के ४९ वें सूत्र के अर्थ में विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है। अब यहाँ उसकी पुनरुक्ति न करते हुये यह समझना चाहिये—कि यदि 'अभिक्रामं जुहोति' में 'अभिक्रामम्' को पृथक् कर दें, तो दोनों पद सापेक्ष हो जाते हैं। केवल एक 'अभिक्रामम्' पद किसी प्रकार वाक्यार्थ का बोधक नहीं रहता। अतः एक वाक्य के लिये तो वह पद है। परन्तु 'अभिक्रामम्' के 'वाच्य' अभिक्रमणरूप क्रिया का, जुहोतिपद के वाच्य होमरूप क्रिया के साथ सम्बन्ध करने के लिये, प्रकरणबल अर्थात् प्रकरण के द्वारा सब यागों के साथ सम्बन्ध की कल्पना करना ठीक नहीं। क्योंकि दर्शपूर्णमासंयागप्रकरण में 'समिधो यजति' आदि से 'समिध्' आदि संज्ञक प्रयाज का प्रकरण उठाकर, उसके पास ही

'अभिक्रामं जुहोति' पढ़ा गया है। अतः दर्शपूर्णमास के साथ पारम्परिक सम्बन्ध होने पर भी साक्षात् सम्बन्ध प्रयाज के ही साथ है। इस प्रकार कर्ता के धर्म अभिक्रमण का प्रयाज के साथ ही सम्बन्ध समझना चाहिये। सबके साथ नहीं।

सं०—'उपवीत' को 'प्रकरणिक' सर्व कर्म (दर्शपूर्णमास) का अङ्ग बतलाते हैं।

## ११—उपवीताधिकरणम्—

### सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात्॥ २१॥

प०क्र०—(तु) शब्द 'सामधेनी' की अङ्गता के खण्डनार्थ आया है। (सन्दिग्धे) उपवीत सामधेनी का अङ्ग है, अथवा सब कर्मों (दर्शपूर्णमास) का। इस सन्देह को हटाने लिये यह उत्तर दिया जाता है—कि उपवीत-वाक्य सामधेनी-प्रकरण का अङ्ग नहीं (स्यात्) माना जाता। क्योंकि (व्यवायाद् वाक्यभेदः) बीच में 'निवित्' नामक मन्त्रों का व्यवधान है। अतः परस्पर वाक्य भिन्न हैं।

भा०— *इस कथन का तात्पर्य यह है-कि दर्शपूर्णमासयाग में केवल सामधेनी के उच्चारण के समय ही उपवीत नहीं पहिनना चाहिये, किन्तु जब तक वह यज्ञ होता रहे, तब तक सब कर्मों में उसको धारण करना चाहिये। क्योंकि वह उन सब का शेष है।

सं०—अब 'निवित्' नामक मन्त्र सामधेनी के अङ्ग होने के कारण प्रकरण के विच्छेद नहीं, यह जो कोई कहता था, उसका समाधान करते हैं।

---

* दर्शपूर्णमासप्रकरण में 'विश्वरूपो वै त्वाष्ट्रः' तै०सं० २।५।१। प्रपाठक के सातवें तथा आठवें अनुवाक में 'प्र वो वाजा अभिद्य वो हविष्मन्तः। ३।१ २८। ऋग्वेदीय सामधेनीनामक ऋचायें, नवें अनुवाक में 'अग्ने महां असि ब्राह्मण भारत'' इत्यादि 'निवित्' नामक मन्त्र और दसवें अनुवाक में अमुक कामनावाले अमुक सामधेनी मन्त्र और दसवें अनुवाक में अमुक कामनावाले अमुक सामधेनी मन्त्र बोलें इत्यादि, इसी प्रकार ग्याहरवें अनुवाक में 'निवीतं मनुष्याणाम्', 'प्राचीनावीतं पितृणाम्', 'उपवीतं देवानाम्', 'उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते' ये मन्त्र लिखे हैं। अर्थात् मनुष्य कर्म में निवीत (गले में लम्बासूत्र), पितृकर्म में प्राचीनावीत (दाहिने कन्धे में बायां हाथ बाहर निकला हुआ अपसव्य होकर), और देवकर्म में उपवीत (दायां हाथ बाहर बायें कन्धे में सूत्र जैसे यज्ञोपवीत होता है) होना चाहिए। यह मन्त्र खड़े होकर बोले जाते थे।

## १२—सर्वयज्ञार्थत्वाधिकरणम्—

## सि०प०—गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्॥ २२॥

प०क्र०—(च) तथा (गुणानाम्) सामधेनी एवं निविद् मन्त्र (परार्थत्वात्) यज्ञ, अग्नि एवं ईश्वरस्तुतिपरक हैं। (समत्वात्) समान होने के कारण (असम्बन्धः स्यात्) उनका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं है।

भा०—सामधेनीमन्त्र ईश्वर यज्ञ तथा अग्नि के स्तुतिवाचक होने से परार्थ माने गये हैं। उसी प्रकार 'निविद्' मन्त्र भी परमात्मा तथा यज्ञाग्नि-सम्बन्धी गुण के प्रकाशक होने से परार्थ हैं। परार्थत्वरूप धर्म में उभय समान हैं। अतः उनका अङ्गाङ्गिभाव नहीं हो सकता। इसी कारण 'वारणवैकङ्कतादिपात्र' आधान के अङ्ग न बनकर दर्शपूर्णमासादि सब यज्ञों में विनियुक्त होते हैं।

सं०—वार्त्रघ्नी तथा वृधन्वती नामक चार मन्त्रों को आज्यभाग का अङ्ग होना कहते हैं।

## १३—वार्त्रघ्न्यधिकरणम्—

## सि०प०—मिथश्चानर्थसम्बन्धात्॥ २३॥

प०क्र०—(च) और (मिथः) 'वार्त्रघ्नी' और 'वृधन्वती' का दर्शपूर्णमास नामक यज्ञ से सम्बन्ध नहीं, क्योंकि (अनर्थसम्बन्धात्) उनका अर्थसम्बन्ध नहीं है। वह व्यर्थ है।

भा०—'वार्त्रघ्नी' तथा 'वृधन्वती' का देवता, अग्नि और 'सोम' (परमात्मा) है। तथा 'दर्शपूर्णमास' में अग्निदेवतापरक 'आग्नेय' याग तो अवश्य है, परन्तु सोमदेवतापरक 'सौम्य' याग नहीं। यदि उसे वाक्य के बल से वार्त्रघ्नी तथा 'वृधन्वती' का 'दर्शपूर्णमास' से सम्बन्ध मान लिया जावे, तो वह 'आग्नेय' याग में ठीक होता हुआ भी अन्य-यज्ञों में निष्फल होगा। अतः 'वार्त्रघ्नी' और 'वृधन्वती' नामक चारों मन्त्र आज्यभाग के अङ्ग हैं, दर्शपूर्णमास के नहीं।*

सं०—'हस्तावनेजन' अर्थात् हाथ धोना आदि, प्रकरण में होने वाले समस्तकर्म का अङ्ग है, इसको कहते है।

---

* 'अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्'। ऋ० ४।५।२७।६४। इसे आग्नेयी वार्त्रघ्नी। और 'त्वं सोमासि सत्पतिः' ऋ० १।६।१९।५। इस ऋचा को सौमी वार्त्रघ्नी। तथा 'अग्निः प्रत्नेन यन्मना'

## १४—हस्तावनेजनाधिकरणम्—

### सि०प०—आनन्तर्यमचोदना॥ २४॥

प०क्र०—(आनन्तर्यम्) उपदेश के बिना केवल आनन्तर्य (सामीप्य) मात्र (अचोदना) अङ्गाङ्गिभावसम्बन्धस का समर्थक अर्थात् विधायक नहीं हो सकता।

भा०—'हाथों[१] का धोना' केवल उपलपराजिस्तरण के लिये ही नहीं, किन्तु प्रकरणभर के समस्तकर्मों के लिये है। जैसे-दर्शपूर्णमास-याग के प्रकारण में विहित 'हस्तावनेजन[२]', कर्ममात्र का अङ्ग है, न कि केवल उपलराजिस्तरण का। उसी प्रकार 'मुष्टीकरण' अर्थात् मुट्ठी बाँधना, तथा 'वाग्यमः' मौनरहना, सर्वप्रकरण का अङ्ग है, न कि केवल 'दीक्षितावेदन' अर्थात् दीक्षित की सूचना देने का ही अङ्ग है। यह सब बातें ज्योतिष्टोम में होती हैं। और ज्योतिष्टोम याग में यावत्कर्म का अङ्ग है, न कि केवल 'दीक्षितावेदन' का ही।

यहाँ यह ध्यान रखने की बात है—कि संकल्पपूर्वक सोमयाग करने की विधि की विशेषप्रतिज्ञा को 'दीक्षा' कहते हैं। और उक्त दीक्षाप्राप्त को 'दीक्षित' नाम से पुकारा जाता है। तथा दीक्षानिमित्तक 'दीक्षणीयेष्टि' को जब समाप्त कर लिया जाता है, तब अध्वर्यु खड़ा होकर 'दीक्षित' यजमान का आवेदन करता है, और यों कहता है—कि 'अदीक्षिष्टायं ब्राह्मण इति त्रिरुपांश्वाह देवेभ्य एवैनं प्राह, त्रिरुच्चैरुभयेभ्य एवैनं देवमनुष्येभ्यः प्राह' अर्थात् तीन बार अध्वर्यु उच्चारण को आवेदन कहा जाता है।

सं०—पूर्वोक्त सूत्र से प्रतिपादित अर्थ में युक्ति देते हैं।

सि०प० सहा०—वाक्यानां च समाप्तवात्॥ २५॥

प०क्र०—(च) और (वाक्यानाम्) उदाहृत वाक्यों का परस्पर सम्बन्ध नहीं क्योंकि (समाप्तत्वात्) अपने-अपने पद-समूह द्वारा अपना अपना अर्थ बतलाने में ही उनकी आकाङ्क्षा समाप्त हो जाती है।

भा०—पूर्वकथित 'हस्तावववनेनिक्ते' और 'उपलराजिं स्तृणाति' इन वाक्यों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं। ये स्वतन्त्रतया अपने अपने अर्थ के द्योतक हैं। अतः पूर्ववाक्यस्थ 'हस्तावनेजन' का उत्तरवाक्यस्थ 'उपलराजिस्तरण' के साथ अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध तथा अर्थसम्बन्ध नहीं।

१. दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रूयते—'हस्तावववनेनिक्ते' 'उपलराजिं स्तृणाति' इति।
२. हस्तावनेजनम्=हाथ धोना।

किन्तु प्रकरण में विद्यमान कर्ममात्र का सम्बन्ध है।

सं०—'चतुर्धाकरण' अर्थात् चार भाग करना, यह 'आग्नेय' पुरोडाश मात्र का धर्म है।

## १५—चतुर्धाधिकरणम्

### पू०प०—शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत मिथस्तेषामसम्बन्धात्॥ २६॥

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष का बोधक है। (गुणसंयुक्तः) आग्नेय-सम्बन्धी चारभागकरण। (साधारणः) सर्व पुरोडाश का (शेषः) अङ्ग (प्रतीयेत) है। क्योंकि (तेषाम्) अग्नि और चार-भाग का (मिथः) पारस्परिक (असम्बधात्) सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत पुरोडाश और चारभागकरण का सम्बन्ध है।

भा०—'आग्नेयं चतुर्धा करोति' यह दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पढ़ा गया है। अतः चारभागकरण का पुरोडाश से सम्बन्ध है, न कि अग्नि-देवता के साथ। क्योंकि यह (चतुर्धाकरण) पुरोडाश का उपलक्षण है। पुरोडाशत्व धर्म से पुरोडाशमात्र का ग्रहण होना सम्भव है। अतः 'चतुर्भागकरण' पुरोडाशमात्र का धर्म है, न कि केवल आग्नेय-पुरोडाश का।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

### उ०प०—व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धाल्लक्षणार्था गुणश्रुतिः॥ २७॥

प०क्र०—(वा) शब्द का पूर्वपक्षनिवृत्त्यर्थ प्रयोग किया गया है। (व्यवस्था) चतुर्भागकरण आग्नेयपुरोडाश का ही धर्म है। क्योंकि (लिङ्गस्य) अग्निदेव का (अर्थेन) पुरोडाश से (सम्बन्धात्) सम्बन्ध होने से। (अर्थ-संयोगात्) (चतुर्भागकरण का आग्नेयपुरोडाश से सम्बन्ध है। तथा) (गुणश्रुतिः) पुरोडाश के साथ अग्निदेव का वह सम्बन्ध (लक्षणार्था) पुरोडाशान्तर से पृथक् करने के लिये है।

भा०—अग्निदेव तो पुरोडाश का विशेषण है, न कि उपलक्षण है। क्योंकि देवतासम्बन्ध के कारण ही 'अग्नि शब्द के विशेषण, विशेष्य से भिन्न रहकर, विशेष्य को विशेष्यान्तरों से पृथक् नहीं करता। किन्तु विशेष्य के साथ सम्बद्ध होकर ही उसको पृथक् करता है, यह नियम है। इस कारण अग्नि-देवता को छोड़कर केवल पुरोडाश के साथ चतुर्भागकरण

का सम्बन्ध नहीं, और सम्बन्ध न होने से ही वह पुरोडाशमात्र का धर्म भी नहीं हो सकता। अतः चतुर्भागकरण 'आग्नेय-पुरोडाश' का ही धर्म है, न कि पुरोडाशमात्र का, यही मानना चाहिये।

**इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः।**

## अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः प्रारभ्यते

सं०—अब शेषशेषिभाव का कथन करने के लिये प्रथम अग्निहोत्र कर्मों के प्रकाशकमंत्रों का मुख्यार्थ में विनियोगरूपसम्बन्ध निरूपण करते हैं।

### १—लिङ्गाधिकरणम्।

**सि०प०—अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु[१] शेषभावः स्यात्तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात्॥ १॥**

प०क्र०—(अर्थाभिधानसामर्थ्यात्) जिस अर्थ के प्रकट करने की सामर्थ्य मन्त्र में है, उस अर्थ के प्रति (मन्त्रेषु) मन्त्रों में (शेषभावः) शेषता (स्यात्) होती है। (तस्मात्) इस कारण (उत्पत्तिसम्बन्धः) शक्तिरूपवृत्ति के द्वारा मन्त्रस्थपदों का (अर्थेन) अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है।

भा०—जिस अर्थ का शब्द के साथ साक्षात्-सम्बन्ध होता है-वह 'मुख्य', और अन्य के द्वारा अर्थात् परम्परासम्बन्ध के द्वारा जाना हुआ अर्थ 'गौण' कहा जाता है। शब्द तथा अर्थ के परस्पर साक्षात्सम्बन्ध का नाम 'शक्ति-वृत्ति' है। और परम्परा सम्बन्ध को 'लक्षणावृत्ति' तथा 'गौणीवृत्ति' कहते हैं। अग्निहोत्रप्रकरण के कर्मों के प्रकाशक 'सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्र जुहोतन' यजु० ३।२ में 'जुहोति' क्रियापद अग्निहोत्र आदि कर्म का लिङ्ग है। और उस कर्म में विनियोग किया हुआ उस कर्म के प्रति शेष है। परन्तु हवनीय-द्रव्य गौण एवं मुख्यभेद से दो भाँति के होने से सन्देह है—

---

सूचना—(१) अस्य सूत्रस्य शाबरभाष्ये 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इति वाक्यमुदाहरणत्वेनोपस्थापितम्।

बर्हिः=दर्भः। जै......न्या०मा०टि० लिखितम्—

**कुशा काशा यवा दूर्वा गोधूमाश्चाथ कुन्दुराः।**
**उशीरा व्रीहयो मुञ्जा दश दर्भाश्च बल्वजाः॥**

इति दशविधा दर्भाः (स्मृ०मु०आह्नि० का०पृ० ४३)

कि उक्त मन्त्र में हवन करने योग्य 'घृत' आदि शब्दों से तैलादि-गौण-अर्थ भी ले सकते हैं, अथवा 'घृत' आदि-रूप-मुख्यार्थ का ही ग्रहण है। इस सन्देह के निवारणार्थ जो यह कहा जा रहा है, उसका अवश्य ध्यान रखना चाहिये—कि वैदिक-शास्त्रों का मुख्यार्थ के साथ ही नित्य सम्बन्ध माना गया है, न कि गौणार्थ के साथ। और जिसका जिसके साथ नित्य-सम्बन्ध (मुख्य-सम्बन्ध) नहीं, उसके ग्रहण से उसकी उपस्थिति भी नहीं होती। अतः उक्त मन्त्र में 'घृत' आदि शब्द से मुख्य हवनीय (घी आदि) पदार्थ का ही ग्रहण है। गौण (तैलादि गौण) पदार्थ का नहीं।

सं०—अब अविहितकर्म में मन्त्रों के विनियोग का निषेध निरूपण करते हैं।

**सि०प० सहा०—संस्कारकत्वादचोदिते न स्यात्॥ २॥**

प०क्र०—(अचोदिते) अविहित कर्म में (न स्यात्) मन्त्र का विनियोग नहीं होना चाहिये। क्योंकि (संस्कारकत्वात्) मन्त्र, विहितकर्म के ही संस्कार करनेवाले हैं।

भा०—वेद में जो विहित कर्म बतलाये हैं, वे ही यथेष्टफल देने वाले हैं, उन्हीं का वैदिकमन्त्रों से संस्कार करना चाहिये। और जिन कर्मों का वेद ने विधान नहीं किया हो, परन्तु लोक में प्रसिद्ध हों, तो ऐसे लौकिक कर्मों में मन्त्र का विनियोग नहीं किया जा सकता।

सं०—'गार्हपत्य अग्नि' के उपस्थान में इन्द्ररूपप्रकाशकमन्त्रों का निरूपण करते हैं।

**२—ऐन्द्र्यधिकरणम्—**

**सि०प०—वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात्॥ ३॥**

प०क्र०—(तु) शब्द का लिङ्गसम्बन्धी-विनियोग की व्यावृत्ति के लिये प्रयोग है। (ऐन्द्री) इन्द्ररूप ईश्वर के बतलाने वाले मन्त्र का (अयथार्थम्) लिङ्ग के द्वारा विनियोग नहीं होता। किन्तु (वचनात्) वाक्यविशेष से (स्यात्) होता है।

भा०—'निवेशनः सङ्गमनो वसूनाम्' यजुर्वेद-१२।६६। इत्यादि मन्त्र को 'ऐन्द्री' ऋचा कहते हैं। इसका विनियोग इन्द्ररूपार्थक ईश्वर के उपस्थान में है, अथवा 'गार्हपत्यनामक अग्नि के उपस्थान में है।' यह मन्त्र इन्द्ररूपार्थक ईश्वर का प्रकाशक अवश्य है, परन्तु उस इन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूप चिन्ह से इन्द्र के उपस्थान में विनियुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि इस मन्त्र में 'निवेशन'

पद से ('गार्हपत्य' अग्नि के समीप स्थित होवे इस वाक्य द्वारा) 'गार्हपत्य' अग्नि के उपस्थान में विनियोग बतलाया है। अत: इस मन्त्रस्थ इन्द्ररूप लिङ्ग से इस मन्त्रका इन्द्र के उपस्थान में विनियोग नहीं, किन्तु 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस विशेष वाक्य द्वारा गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में विनियोग जानना चाहिये।

सं०—इन्द्र पद से तो ईश्वर का अभिधान पाया जाता है, न कि गार्हपत्यरूप अग्नि का। अत: उस मन्त्र का गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में विनियोग नहीं हो सकता। इस शङ्का का उत्तर देते हैं।

**सि०प० सहा०—गुणाद्वाऽभिधानं स्यात्सम्बन्ध-स्याशास्त्रहेतुत्वात्॥ ४॥**

प०क्र०—(वा, अपि) का शङ्का के दूर करने के लिये प्रयोग है। (गुणात्) गुण-सम्बन्ध द्वारा (अभिधानं) इन्द्र-शब्द से गार्हपत्य-अग्नि का अभिधान (स्यात्) हो सकता है। क्योंकि (सम्बन्धस्य) पद पदार्थ का सम्बन्ध (अशास्त्रहेतुत्वात्) शास्त्रहेतुक नहीं, वह तो स्वाभाविक होता है। अत: कोई रुकावट उत्पन्न करनेवाला नहीं।

भा०—इन्द्र शब्द यद्यपि शक्तिवृत्ति द्वारा गार्हपत्य-अग्नि का अभिधान नहीं कर सकता, तब भी वह शब्द गौणी-वृत्ति से गार्हपत्य-अग्नि का अभिधान कर सकता है। क्योंकि जिस प्रकार जगत् का कारण ईश्वर है, उसी प्रकार गार्हपत्य-अग्नि भी याग (यज्ञ) का कारण है। इसी कारण उस कारणत्व-रूप गुण के द्वारा इन्द्र शब्द का गार्हपत्य अग्नि के साथ परम्परा सम्बन्ध है, और वह विद्यमान रहेगा। अतएव वह वाक्य बाधक नहीं किन्तु समर्थक ही है। इसी सम्बन्ध से गार्हपत्य-अग्नि के उपस्थान में इन्द्रशब्दयुक्त उस मन्त्र का विनियोग होने में कोई दोष नहीं आ सकता।

सं०—आह्वान-विनियोग—विषयक कथन करने में पूर्वपक्ष करते हैं।

**३—हविष्कृदाह्वानाधिकरणम्—**

**पू०प०—तथाह्वानमपीति चेत्॥ ५॥**

प०क्र०—(तथा) 'निवेशन: सङ्गमनी वसूनाम्' यह मन्त्र गार्हपत्यार्थ है, तथैव (आह्वानम्) 'हविष्कृत्! ऐहि इति त्रिरवध्नन्नाह्वयति' यह मन्त्र (अपि) भी अवहननादि के लिये है। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं।

भा०—'निवेशन:' इत्यादि मन्त्र का गार्हपत्य अग्नि में ही विनियोग

है, न कि 'आह्वान' में। क्योंकि वाक्यविशेष के विद्यमान होते हुए लिङ्ग से विनियोग नहीं हो सकता। अतः वाक्यविशेष के बल से (एहि) इत्यादि मन्त्र का 'अवहनन' क्रिया में ही विनियोग है, न कि आह्वान क्रिया में।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**न कालविधिश्चोदितत्वात्॥ ६॥**

प०क्र०—(कालविधिः) अवहनन क्रिया का बतलानेवाला 'अवघ्नन' पद काल का विधान करनेवाला है, न कि अवहनन क्रिया का। क्योंकि (चोदित्वात्) वह 'व्रीहीनवहन्ति' वाक्य से पूर्व ही विहित है। अतः (न) उस वचन के बल से 'ऐहि' मन्त्र का, 'अविहित' अवहनन-क्रिया में विनियोग-मानना समीचीन नहीं।

भा०—'हविष्कृत्' वाक्यस्थ 'अवघ्नन्' पद में लक्षण तथा हेतु अर्थ में वर्तमान 'अव' उपसर्गपूर्वक हन्-धातु से पाणिनि के 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' अष्टा० ६।२।१२६। सूत्र से 'शतृ' प्रत्यय है। लक्षण अर्थ में 'शतृ' प्रत्यय होने के कारण अवहनन क्रिया से उपलक्षित काल का विधान पाया जाता है, न कि 'अवहनन' क्रिया का। यदि अवहनन क्रिया ही का विधान होता, तो वाक्यविशेष के बल से आह्वानद्योतकसामर्थ्यरूप लिङ्ग का बोध करके 'ऐहि' मन्त्र का उस क्रिया में विनियोग होता। क्योंकि वह क्रिया 'व्रीहीनवहन्ति' वाक्य से पूर्व विहित है। अतः 'ऐहि' मन्त्र का यजमान की स्त्री को तीन वार पुकारने में ही प्रयोग होना चाहिये। अवहनन क्रिया में नहीं।'

पू०प०—सं०—'एहि' मन्त्र आह्वान का बोधक नहीं, किन्तु गुणवृत्ति से अवहनन का द्योतक है। अतः उसका उसी (अवहनन) में विनियोग होना समीचीन है, न कि आह्वान क्रिया में।

**उ०प० सहा०—गुणाभावात्॥ ७॥**

प०क्र०—(गुणाभावात्) गुण का सम्बन्ध न पाया जाने से 'ऐहि' मन्त्र अवहनन का प्रकाशक नहीं हो सकता।

भा०—'ऐहि' मन्त्र की चेतनसम्बन्धी 'आह्वान' क्रिया के गुण का सम्बन्ध अवहनन-क्रिया में नहीं पाया जाता। क्योंकि अवहननीय जड-पदार्थ में इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। और न उक्तक्रिया में इस भाँति के ज्ञान उत्पन्न होने की शक्ति ही है। और गुण का सम्बन्ध न पाया जाने से अवहनन-क्रिया 'ऐहि' मन्त्र का गौणार्थ नहीं हो सकती।

तथा उसके न होने से वह मन्त्र 'अवहनन' रूप क्रिया का द्योतक भी नहीं हो सकता। अतः उसका आह्वानद्योतकशक्तिरूपलिङ्ग के साथ सम्बन्ध मानना ही ठीक है।

सं०—'हविष्कृत्' पद का अर्थ 'यजमान-पत्नी' है न कि अवहनन, इसकी यह पहिचान है।'

### सि०प० सहा—लिङ्गाच्च॥ ८॥

प०क्र०—(च) और (लिङ्गात्) चिह्न के पाये जाने से अवहनन 'हविष्कृत् ' पद का अर्थ भी नहीं है।

भा०—'हविष्कृदेहीति त्रिरवघ्नन्नाह्वयति' इस अर्थवाद-वाक्य के आगे 'वाग् वै हविष्कृत्', 'वाचमेव एतत् आह्वयति' ऐसा लिखा है। अर्थात् जो हविष्कृत् का आह्वान करता है, वह वाणी को बुलाता है। यहाँ हविष्कृत् को वाणी, बतलाया गया है। यदि हविष्कृत् से अवहनन का तात्पर्य होता, तो उसे वाणी न कहा जाता। क्योंकि अवहनन और वाणी का कोई सादृश्य नहीं। तथा बिना सादृश्य वाणी को अवहनन कहना वृथा है। और यदि हविष्कृत् का अर्थ 'यजमान पत्नी' किया जावे, तो कोई असमञ्जसता नहीं। क्योंकि वाणी और यजमानपत्नी में स्त्रीत्वधर्मरूपसादृश्यलिङ्ग विद्यमान है। अतः 'हविष्कृत्' का अर्थ अवहनन नहीं, किन्तु यजमान की स्त्रीरूप वाणी ही है।

सं०—'अवघ्नन्' पद को अवहननरूप कर्म का विधानकर्त्ता मान लेने में दोष दिखलाते हैं।

### सि०प० सहा०—विधिकोपश्चोपदेशे स्यात्॥ ९॥

प०क्र०-(च) तथा (उपदेशे) 'अवघ्नन्' पद से उस कर्म की विधि मानें, तो (विधिकोपः) लक्षण-अर्थ में विधान किया हुआ 'शतृ' प्रत्यय अनुपपन्न (स्यात्) हो जाता है।

भा०—यदि 'अवघ्नन्' पद से केवल 'घात्वर्थ' मात्र अर्थात् अवहनन मात्र ही लें, तो लक्षणार्थ में जो 'शतृ' प्रत्यय का विधान किया गया है, वह सब-प्रकार वृथा ही होगा। क्योंकि उसके विधान का वहाँ कुछ फल नहीं होगा। दूसरे घातु तथा प्रत्यय के अर्थ के बीच का प्रत्यय अर्थ की प्रधानता के कारण उसे छोड़कर अप्रधान घातु का अर्थ ग्रहण कर ले, यह समीचीन नहीं माना जा सकता। अतः 'अवघ्नन्' पद अवहननरूप कर्म को विधान नहीं करता, किन्तु अवहनन-काल का विधानकर्त्ता है, यही समझना चाहिये।

सं०—'अग्निविहरण' आदि के द्योतक मन्त्रों का अग्निविहरण आदि में विनियोग निरूपण करते हैं।

**सि०प०— तथोत्थानविसर्जने॥ १०॥**

प०क्र०—(तथा) जिस भाँति 'अवघ्नन्' पद अवहननकाल का ज्ञापक है, उसी प्रकार (उत्थानविसर्जने) 'उत्तिष्ठन्नन्वाह' में उत्तिष्ठन् तथा 'व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजति' में विसृजति 'पद' भी उत्थान-काल विसर्जन-काल के बोधक हैं।

भा०—'उत्तिष्ठन्नन्वाहाग्नीदग्नीन् विहर' यह पाठ ज्योतिष्टोमयाग प्रकरण का है। और 'व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजति' यजु: ४। ११। का है। अर्थात् यह दो मन्त्र हैं। इनमें प्रैष और 'व्रत' की आज्ञा है। क्योंकि इनका उत्थानक्रिया, और वाग्विसर्गक्रिया में विनियोग है—ऐसा विचार करने पर उक्त लिङ्गों द्वारा दोनों मन्त्रों का अग्निविहरणरूप-प्रैष (आज्ञा), तथा पय:पारनरूप-व्रतकरण-प्रैष से सम्बन्ध मिलता है। और उत्तिष्ठन् आदि पदों को कालविधानकर्त्ता मानने में कोई रुकावट नहीं होती। अत: उभय मन्त्रों का विहरण आदि में ही विनियोग मानना चाहिये, न कि उत्थान आदि में।

सं०—अब 'सूक्तवाक' का प्रस्तरप्रहरण में विनियोग किये जाने का पूवपक्ष करते हैं।

**५—सूक्तवाक्याधिकरणम्-**

**पू०प०—सूक्तवाके च कालविधि: परार्थत्वात्॥ ११॥**

प०क्र०—(च) और (सूक्तवाके) सूक्तस्थ वाक्य में भी (कालविधि:) काल का विधान ही मानना चाहिये। क्योंकि (परार्थत्वात्) परार्थ होने से सूक्तवाक्य का प्रस्तर के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

भा०—सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' इस वाक्य में सूक्तवाक प्रस्तर-सम्बन्धी (प्रथम काटी हुई कुशा की मुट्ठी) अग्निप्रहरण (डालना) काल का बोधक है। अर्थात् जब 'होता' सूक्त-पाठ करे, उस समय अध्वर्यु कुशमुट्ठी को अग्नि में डाले। यहाँ 'सूक्तवाक' और 'प्रस्तर' दोनों एक दूसरे के लिये होने से गौरव हैं। अर्थात् परमात्मा के गुणगानपरक होने से 'सूक्तवाक' और 'स्रुवा' के धारण करने के द्वारा गुण है। और गुण होने से उनका कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं रहता। अत एव सम्बन्ध न होने से वह उसका अङ्ग नहीं हो सकता। यदि वह कालबोधक माना जावे, तो वह कथित वाक्य

सार्थक हो जाता है, कि 'अध्वर्यु' प्रस्तर को अग्नि में फैंके, ऐसा अर्थ ठीक होता है। अत: उक्तवाक्य में सूक्तवाककाल का विधान है, न कि प्रहरण अङ्ग का।

सं०— अब इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**सि० प०—उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात्॥१२॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के हटाने के लिए प्रयुक्त किया गया है। (उपदेश:)उपदेश होने से (हि) निश्चय ही (याज्याशब्द:) वह यागसम्बन्धी देवता का द्योतक होने से (अकस्मात्) निमित्तरहित (न) प्रहरण का अङ्ग नहीं।

भा०—जो वाक्य उदाहरण में दिया गया है। उसमें साधनवाची तृतीयाविभिक्ति का प्रयोग, सूक्तवाक को प्रस्तर-प्रहरण का अङ्ग बनाये बिना सार्थक नहीं हो सकता। और प्रस्तरप्रहरण होमरूप होने से साधन की अपेक्षा रखता है। वह साधनरूप से सूक्तवाक का सम्बन्ध किये बिना नहीं रह सकता। यदि सम्बन्ध न किया जावे, तो श्रूयमाणविभिक्ति सर्वथा व्यर्थ होगी। अत: वह कालबोधक नहीं, किन्तु प्रस्तर-प्रहरण का ही अङ्ग है।

सं०—'परार्थ' होने के कारण सूक्तवाक का सम्बन्ध नहीं हो सकता, ऐसा जो कहा गया है, उसका यह समाधान है।

**सि०प० सहा०—स देवतार्थस्तत्संयोगात्॥१३॥**

प०क्र०—(स:) सूक्तवाक्य (देवतार्थ:) देवता के लिये होने पर भी प्रस्तर का अङ्ग है। क्योंकि (तत्संयोगात्) उसका देवता के द्वारा प्रस्तर के साथ सम्बन्ध होता है।

भा०—'अग्निरिदं हविरजुषत' इस मन्त्र में अग्निकतृर्क उस हवि के स्वीकार करने का विषय है। देवतोद्देश्य के द्वारा प्रक्षेपूर्वक इस अपूर्वकर्म की 'प्रहरित' घातु के अर्थ के कारण कल्पना की गई है। क्योंकि इसी कल्पना से दोनों वर्णन और कथन असम्भव हो सकते हैं। और जिस परमात्मा के निमित्त प्रस्तर प्रक्षेपरूप अपूर्वकर्म की कल्पना है, उसी देवता का वह सूक्तवाक द्योतक है। अत: देवता और प्रस्तर का योग बन जाता है। और इस कारण वह 'प्रस्तरप्रहरण' का अङ्ग माना जा सकता है।

सं०—'प्रस्तर-प्रहरण' में 'प्रतिपत्ति' नामक संस्काकर्म की आशङ्का से उस पूर्व-अर्थ को संपुष्ट करते हैं।

**सि०प० सहा०—प्रतिपंत्तिरिति[१] चेत्स्विष्टकृद्वभय-संस्कारः स्यात्॥ १४॥**

प०क्र०—(प्रतिपत्तिः) प्रस्तरप्रहरण प्रतिजपत्तिरूप संस्कार कर्म है। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो, तो ठीक नहीं है। क्योंकि (स्विष्टकृद्वत्) स्विष्टकृत्कर्म के समान (उभयसंस्कारः) दोनों प्रकार के कर्म (स्यात्) हो सकते हैं।

भा०—सब आहुति दिये जाने के पश्चात् जो हविर्द्रव्य शेष रह जाता है, उस हविःशेष की वैदिक-मन्त्रों द्वारा जो 'स्विष्टकृत्' नाम की अग्नि में आहुति डाली जाती है, उस कर्म को स्विष्टकृत् (याग) कहते है। यह कर्म भी मन्त्रप्रतिपाद्य देवता के उद्देश्य से शेष-हविः का डाला जाना रूप होने के कारण 'प्रयाज' के समान अपूर्व कर्म, एवं 'प्रतिपत्ति' नामक संस्कारकर्म दोनों प्रकार का कर्म है। उसी भाँति प्रस्तरप्रक्षेप भी उभयविध कर्म मानना चाहिये। अतः सूक्तवाक का देवताद्वारा प्रस्तर के साथ सम्बन्ध होने के कारण प्रस्तरप्रहरणसम्बन्ध अङ्ग ही माना जावेगा।

सं०—'सूक्तवाक' नामक मन्त्रों का अर्थ के अनूकूल विनियोग कहकर अब पूर्वपक्ष करते हैं।

**पू०प०—कृत्स्नोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम्॥ १५॥**

प०क्र०—(उभयत्र दर्श तथा पूर्णमास यज्ञ में) (सर्वप्रचनम्) सूक्तवाक नामक सब मन्त्रों का पाठ करना बतलाया है। क्योंकि (कृत्स्नोपदेशात्) 'सूक्तवाक' नाम के ग्रहण से सब-मन्त्रों का प्रहरण के अङ्ग होने का उपदेश मिलता है।

भा०—सूक्तवाक से प्रस्तरप्रहरण बतलाया गया है। अतः सूक्तवाक जितने मन्त्रों का नाम है, उन सब मन्त्रों का प्रतियज्ञ में प्रस्तर-प्रहरण में विनियोग होगा, न कि अर्थ के अनुसार किसी मन्त्रविशेष का।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात्॥ १६॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के निमित्त है। (यथार्थम्)

---

सूचना (१) सतन्त्रवार्तिकशाबरभाष्यसमेतमीमांसादर्शने 'प्रतिपत्तिरिति चेत् इत्येतावदेव सूत्रमेकमस्ति।''स्विष्टकृदित्याद्यवशिष्टभागेन चैकं सूत्रं पृथक् रचितम्।' परन्तु (का०च०प्र० मु०मु० मीमांसादर्शने) उभयांशौ संयोज्य मूलोक्तप्रकारणैकमेव सूत्रं लिखितमिति देव आचार्यः।

'सूक्तवाक' नामक मन्त्रों का अपने-अपने अर्थानुकूल प्रत्येकयज्ञसम्बन्धी प्रस्तरप्रहरण में विभाग के साथ उनका विनियोग होने से (शेषभूतसंस्कारात्) वे यज्ञ के शेषभूत हैं। अर्थात् यज्ञसम्बन्धी देवता का स्मरण कराकर संस्काररूप हैं, अर्थात् यज्ञ से सम्बन्ध हैं।

भा०—यज्ञ में जो वेदमन्त्रों का पाठ है, उसका मुख्य-प्रयोजन यज्ञसम्बन्धी देवता का स्मरण न हो, उस यज्ञ में उस मन्त्र का पाठ वृथा है। 'इदं द्यावापृथिवी भद्रमभूत्' (आ०सू० १।६।६) आदि जिन मन्त्रों को सूक्तवाक कहते हैं। उनमें कई मन्त्र प्रकाशगुण को आगे रखकर 'अग्निरूप' तथा कई 'सौम्यरूप' गुण को आगे रख कर 'अग्नीषोम' रूप से ऐश्वर्यगुण का मुख्यतया प्रतिपादन करते हैं। उक्त संज्ञा के बल से दर्शपूर्णमासयज्ञ के बीच में प्रस्तरप्रहरण आदि का पाठ सार्थक नहीं होता। क्योंकि पूर्णयाग में ही 'अग्नीषोम' आदि देवता हैं, न कि दर्शयाग में। अत एव जिस याग में जिन मन्त्रों का पाठ वृथा है। उस याग में उन मन्त्रों का संज्ञाबल से पाठ करना भी उसी प्रकार अनुचित है। क्योंकि सुष्ठु (सुन्दर) कथन करनेवाले का नाम 'सूक्तवाक' है। अतः उन्हीं सूक्तवाक मन्त्रों का यागसम्बन्धी प्रस्तरप्रहरण में विनियोग करना ठीक है जो कि उस-उस देवता के अर्थपरक हों, न कि सम्पूर्णमन्त्रों का। और यही मानना ठीक भी है।

सं०—इस अर्थ में शङ्का करते हैं।

### ६—सूक्तवाकस्य विभज्य विनियोगाधिकरणम-

### पू०प०—वचनादिति चेत्॥ १७॥

प०क्र०—(वचनात्)'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' इस वाक्य से सूक्तवाक नामक सब मन्त्रों का प्रत्येक-यज्ञ-सम्बन्धी प्रस्तरप्रहरण में विनियोग होना ठीक है। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे तो ठीक नहीं।

भा०—यतः उक्तवाक्य में सूक्तवाक शब्द का ग्रहण है, न कि सम्पूर्ण मन्त्रों का नाम है। अत एव प्रत्येक यज्ञ के प्रस्तरप्रहरण में उस संज्ञावाले सम्पूर्ण-मन्त्रों का ही विनियोग होना ठीक है, न कि अर्थानुसारी विभाग के साथ।

सं०—उस शङ्का का समानधान किया जाता है।

### उ०प०—प्रकरणविभागादुभे प्रति कृत्स्नशब्दः॥ १८॥

प०क्र०—(कृत्स्नशब्दः) सब मन्त्रों के वाचक सूक्तवाक शब्द का

ग्रहण (उभे प्रति) दर्श तथा पूर्णमास दोनों के अभिप्राय से है। क्योंकि (प्रकरणविभागात्) दोनों एक ही प्रकरण के हैं।

भा०—'सूक्तवाक' शब्द का ग्रहण दर्श और पूर्णमास दोनों यागों के अभिप्राय से है, एक-एक के अभिप्राय से नहीं। दोनों के प्रकरण भी एक ही हैं। और कृत्स्न शब्द के प्रयोग से यही पाया जाता है— कि विभागपूर्वक दोनों के ग्रहण का वहां तात्पर्य है। अतः आज्ञानुसार विनियोग करके केवल अर्थ के अनुसार विभाग द्वारा ही विनियोग करना समुचित है।

सं०—'काम्या याज्यानुवाक्यानामक मन्त्रों का काम्येष्टिमात्र में विनियोग होना चाहिए, उसका निरूपण करते हैं।

## ७—लिङ्गक्रमसमाख्याधिकरणम्-

## सि०प०—लिङ्गक्रमसमाख्यानात् काम्ययुक्तं समाम्नानम्॥ १९॥

प०क्र०—काम्या याज्यानुवाक्य वाक्या का (काम्ययुक्तम्) काम्येष्टियों में ही (समाम्नानम्) विनियोग होता है, न कि इष्टिमात्र में। क्योंकि (लिङ्गक्रमसमाख्यानात्) क्रम एवं समाख्या सहित लिङ्ग से यही सिद्ध होता है।

भा०—'क्रम' और 'समाख्या' का आश्रय लेकर ही कर्म तथा मन्त्र के परस्पर अङ्गाङ्गिभावरूप सम्बन्धविशेष को बतलाया जा सकता है, न कि स्वतन्त्र होकर। क्योंकि स्वतन्त्रलिङ्ग से कर्म परस्परसम्बन्ध का समान्यज्ञान हो जाने पर भी, 'अमुक' कर्म के साथ इस मन्त्र का अङ्गाङ्गिभावरूप विशेषसम्बन्ध है, इस प्रकार सम्बन्धविशेष का ज्ञान, श्रुतिकल्पना अथवा क्रम और समाख्या के बिना नहीं हो सकता। अतः उनका इष्टियों में ही विनियोग होना ठीक है, न कि केवल 'इन्द्राग्नी' देवतापरक इष्टिमात्र में।

सं०—'आग्नीध्र' आदि मण्डपों के उपस्थान में प्रकृत—मन्त्रों के विनियोग का निरूपण करने के लिए पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं।

## पू०प०-अधिकारे च मन्त्रविधिरतदाख्येषु शिष्टत्वात्॥ २०॥

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष का सूचक है। (अधिकारे) ज्योतिष्टोमयाग के प्रकरण में (मन्त्रविधिः) जो 'आग्नीध्र' आदि मण्डपों के उपस्थान के लिए 'आग्नेयी' आदि मन्त्रोपदेश है। वह (अत्त-दाख्येषु) अप्रकृतमन्त्रों अर्थात् तदाख्यारहितों में है। क्योंकि (शिष्टत्वात्) साधारण

रूप से उपदेश किया गया है।

भा०—ज्योतिष्टोम-प्रकरण में 'आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते' 'ऐन्द्रया सदः' 'वैष्णव्या हविर्धानम्' यह आग्नेयी ऋचायें हैं, जो पढ़ी जाती हैं। इनमें 'आग्नेयी' ऋचा को पढ़ते हुए 'आग्नीध्र' नामक, और 'ऐन्द्री' ऋचा को पढ़ता हुआ 'सदः' नामक, तथा 'वैष्णवी' ऋचा को पढ़ता हुआ 'हविर्धान' संज्ञक मण्डप के समीप जावे-ऐसा पढ़ा गया है। सामवेद की 'अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये, निहोता सत्सि वर्हिषि' ऋचा का गान होता है। इस ऋचा में अग्नि, इन्द्र तथा विष्णु नाम से स्तुति होने के कारण यह 'ऐन्द्री' 'आग्नेयी' तथा 'वैष्णवी' ऋचा कही गई है। यहाँ उपस्थान-साधनमन्त्रस्थ आग्नेयादिकों का 'आग्नेय' 'ऐन्द्र' तथा 'वैष्णव' नाम से उपदेश है, न कि ज्योतिष्टोम-प्रकरण में पढ़े हुए 'आग्नेय' आदि का। यदि वह ज्योतिष्टोम में 'आग्नेय' आदि नाम से होता, तो उससे प्रकृत 'आग्नेय' आदि मन्त्रों का ग्रहण होता, न कि विशेष का ग्रहण सम्भव नहीं। अतः विनियोगविधि होने से प्रकृत-मन्त्रों का विनियोग नहीं कह सकते।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान यह है।

**उ०प०—तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम्॥ २१॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के हटाने के लिये है। (तदाख्यः) जिन स्तोत्र अथवा शस्त्रसाधन आग्नेय-आदि मन्त्रों को प्रकरण में पढ़ा गया है, उन्हीं का मण्डपोपस्थान में विनियोग है, न कि अप्रकृत का। क्योंकि (प्रकरणोपपत्तिभ्याम्) प्रकरण तथा युक्ति से यह बात सिद्ध है।

भा०—आग्नेय आदि मन्त्रों का साधाणरूप से निर्देश किया गया है, न कि विशेषरूप से। तब भी यहाँ प्रकृतमन्त्रों का ही ग्रहण ठीक है, न कि अप्रकृतमन्त्रों का। क्योंकि प्रकृत के समीप तथा अप्रकृत के दूर हैं। यह नियम है—कि सन्निहित (समीप) तथा असन्निहित (दूर) के बीच में 'सन्निहित' बलिष्ठ होता है। अतः बलवान् होने से उसका छोड़ना ठीक नहीं। अतः 'आग्नीध्र' आदि मण्डप के उपस्थान में प्रकृत 'आग्नेय' मन्त्र ही विनियोग में आने चाहियें, 'अप्रकृत नहीं होनी चाहियें।

सं०—इसमें यह युक्ति है।

**उ०प० सहा०—अनर्थकश्चोपदेशः स्यादसम्बधात्फलवता न ह्युपस्थानं फलवत्॥ २२॥**

प०क्र० (च) और 'आग्नीध्र' आदि मण्डप के उपस्थान में अप्रकृत-

मन्त्रों का विनियोग माना जावे। तो (उपदेशः) उपदेशविधि (अनर्थकः) निष्फल (स्यात्) हो जावेगी। (फलवता) फलित ज्योतिष्टोम के साथ (असम्बन्धात्) सम्बन्ध न होने से। (उपस्थाने) जिस स्थान से सम्बन्ध है, वह (फलवत्) फलदायक (न हि) नहीं है।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ के साथ सम्बन्ध होने से मन्त्रों का यदि उपस्थान के साथ सम्बन्ध मान लें, तो उनका (मन्त्रों का) उपदेश सफल हो सकता है। क्योंकि ज्योतिष्टोम फलवाला है। और उसी के साथ उपस्थान का सम्बन्ध स्थापित होता है। परन्तु प्रकृत-आग्नेय-आदि मन्त्रों का ज्योतिष्टोम के साथ योग है, न कि अप्रकृत-'आग्नेय' आदि का। अतः प्रकृत-मन्त्रों का परित्याग करके प्रकृत-मन्त्रों का विनियोग मानना अनुचित है।

सं०—'आग्नेय', ऐन्द्र तथा वैष्णव मन्त्र जो पढ़े गये हैं। उनका स्तोत्र और शस्त्र-आदि-क्रिया में पहिले से ही विनियोग होने के कारण, पुनः उपस्थान-विधान कर कर्मान्तर में विनियोग नहीं मानना चाहिये। क्योंकि एकवार विनियोग हुए का पुनः विनियोग नहीं हो सकता। अब इसका समाधान करते हैं।

**उ०प० सहा०—सर्वेषां चोपदिष्टत्वात्॥ २३॥**

प०क्र.—(उपदिष्टत्वात्) वाचः स्तोमयाग में (सर्वेषाम्) सब मन्त्रों के विनियोग का उपदेश है। (च) अतः विनियोग किये का पुनः विनियोग करना दोष नहीं।

भा०—'वाचः स्तोमयागः' के सिवाय ज्योतिष्टोम आदि-यागों में जो मन्त्रों का पुनविनियोग मिलता है, वह नहीं होना चाहिये था, परन्तु वह मिलता है। अतः यह सत्य है-कि एक कर्म में विनियोग किये गये मन्त्र का कर्मान्तर में विनियोग किया जा सकता है। अत एव 'स्तोत्र' तथा 'शस्त्र' क्रिया में विनियुक्ति होने से आग्नीध्र आदि मण्डलों के उपस्थान में प्रकृत-मन्त्रों का ही विनियोग माना सत्य है, न कि अप्रकृक का।

सं०—'सोम-भक्षण' के बतलानेवाले मन्त्रों का 'ग्रहण' आदि क्रिया में विनियोग निरूपण करने के लिए पूर्वपक्ष करते हैं।

**६—भक्षाधिकरणम्-**

**पू० प०—लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनु-वाकस्य॥ २४॥**

प०क्र०—(अनुवाकस्य) अनुवाक का (भक्षार्थता) भक्षण में ही

प्रयोग होने का विनियोग है। क्योंकि (लिङ्गसमाख्यनाभ्याम्) लिङ्ग तथा समाख्या से ऐसा ही सिद्ध होता है।

भा०—ज्योतिष्टोमप्रकरण में 'अभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि सोमं भक्षयन्ति' अर्थात् सोम कूटकर रस निकाल आहवनीय अग्नि में हवन करके बचे हुए शेष सोमरस का, मण्डप के पश्चिमद्वार से निकल कर, 'सदो' नामक मण्डल्ल में बैठकर, सब ऋत्विक् भक्षण करें। यहाँ 'भक्षेहि' इस अनुवाक में भक्षण बतलानेवाले मन्त्रों का पाठ किया गया है। अब भक्षण में-ग्रहण, अवेक्षण, निगरण तथा सम्यग्जरण यह चार व्यापार हैं। भक्षण का विधान तो है, परन्तु 'ग्रहण' आदि का नहीं। अतः अनुवाक में ग्रहण आदि के विनियोग की कल्पना करना ठीक नहीं। अत एव लिङ्ग और समाख्या के आधार पर सम्पूर्ण अनुवाक भक्षण-अर्थ में ही विनियुक्त है, ग्रहण आदि में नहीं।

सं०—इसका समाधान करते है।

**उ०प० तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वात्॥ २५॥**

प०क्र०—(तस्य) भक्षानुवाक का (अपकर्षः) भक्षण से भिन्न-ग्रहण आदि में भी विनियोग है। (रूपोपदेशाभ्याम्) स्वरूप (लिङ्ग) ग्रहण आदि विधान होने से। (अर्थस्य) क्योंकि ग्रहण आदि का (चोदितत्वात्) भक्षण-विधान-विधि से ही कथन हो जाता है।

भा०—भक्षणविधि भी तो ग्रहण आदि रूप ही विधि है। क्योंकि भक्षण के अन्दर ही ग्रहण आदि भी आजाते हैं। अतः ग्रहणादि के लिए पृथक् विधि की आवश्यकता नहीं। अतः विधान पाया जाने से, (ग्रहणादि) अतिरिक्त नहीं कहे जा सकते। और अनुवाक से उनका ग्रहण भी स्पष्ट है, जो लिङ्गरूप होने से 'समाख्या' की अपेक्षा बलवान् है। अतः सम्पूर्ण-अनुवाक का केवल भक्षण-अर्थ में विनियोग नहीं हो सकता। किन्तु उसका लिङ्ग के अनुसार ग्रहण, अवेक्षण, निगरण तथा सम्यग् जरण इन चारों में विनियोग करना चाहिये, जो कि सर्वथा उचित सङ्गत है।*

---

* प्रथम सोमरस को चमसपात्र में भर के हाथ में लेना उसे 'ग्रहण', पुनः देखना कि कोई अवाञ्छनीय वस्तु तो नहीं गिर पड़ी—इसे 'अवेक्षण', निगरण निगलना या भक्षण करना, और 'सम्यक् जरण' उसे अच्छी तरह पचा लेना—ये चारों काम भक्षण के ही लिये हैं।

सं०—उक्त वाक्य में तृप्ति और भक्षण के द्योतक 'मन्द्र' आदि मन्त्र का भक्षणमात्र में विनियोग होना चाहिये।

## १०-मन्द्राभिभूत्यधिकरणाम्-

### सि०प०—गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात्तयोरेकार्थसंयोगात्॥ २६॥

प०क्र०—(मन्द्रादिः)'मन्द्र' आदि (एकमन्त्रः) सम्पूर्ण मन्त्र (स्यात्) भक्षण का लिङ्ग है, न कि तृप्ति का भी। (गुणाभिधानात्) क्योंकि तृप्ति का गौरवरूप से कथन है। (तयोः) मन्त्र के तृप्ति और भक्षण दोनों के द्योतक भागों का (एकार्थसंयोगात्) भक्षणरूप अर्थ में ही मुख्य-योग है।

भा०—यद्यपि मन्त्र के पूर्वभाग से 'तृप्ति और द्वितीयभाग से भक्षण का अभिधान मिलता है, यद्यपि वह अभिधान दोनों का प्रधानरूप से नहीं है। वहाँ तो भक्षण का प्रधान रूप से, और तृप्ति का गौण रूप से अभिधान है। अतः वह स्वरूप से सृप्ति का अभिधायक नहीं। इस कारण उस मन्त्र का भक्षण में ही विनियोग है, न कि तृप्ति में भी।

सं०—शेष सोमरस के भक्षण में विनियुक्त मन्त्र का शेष सब सोमों के भक्षण में विनियोग करते हैं।

### पू०प०—लिङ्गविशेषनिर्देशात् समानविधानेष्व-नैन्द्राणाममन्त्रत्वम्॥ २७॥

प०क्र०—(समानविधानेषु) शेष सोमरसयुक्त ग्रहों के भक्षण समान विधान में (अनैन्द्रणाम्) जो 'ऐन्द्र' (ईश्वरनिमित्तक) नहीं हैं, उनके भक्षण में (अमन्त्रत्वम्) मन्त्र का विनियोग नहीं। क्योंकि (लिङ्ग-विशेषनिर्देशात्) उसमें इन्द्रपीतशेषत्व का अभिधायक सामर्थ्यरूप लिङ्गविशेष का कथन मिलता है।

भा०—इन्द्रपीत-सोमरस के शेष का ही उस मन्त्रांश से विधान मिलता है, न कि (मित्रावरुण) आदि पीत-सोमरस के शेष का। क्योंकि उसके प्रकाशन में वह असमर्थ है। कल्पना नहीं हो सकती। इस कारण सर्वग्रहों के भक्षण का विधान होते हुए भी इन्द्रपीत-शेषत्व-प्रकाशन-

'एहीत्येवमादि—सध्यासमित्येवमन्तम्—ग्रहणे, नृचक्षसमित्येवमादि अवख्येषमित्येवमन्तम्—अवेक्षणे, 'हिन्व मे गात्रा' इत्येवमादि—'मा मेऽवाङ्नाभिमतिगाः' इत्येवमन्तम्—सम्यग् जरणे, 'मन्द्राभिभूतिः' इत्येवमादि—'भक्षयामि.' इत्येवमन्तञ्च भक्षणे विनियुज्यते।

सामर्थ्य-रूप-लिङ्ग बल से 'ऐन्द्रशेष' भक्षणामन्त्रयुक्त है। और 'अनैन्द्रशेष' भक्षणामन्त्ररहित है।*

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**द्वि०पू०प०—यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति॥ २८॥**

प०क्र०—(वा) अथवा (यथादेवतम्) जिस जिस गुणरूपदेवता की प्रधानता स्वीकार कर ईश्वरोद्देश्य से ग्रहद्वारा सोमरस हवन किया जाता है, उस-उस देवता के अनुसार 'ऊहा' से अनैन्द्रग्रहों के भक्षण में भी उसी मन्त्र का विनियोग होना चाहिये। (हि) निश्चय ही। क्योंकि (तत्प्रकृतित्वम्) इन्द्र तथा अनैन्द्र प्रदानों का परस्पर प्रकृति तथा विकृतिभाव (दर्शयति) शास्त्र द्वारा पाया जाता है।

भा०—ऊहा करने से ऐन्द्रशेषभक्षण के समान 'मित्रा-वरुण' आदि शेष के भक्षण का भी उसी मन्त्र में भाव (अभिप्राय) है। क्योंकि उस 'ऊहा' के होने के कारण उसका स्वरूप 'इन्द्रपीतस्य' के स्थान में 'मित्रावरुणादिपीतस्य' होगया है। जो पीतियोग्य वरणीयगुणविशिष्ट परमात्मा के उद्देश्य से जिस 'मैत्रावरुण' आदि पात्र में रक्खे सोमरस का प्रदान किया है, उसका शेष मैं भक्षण करता हूँ, यह अर्थ हो जाता है। और इस अर्थ के द्वारा मैत्रावरुण-आदि शेष-भक्षण के विधायक होने के कारण उस मन्त्र की सामर्थ्य प्रकट होती है। अतः उक्त अर्थ में विनियोग अनुचित नहीं। सार यह है-कि जैसे ऐन्द्रशेष का भक्षण समन्त्रक है, उसी प्रकार ऊहापूर्वक अनैन्द्रशेष का भक्षण भी समन्त्रक है।

सं०—अब पुनरभ्युन्नीत सोमशेष भक्षण का विषय पिरूपण करते हैं।

## १२-पुनरभ्युन्नीताधिकरणाम्-

**सि०प०—पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेष त्वात्॥ २९॥**

प०क्र०—(पुनरभ्युन्नीतेषु) ग्रहों में फिर से डाले हुए सोमरस के भक्षणकाल में (सर्वेषाम्) इन्द्र तथा मैत्रा-वरुण आदि सब की (उपलक्षम्) ऊहना करनी होगी। क्योंकि (द्विशेषत्वात्) वह सोम रस का भक्षण करने योग्य शेष है।

---

* 'श्रीमाधवाचार्यविरचितजैमिनीयन्यायमाला' में लिखते हैं—कि नवमाध्याये वक्ष्यमाणदेवताधिकरणन्यायेनाशरीरस्येन्द्रस्य पानासम्भावदय 'पीत' शब्देन दानं विवक्ष्येत, तदानीम् इन्द्राय दत्तः सोम इति मन्त्रार्थो भवति, अर्थात् ईश्वरोद्देश्य से जो सोमरस दिया जाता है, वह 'इन्द्रपीत' संज्ञक होता है।

भा०—होता के 'वषट्' शब्द बोलने पर 'इन्द्रोद्देश्य' से हवन करके शेष बचा जो सोमरस, उसके साथ द्रोण (कलश) से और सोमरस मिलाकर, 'होता' 'अनुवषट्' शब्द बोलकर 'मित्रावरुण' आदि के उद्देश्य से हवन करने के लिए जितना अपेक्षित हो, उतना उस ऐन्द्र-शेष से निकालकर उससे हवन कर दे। अन्य सोम-रस से नहीं। उस हवन के करने पर जो भी सोमरस शेष रहे, उसके साथ जिस प्रकार मित्रावरुण का सम्बन्ध है, उसी प्रकार इन्द्र का भी सम्बन्ध होने से उक्त शेष-सोमरस के भक्षण में किये गये, इन्द्रपीतस्य इस मन्त्र के विनियोग में 'इन्द्रमित्रावरुणापीतस्य' ऐसी ऊहा कर लेनी चाहिये। अर्थात् 'इन्द्र' शब्दयुक्त बोलना चाहिये, न कि केवल मित्रावरुण की ही ऊहा करनी चाहिये।

सं०—पूर्वपक्ष का निरूपण करते हैं।

**पू०प०—अपनयाद्वा पूर्वस्याऽनुपलक्षणम्॥ ३०॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष का द्योतक है। (पूर्वस्य) जिसके लिये पहिले हवन किया गया है। (अनुपलक्षणम्) भक्ष मन्त्र में उसकी ऊहा नहीं होनी चाहिये। क्योंकि (अपनयात्) भक्षण करने योग्य शेष के साथ उसका (पूर्व का) सम्बन्ध नहीं रहता।

भा०—जैसे आचार्यशेष का भक्षण करता हुआ सोमदत्त दूसरा और अन्न मिलाकर विष्णुदत्त को दे देवे। तो यहाँ वह शेष जिसका कि विष्णुदत्त भक्षण कर रहा है, वह सोमदत्त का ही शेष कहा जायगा, न कि आचार्य का। क्योंकि सोमदत्त के बीच में आजाने से आचार्य का सम्बन्ध नहीं रहा। उसी प्रकार इन्द्रशेष सहित जिस 'पुनरुन्नति'(पुनःसंमिलित) सोमदत्त से मित्रावरुणनिमित्तक होम किया गया है, उससे बचा हुआ सोम 'मित्रा-वरुएनिमित्तक' शेष कहलावेगा, न कि 'इन्द्र' का शेष। इस कारण पूर्वोक्त जैसी ऊहा आवश्यक नहीं। अत एव मित्रावरुण की ही ऊहा ठीक है। अर्थात् 'मित्रावरुणपीतस्य' में 'इन्द्र' की ऊहा नहीं होनी चाहिये।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

**उ०प०—[१]ग्रहणाद्वाऽपनयः[२] स्यात्॥ ३२॥**

---

सूचना (१) सतन्त्रवार्तिकशाबरभाष्योपेतमीमांसादर्शन 'अग्रहणाद् वाऽनपायः स्यात्' इत्येवं सूत्रपाठो दरीदृश्यते—अर्थात् मध्य का ग्रहण न होने से पूर्व का अपाय नहीं होता—इति देव आचार्यः।

(२) अपनयः-इत्यत्र 'अनपनयः' इति पाठश्चारुः प्रतिभातीति देव आचार्यः।

प०क्र०—(वा)शब्द का पूर्वपक्ष हटाने के लिये प्रयोग किया गया है। (अपनय:) पूर्वपक्ष ठीक नहीं-(अनपनय:) अर्थात् इन्द्र-सम्बन्ध का विच्छेद नहीं (स्यात्)हो सकता है। क्योंकि उसका (ग्रहणात्) ग्रहण पाया जाता है।

भा०—'पूर्वशेषद्रोणकलशान् मित्रावरुणाद्यर्थं गृह्णाति'-इस वाक्य से कलश से मित्रावरुण के लिये सोमरस ग्रहण करे। अत: इस वाक्य से, इन्द्रशेष और मित्रावरुण के लिये जो पुरुन्नीत 'पुनर्गृहीत' सोम है, इन दोनों का परस्पर सम्बन्धरूप संस्कारविशेष विदित होता है, यहाँ पूर्वोक्त- 'आचार्यशेष की भाँति इत्यादि' दृष्टान्त संभव नहीं हो सकता। अत: इन्द्रसम्बन्ध का विच्छेद न पाया जाने से, इन्द्रशेषसहित पुनरुन्नीत-सोम का मित्रावरुण-आदि रूप ईश्वर के उद्देश्य से हवन करने पर जो शेष रहता है उससे इन्द्र और मित्रावरुण दोनों का सम्बन्ध है। इस में इन्द्र की ऊहा करनी चाहिये।

सं०—'पात्नीवत' पात्रस्थ होमविशेष के भक्ष में पत्नीवान् अग्निरूप ईश्वर देवता के साथ इन्द्र वायु आदि की ऊहा न करने का निरूपण करते हैं।

**पू०प०—पात्नीवते तु पूर्ववत्॥ ३२॥**

प०क्र०—(तु)शब्द पूर्वपक्ष का द्योतक है। (पात्नीवते) पात्नीवत ग्रह में बचा हुआ होमशेष भक्षण के समय भक्षमन्त्र में (पूर्ववत्) पूर्व की भांति ऊहा कर लेनी चाहिये।

भा०—'उपांशुपात्रेण पात्नीवतमाग्रयणाद् गृह्णाति' इस वाक्य के अनुसार पात्नीवत-नामक-पात्र में आग्रयणनामकस्थाली से ग्रहण किये हुए सोम में से 'पात्नीवान्' देवता के निमित्त हवन करने के पश्चात् जो शेष रहे, वही इस अधिकरण का विषय है। उसके खाने के समय 'इन्द्रवायुपत्नीवत्पीतस्य' इस प्रकार पत्नीवान् के साथ इन्द्र, वायु आदि की ऊहा होनी चाहिये। जैसे इन्द्रशेष में सोमान्तर मिलाकर मित्रावरुण के निमित्त हवन करने पर जो शेष रह जाता है उसमें इन्द्र सम्बन्ध रखता है। उसी प्रकार इन्द्र-वायु-आदि के शेष सोमान्तर मिलाकर पत्नीवान् के उद्देश्य से हवन करने पर जो शेष बचे, उसमें इन्द्र वायु का सम्बन्ध नहीं रहता, और इष्ट है, कि रहे। अत: इन्द्र वायु की ऊहा कर लेनी ठीक है।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—ग्रहणाद्वाऽपनीतं स्यात्॥ ३३॥**

प०व्यु०—(वा)शब्द पूर्वपक्ष के निवारणर्थ है। (अपनीतम्) पात्नीवत

पात्र के शेष में इन्द्र-वायु आदि के सम्बन्ध का विच्छेद(स्यात्) है। (ग्रहणात्) क्योंकि उसमें पूर्वदेवता के सम्बन्ध से रहित आग्रयणस्थाली से निकाले हुए का ग्रहण है।

भा०—जिस देवता का जिस-उद्देश्य से जिस पात्र द्वारा प्रथम हवन किया गया है, उसी पात्र में शेष सोम के साथ सोमान्तर मिलाकर अन्यदेवता के निमित्त हवन करने पर जो शेष रह जाता है, उससे प्रथम देवता का सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो पाता। उसी प्रकार पात्नीवान् के साथ इन्द्र-वायु आदि की ऊहना की कल्पना करना ठीक नहीं। उस मन्त्र में 'पत्नीवत्पीतस्य' अर्थात् केवल पत्नीवान् की ही ऊहा होनी ठीक है, इन्द्र वायु आदि के सहित पात्नीवत की नहीं।

सं०—पत्नीवान् शेष के भक्ष-मन्त्र में 'त्वष्टा' रूप से ईश्वर की ऊहा नहीं करनी चाहिये। इससे पूर्वपक्ष करते हैं।

## १४—त्वष्ट्रधिकरणम्-

## पू०प०—त्वष्टारं तूपलक्षयेत् पानात्॥ ३४॥

प०यु०—(तु)शब्द पूर्वपक्ष का द्योतक है। (त्वष्टारम्)त्वष्टानामक परमात्मा की (उलक्षयेत्) पात्नीवत शेष-भक्षण में ऊहा होनी ठीक है। क्योंकि (पानात्) सोमग्रहण (पान) करना सुना जाता है।

भा०—इस हवन-मन्त्र में 'अग्ने पत्नीवन् सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा' त्वष्टा सहित पत्नीवान् का सोमग्रहण करना कहा गया है। अतः सिद्ध है-कि पत्नीवान् के समीप त्वष्टा का भी पत्नीवान् ग्रह में स्थित हवनीयसोम के साथ सम्बन्ध है। और इसी कारण शेष के साथ भी सम्बन्ध है। अतः शेषभक्षण के समय भक्षमन्त्र में पत्नीवान् के साथ त्वष्टा की भी ऊहा होनी ठीक है।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

## उ०प०—अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात्॥ ३५॥

प०क्र०—(तु) शब्द का पूर्वपक्ष के हटाने के लिय प्रयोग है। (एवम्) इसी प्रकार पत्नीवत् के साथ त्वष्टा की ऊहा (न) नहीं (स्यात्) हो सकती। क्योंकि (अतुल्यत्वात्) सोम के स्वीकार में दोनों का सम्बन्ध एक सा नहीं है।

भा०—उक्त हवनमन्त्र में पत्नीवान् के साथ त्वष्टा का सम्बन्ध उसके साथ अवस्थानमात्र में है, न कि सोमस्वीकार के लिये। क्योंकि पत्नीवान्

अग्निरूप ईश्वर से ही 'अग्ने' इस प्रकार सम्बोधन करके सोमस्वीकार की प्रार्थना की गई है। यदि त्वष्टा भी ग्रहण में होता तो पत्नीवान्* के समान त्वष्टा को भी सम्बोधन करके सोमस्वीकार की प्रार्थना की जाती। अतः पत्नीवान् में सोम के साथ उस (पत्नीवान्) का सम्बन्ध है, न कि त्वष्टा का। अतः उस के सम्बन्धी शेषभक्षण के समय उस भक्ष-मन्त्र में पत्नीवान् के साथ त्वष्टा की ऊहा होनी ठीक नहीं है।

प०क्र०—पात्नीवत शेष भक्ष-मन्त्र में पत्नीवान् अग्नि देवता के साथ तेतीस देवताओं की ऊहा नहीं करनी चाहिये।

### १५—त्रिंशदधिकरणम्-

### सि०प०—त्रिंशच्च परार्थत्वात्॥ ३६॥

प०क्र०—(च) तथा (त्रिंशत्) तेतीस देवताओं की ऊहा नहीं हो सकती। क्योंकि (परार्थत्वात्) वह गौण है।

भा०—पात्नीवत अग्ने के स्वीकार करने से तेतीस देवताओं का स्वीकार करना ऐसा है जैसे कि राजा के स्वीकार कर लेने पर उसके भृत्यों की भी स्वीकारी कर ली जाए। अतः उक्त शेष भक्ष-मन्त्र में उनकी ऊहा करने की आवश्यकता नहीं। अतः भक्ष मन्त्र में पत्नीवान् अग्नि देवता के साथ उनकी ऊहा नहीं हो सकती।

सं०—अनुवषट्कार के देवता अग्नि की प्राप्ति नहीं करनी चाहिए।

### १६—वषट्काराधिकरणम्—

### सि०प०—वषट्कारश्च कर्तृवत्॥ ३७॥

प. क्र.— (च) और जैसे (कर्तृवत्) होता, अध्वर्यु आदि की यशःमन्त्र में प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार (वषट्कारः) अनुवषट्कार के देवता अग्नि की भी प्राप्ति नहीं हो सकती।

भा०—जैसे ऐन्द्र-यागरूपप्रकृति में न लिये जाने से होता आदि ऋत्विजों की भक्ष-मन्त्र में भी ऊहा नहीं होती, उसी प्रकार अनुवषट्कार के देवता अग्नि की भी ऊहा नहीं की जा सकती। क्योंकि ऐन्द्र-प्रदानरूप प्रकृतियाग (इन्द्र के प्रदान के निमित्त यज्ञ) में उस देवता का ग्रहण नहीं है। जिस मन्त्र को पढ़कर 'अनुवषट्' इस शब्द का अन्त में उच्चारण किया

---

* पत्नीवान् एक पात्र होता है।
'अग्ने पत्नीवन् सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा' यह यजुर्वेद—[८।१० का] मन्त्र है।

जाता है, इस मन्त्र में सम्बोधन विभक्ति के ग्रहण से परमात्मा का नाम 'अनुवषट्कार' देवता हो जाता है। और जिस भांति इन्द्रादि के उद्देश्य से होम होता है, उसी प्रकार इसके निमित्त होम नहीं किया जाता। यह तो केवल मान्त्रिक देवता है।

सं०—सत्ताईसवें सूत्र के पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं।

**सि०प० सहा०—छन्द:प्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात्॥ ३८॥**

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है। (छन्द:प्रतिषेध:) जगती छन्द के निषेधपूर्वक अनुष्टुप् छन्द की ऊहा का विधान 'ऐन्द्र' तथा 'अनैन्द्र' प्रदानों के प्रकृति तथा विकृति भाव में प्रमाण नहीं। क्योंकि। (सर्वगामित्वात्) ज्योतिष्टोमयाग एक होने सोम और सोम के अन्य धर्म का सान्निध्य सब दानों में से एक सा है।

भा०—ज्योतिष्टोम-याग में 'सोमेन यजेत' इस विधिवाक्य से 'सोम' कर्म का अङ्ग प्रतीत होता है, न कि किसी प्रदान विशेष का। यदि प्रदान विशेष का अङ्ग होता, तो 'ऐन्द्र' तथा अनैन्द्र प्रदानों में परस्पर प्रकृति तथा विकृति भाव की कल्पना की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त कर्माङ्ग होने से सम्पूर्ण-प्रदानों में उसका समान भाव से सम्बन्ध मिलता है। इसी प्रकार सोम के साथ उसके सम्पूर्ण धर्म भी मिलते हैं। तथा प्रतिसोम धर्म के होते हुए एक प्रदान को प्रकृति, तथा दूसरे को विकृति नहीं कहा जा सकता। अत: 'ऐन्द्र' शेष का भक्षण ही समन्त्रक है, और अनैन्द्र शेष का भक्षण समन्त्रक नहीं।

सं०—ऐन्द्राग्न-शेषभक्षण को अमन्त्रक कथन करते हैं।

### १७—अनैन्द्राणाममन्त्रकभक्षणाधिकरणम्—

**पू०प०—ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात् स्यात्॥ ३९॥**

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है। (ऐन्द्राग्ने) 'ऐन्द्राग्न' नामक ग्रह-शेष के भक्षण में (स्यात्) भक्ष-मन्त्र का विनियोग है, क्योंकि (लिङ्गभावात्) उनका विनियोजक लिङ्ग विद्यमान है।

भा०—जो सोम तथा इन्द्र दोनों के निमित्त प्रदान किया गया है, वह इन्द्र के भी उद्देश्य से दिया जा सकता है। अत: उसके शेष-भक्ष में 'इन्द्रपीतस्य' इस मन्त्र भक्ष का भी विनियोग हो सकता है। इस कारण ऐन्द्रशेषभक्षण के समान 'ऐन्द्राग्न' शेष का भी भक्षण समन्त्रक है।

सं०—इस पक्ष का समाधान करते हैं।

### १८—ऐन्द्राग्नभक्षणे मन्त्राभावाधिकरणम्—

### उ०प०—एकस्मिन्वा देवतान्तराद्विभागवत्॥ ४०॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के परिहार के लिये आया है। (विभागवत्) चार भाग करना। (एकस्मिन्) एक सोमभक्षण में नहीं होता है। (देवतान्तरात्) इन्द्र से 'इन्द्राग्नि' देवता भिन्न हैं।

भा०—प्रदान, मिले हुए देवता कि निमित्त से पाया जाता है। भक्ष-मन्त्र अमिश्रित देवता को बतलाता है। इस कारण विनियोजक लिंग के न होने से उस मन्त्र का विनियोग नहीं हो सकता। अतएव शेषभक्षण के समान ऐन्द्राग्नशेषभक्षण समन्त्रक नहीं, किन्तु अमन्त्रक ही है।

सं०—अनेक छन्द वाले 'ऐन्द्रशेष' के भक्षण में उस भक्ष-मन्त्र का विनियोग निरूपण करते हैं।

### १९—भक्षमन्त्रस्य गायत्रान्यच्छन्दस्केऽपि विनियोगाधिकरणम्—

### पू०प०—छन्दश्च देवतावत्॥ ४१॥

प०क्र०—(च) शब्द (तु) शब्द के अर्थ में है, और वह पूर्वपक्ष का द्योतक है। (देवतावत्) इन्द्रदेवता के निमित्त प्रदान कर देने से अनन्तर बचे हुए शेषसोमभक्षण में भक्ष-मन्त्र का प्रयोग है। उसी प्रकार (छन्दः) एक गायत्रीछन्दवाले शेष सोम भक्ष्य में भी उस मन्त्र का विनियोग होना ठीक है।

भा०—'गायत्रच्छन्दस इन्द्रपीतस्य' इस भक्ष-मन्त्र में इन्त्रपीतस्य का विशेषण 'गायत्रच्छन्दस' आया है। अर्थात् 'गायत्रमेव छन्दो यस्य' यह विग्रह है। इसका अभिप्राय यह कि गायत्री ही है छन्द जिसका, ऐसा जो इन्द्रदेवताक सोम। कहना यह है कि इस पूर्वोक्त अर्थ के होने से केवल एक गायत्री छन्दवाले मन्त्रों का ही ऐन्द्रशेष के भक्षण में विनियोग पाया जाता है, अनेक छन्दवाले मन्त्रों का इन्द्र शेष-भक्षण में विनियोग नहीं पाया जाता। अतः उस भक्षण में ही विनियोग होना ठीक है, अनेक छन्दवाले शेष के भक्षण में नहीं।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

### उ०प०—सर्वेषु वाऽभावदेकच्छन्दसः॥ ४२॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के परिहार के लिये है। (सर्वेषु) अनेक छन्दवालों में भी भक्षमन्त्र का विनियोग होता है क्योंकि (अभावात् एकच्छन्दसः) कोई ऐन्द्रसोम एक छन्दवाला होता ही नहीं।

भा०—ऐन्द्रशेष का भक्षण समन्त्रक और अनैन्द्र अर्थात् मित्रावरुण-आदि—शेष का भक्षण अमन्त्रक होता है। क्योंकि ऐसा कोई ऐन्द्र-प्रदान नहीं, जिसमें केवल एक गायत्रीछन्दवाला ही मन्त्र बोला जाता हो। और 'गायत्रच्छन्दस' विशेषण का गायत्री उस भक्ष-मन्त्र का विनियोग मिलता है न कि एक छन्दवाले 'ऐन्द्रशेष' के भक्षण में।

सं०—पहिले कहा है, कि अनैन्द्र सोम का अमन्त्रक भक्षण होता है, उसका समाधान यह है।

**सि०प०—सर्वेषां वैकमन्त्र्यमैतिशायनस्य भक्तिपान त्वात् सवनाधिकारो हि॥ ४३॥**

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्षके परिहारार्थ है। (सर्वेषाम्) इन्द्र, अनैन्द्र सब शेषभक्षण में (ऐकमन्त्र्यम्) एक ही भक्ष-मन्त्र का विनियोग है। (हि) क्योंकि (भक्तिपानत्वात्) 'दा' घातु के अर्थ में 'पा' धातु का प्रयोग करके बहुव्रीहि-समास-द्वारा लक्षणावृति के आश्रय से (सवनाधिकार:)' सवन' अर्थ किया है। ऐसा (ऐतिशायनस्य) महर्षि ऐतिशायन मानते हैं।

भा०—महर्षि 'ऐतिशायन' ऐसा मानते हैं—कि इन्द्रेण पीत: =इन्द्रपीत: सोम: इस प्रकार तृतीयातत्पुरुषसमास 'इन्द्रपीतस्य' में किया जावे, तो वह मन्त्र ऐन्द्रशेषभक्षण का ही द्योतक होगा,न कि अनैन्द्रशेषभक्षण का भी। परन्तु 'उत्तरपदार्थप्रधानस्तत् पुरुष: ' अर्थात् जिन दो पदों का समास किया जावे, और उनमें उत्तर पद का अर्थ प्रधान हो, तो उसको तत्पुरुषसमास कहते हैं। ऐसा लक्षण होने से 'इन्द्रपीतस्य' में तत्पुरुष नहीं। किन्तु पीत का अर्थ देना (मानकर) 'बहुव्रीहि समास' है अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहि: ' अर्थात् जिन दो पदों का समास होने पर, उन दोनों के अर्थ के अतिरिक्त किसी अन्य पद का अर्थ प्रधान हो, उसे बहुव्रीहि कहते हैं। इस प्रकार का 'बहुव्रीहि' का लक्षण होने पर 'इन्द्रपीतस्य' का 'इन्द्राय पीत: दत्त: सोमो यस्मिन् सवने, तत् इन्द्रपीतम्, तस्य शेषं भक्षयामि-ऐसा अर्थ हो जायगा। अत एव ऐन्द्रशेषभक्षण का नहीं, किन्तु सवनमात्र के शेषभक्षण का वह मन्त्र द्योतक है। अत: ऐन्द्रशेषभक्षण के समान अनैन्द्रशेष का भक्षण भी समन्त्रक है, अर्थात् सब सोमभक्षण समन्त्रक हैं।

**इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पदः समाप्तः।**

## अथ तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः प्रारभ्यते

### १—उपक्रमाधिकरणम्—

सं०—अब ऋग्वेदादि का धर्मनिरूपण करते हैं।

**पू०प०—श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात्॥ १॥**

प०क्र०—(जाताधिकारः) धर्मविशेषवाले मन्त्रों का 'उच्चैस्त्व' आदि धर्म(स्यात्)है। क्योंकि(श्रुतेः) उनके विधान करनेवाले 'उच्चैर्ऋचा क्रियते, 'उच्चैः साम्ना', 'उपांशु यजुषा'—इत्यादि वाक्यों में मन्त्रवाचक 'ऋचा' आदि शब्दों का उपदेश पाया जाता है।

भा०—'उच्चैर्ऋचा' इत्यादि वाक्यों में, ऋक् साम द्वारा 'उच्चैः' और 'यजुः' द्वारा उपांशु कर्म करने का विधान है। इनमें ऋक्त्व आदि धर्मवान् मन्त्रों के वाचक हैं। अतः जो कि ज्योतिष्टोमयाग में पठित 'उच्चैर्ऋचा क्रियते', 'उच्चैः साम्ना', 'उपांशु यजुषा'— ये धर्म हैं, न कि वेदों के सम्बन्ध में विधान किये गये हैं।

सं०—इसका समाधान करे हैं।

**उ०प०—वेदो वा प्रायदर्शनात्॥ २॥**

प०क्र० (वा) शब्द पूर्वपक्ष के परिहारार्थ है। (वेदः) पूर्वोक्त वाक्यों में पठित 'ऋचा' आदि शब्द ऋग्वेद आदि के वाचक हैं। क्योंकि (प्रायदर्शनात्) वेदों के उपक्रम के द्वारा इन पदों का प्रयोग हुआ है।

भा०—उपक्रम में ऋग्वेद का कथन ही पाया जाता है, और उसी के अनुसार उपसंहार करते समय ऋचादि पदों से यथाक्रम उस-उस वदे का ग्रहण किया गया है। एकदेश[१] के ग्रहण से समुदाय का ग्रहण हो जाता है, इस नियम के अनुसार उस वाक्य में 'ऋग्वेदादि के एकदेश ऋचा आदि का ग्रहण है। अतः इन* वाक्यों में ऋचादि-पद वेदवाची हैं। इसी कारण 'उच्चैस्त्व'—आदि धर्म, ऋक्त्वादि-जात्याक्रान्त मन्त्रों के नहीं बतलाये गये हैं, किन्तु ऋग्वेदादि के हैं।

---

सूचना—(१) 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रस्य ग्रहणम्' इत्यत्र 'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्यः' (सि०कौ० तद्धि० ठाजा० ५। ३८३) इति वार्तिकामपि मानमिति देव आचार्यः।

* प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेति। स तपोऽतप्यत। तस्मात्तपस्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त। अग्निर्वायुरादित्यः। तपोऽतप्यतः। तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदाः असृज्यन्त। अग्नेर्ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात्सामवेदः।

सं०—उक्तार्थ साधक लङ्गि का निरूपण करते हैं।

**उ०प० सहा०—लिङ्गाच्च॥ ३॥**

प०क्र०—(च) तथा (लिङ्गात्) उसका चिह्न (लिङ्गरूपप्रमाण) मिलने से भी उस अर्थ प्रमाणिकता है।

भा०—यथावकाश प्रात मध्यान्ह एवं सायंकाल वेद के उपदेश तथा अभास आदि के विधान करने के लिये प्रथम चरण मे ऋग्, द्वितीय में यजुः तृतीय में सामवेद कथन करके, [१]चौथेचरण में बहुवचनान्त 'वेदैः' शब्द का प्रयोग होने से उक्त 'उच्चै ऋचा' इत्यादि वाक्य में ऋचापद वेदवाची सिद्ध हुए। बहुवचनान्त वेद शब्द का प्रयोग युक्ति युक्त नहीं हो सकता। यदि ऐसा न होता तो 'वेदाभ्यां' द्विवचनान्त प्रयोग होता। क्योंकि द्वितीय और तृतीय दोनों चरणों में साक्षात् वेद शब्द का प्रयोग पाया जाता है। अतः ये अकृत्वादि धर्म वेद के हैं, मन्त्रों के नहीं।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

**उ०प०सहा०—धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्ये सम्बन्धः॥ ४॥**

प०क्र०—(च) और (धर्मोपदेशात्) साम का उच्चैस्त्व धर्म कथन करने से (हि) निश्चय ही (द्रव्येण)साम द्रव्य के साथ (सम्बन्ध) उच्चैस्त्वधर्म का सम्बन्ध (न) नहीं हो सकता। अतः ऋगादिपदों का वेद अर्थ मानना चाहिये।

भा०—जब ऋचा पर गान करने से, जो ऋचा का धर्म है वह साम का धर्म हो जाता है। तो ऋक् में उस धर्म का विधान निरर्थक हो जाता है। अतः सिद्ध है कि वे तीनों शब्द (ऋचादि) मन्त्र वाची नहीं, किन्तु वेदवाची ही हैं। अतः उच्चैस्त्व आदि वेद के धर्म हैं, न कि मन्त्र के।

सं०—इसमें और भी हेतु देते हैं।

**उ०प०सहा०—त्रयीविद्याख्या च तद्विदि॥ ५॥**

प०क्र०—(च) और (तद्विदि) तीनों वेद के जानने वाले में (त्रयी-विद्याख्या) त्रयीविद्या नाम की प्रवृत्ति होने से भी यही सिद्ध होता है।

भा०—जैसे तीनों वेदों के ज्ञाता ही को 'त्रैविद्य' संज्ञा देते हैं, अन्य

---

सूचना—(२) 'ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते, यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते, वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः॥ [मी०द०शा०भा०] इति देव आचार्यः'

को ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः सिद्ध होता है-कि यहाँ ऋग्, यजुः और साम यह तीनों वेदों की ही संज्ञायें तथा विद्या शब्द का समानाधिकरण्य उन्हें वेदवाची प्रमाणित करता है। और यदि यह मन्त्रसंज्ञक होते, तो उसे (तीनों वेद के ज्ञाता को) 'त्रयीविद्य' नहीं कहते।

सं०—इसमें आशङ्का करते हैं।

**पू०प०—व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत्॥ ६॥**

प०क्र०—(व्यतिक्रमे) किसी ऋचा का यजुर्वेद में, तथा किसी यजुः का ऋग्वेद में पाठ होने पर (यथाश्रुति) श्रुत्यनुकूल ही उच्चैस्त्व आदि धर्म की कल्पना करनी चाहिये। इस कारण से भी उन शब्दों (ऋचादि) को वेदवाची मानना ठीक नहीं। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो।

भा०—ऋचा आदि शब्दों को वदेवाची मानने से ऋचा में उच्चैस्त्व, और यजुः में उपांशुत्व श्रवण का लाभ नहीं हो सकता। तथा पाठव्यतिक्रम होने पर भी ऋचा का उच्चैस्त्व और उपांशुत्व एकसाथ हो जाता है। अतः उक्त शब्दों को वदेवाची मानना ठीक नहीं। किन्तु मन्त्रवाची मानकर मन्त्र के ही उच्चैस्तव और 'उपांशुत्व' धर्म मानना ठीक है।

सं०—इस आशङ्का का यह समाधान है।

**उ०प०—न सर्वस्मिन्निवेशात्॥ ७॥**

प०क्र०—(न) ऋचा के पाठ का व्यतिक्रम हो जाने के कारण उस के धर्म का व्यतिक्रम हो जाने में कोई दोष नहीं। क्योंकि उस धर्म का (सर्वस्मिन्) संपूर्ण वेद में (निवेशात्) निवेश है। अर्थात् वह धर्म वेद का है, न कि मन्त्र का।*

भा०—ऋचा अथवा यजुः का जिस वेद में पाठ है। उस ऋक् या यजुः में सर्वत्र उस वेद के धर्म को माना जाता है। अतः पाठ व्यतिक्रम से कोई दोष नहीं आता। अतः ऋचा आदि पदों के वाच्य ऋग्वेद आदि में उस धर्म का विधान मानना ठीक है, मन्त्र में मानना ठीक नहीं।

सं०—उक्तार्थ को संपुष्ट करते हैं।

---

सूचना— *अतः यदि ऋग्वेद का मन्त्र यजुर्वेद में आ गया, तो उसका उच्चारण यजुर्वेद की भांति ही होगा, न कि ऋग्वेद की भांति। इसी प्रकार यदि ऋग्वेदका यजुर्वेद में चला जावेगा, तो वहाँ भी पूर्ववत् (ऋक् की भांति) व्यवस्था मानी जावेगी। इसी प्रकार अन्यत्र (सामादि में भी) जानना चाहिये—इति देव आचार्यः।

**उ०प० सहा०—वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत ॥ ८ ॥**

प०क्र०—(वेदसंयोगात्) वेदका सम्बन्ध होने से 'उच्चैस्त्व' आदि कार्यों (धर्मों) का नियम है। उसकी (प्रकरणेन) प्रकरण से कोई भी (न बाध्येत) हानि नहीं होती।

भा०—जिस कर्म का यजुर्वेद द्वारा करना बतलाया है, और वाक्य के बल से उस कर्म में पाठ ऋग्वदेस्थमन्त्र के पाठ का विनियोग प्राप्त है। तो कर्मानुष्ठानकाल में उस मन्त्र का पाठ उच्चैः स्वर से किया जावेगा, न कि उपांशु (धीरे स्वर से)। वहाँ पर वेद-सम्बन्ध से उच्चैःस्वर, तथा प्रकरणसम्बन्ध से उपांशुस्वर माना गया है। अतःप्रकरण-स्वर की समीपता होते हुए भी वह प्रकरणस्वर, वाक्यप्राप्त-उच्चैस्त्वस्वर का बाधक नहीं हो सकता। अत एव ऋचादि-पद ऋग्वेदादि के वाचक, एवं उच्चैस्त्व-आदि उसके धर्म कहे गये हैं, मन्त्रों के नहीं।

सं०—'अग्न्याधान' कर्म में सोम का उपांशु गान निरूपण करते हैं।

## २—गुणमुख्यव्यतिक्रमाधिकरणम्—

**गुणमुख्यव्यतिक्रमं तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः ॥ ९ ॥**

प०क्र०—(गुणमुख्यव्यतिक्रमे) गुण एवं मुख्य में वेद के धर्म-उच्चैस्त्व-आदि के सम्बन्ध की आशङ्का होने पर (मुख्येन) मुख्य के साथ ही (वेदसंयोगः) वेद धर्म का सम्बन्ध होता है। क्योंकि (तदर्थत्वात्) गुण एवं धर्म सब मुख्य के साथ ही सम्बन्द्ध होते हैं, न कि गुण के।

भा०—यजुर्वेद के दो ब्राह्मण कहलाते हैं 'शतपथ' और 'तैत्तिरीय'। शतपथ की ११वीं कण्डिका में 'अग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे' (यजुर्वेद ३। ५) के आधार पर कहा गया है—कि वसन्ते ब्राह्मणो-ऽग्नीना-दधीत, ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः, अर्थात् इन ऋतुओं में ये उपर्युक्त व्यक्ति अग्न्याधान करें। तथा उसी के अङ्गरूप से वामदेव्य-संज्ञक सामों का भी गान कहा गया है। पर वह गान सामवेद के धर्म 'उच्चैःस्वर' से हो, अथवा यजुर्वेद के धर्म उपांशु (धीरे स्वर से) से हो—यह सन्देह है कि इस संदेह में यह निर्णय किया जाता है-कि यद्यपि सामवेद में उक्त मन्त्रों के उत्पन्न होने से 'उच्चैःस्वर' से उन सामों का गान होना ठीक है, तथापि अङ्गरूप से विधान होने से वह सामगुण (उच्चैस्त्व) गौण है। और अङ्गी होने से 'अग्न्याधान' कर्म मुख्य एवं प्रधान है। अतः मुख्य होने से वह यजुर्वेदविहितकर्म (अग्न्याधान) याजुर्वेदिक है। और 'उपांशुत्व' धर्म यजुर्वेद का होने के

कारण 'उच्चैस्त्व' से प्रबल है। अतः जिस प्रकार आधान के अङ्गभूत मन्त्रों का उपांशुपाठ होता है, उसी प्रकार उन सामों का भी उपांशु गान होना ही समुचित है,उच्चैःस्वर से नहीं।

सं०—ज्योतिष्टोम-याग याजुर्वेदिक है। उसके उपांशु अनुष्ठान का कथन करते हैं।

### ३—ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वेदिकताधिकरणम्—

### सि०प०—भूयस्त्वेनोभयश्रुतिः ॥ १० ॥

प०क्र०—(उभयश्रुतिः) दो वेदों में सुने गये कर्म का प्रधान रूप से विधान (भूयस्त्वेन) अङ्गों की अधिकता पर निर्भर है। अर्थात् जिस वेद में उसके अङ्गों का आधिक्य होगा। उसी वेद के अनुसार वह कर्म किया जायगा।

भा०—यजुर्वेद तथा सामवेद दोनों में जयोतिष्टोम-याग का विधान मिलता है। उसका उपांशु, अथवा उच्चैस्त्व में से किसके द्वारा किस प्रकार अनुष्ठान हो- ऐसी आशङ्का होने पर यह निर्णय किया गया है—कि उक्त याग का विधान यद्यपि दोनों वेदों में एकसा मिलता है, परन्तु यजुर्वेद में जितने उसके अङ्ग मिलते हैं, उतने सामवेद में नहीं मिलते। अतः स्पष्ट है कि—यजुर्वेद में उसका प्रधानरूप से विधान है, सामवेद में तो शेष गुणविधान रूप से अनुवाद है। अतः ज्योतिष्टोमयाग याजुर्वेदिक है। अतः उसका अनुष्ठान भी उपांशुत्व-धर्म के द्वारा ही होना चाहिये, सामवेद उच्चैस्त्व धर्म के द्वारा नहीं।

सं०—श्रुति, लिङ्ग और वाक्य तीनों विनियोजक बतलाये जा चुके। अतः अब प्रकरण की विनियोजकता का कथन करते हैं।

### ४—प्रकरणाधिकरणम्-

### सि०प०—असंयुक्तं प्रकरणादिति कर्त्तव्यतार्थित्वात् ॥ ११ ॥

प०क्र०—(असंयुक्तम्) श्रुति, लिङ्ग तथा वाक्य के द्वारा जिस का विनियोग नहीं हो, उसका (प्रकरण) प्रकरण से विनियोग समझना चाहिये। क्योंकि (इतिकर्तव्यतार्थित्वात्) प्रधान को अङ्ग के विनियोग की अकाङ्क्षा होती है।

भा०—दर्शपूर्णमास-याग में 'समिधो यजति' 'तूननपातं यजति' 'इडो यजति' 'बर्हिर्यजति' 'स्वाहाकारं यजति'- इन वाक्यों से 'प्रयाज' संज्ञक पाँच आहुतियाँ घी की देने का विधान है। यह आहुतियाँ अग्निहोत्र,

ज्योतिष्टोमयाग आदि सर्वकर्मों की अङ्गभूत हैं, अथवा दर्शपूर्णमास की अङ्गभूत हैं। इस सन्देह में यह निर्णय किया गया है—कि अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध के बोधक श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, क्रम (स्थान) तथा समाख्या—ये ६ प्रमाण माने गये हैं। इनमें उत्तरोत्तर ग्रहण करने के नियम के कारण इन वाक्यों में 'श्रुति' 'लिङ्ग' तथा वाक्य तीनों के बीच में से कोई प्रमाण नहीं है। केवल प्रकरण ही प्रमाण है। क्योंकि उपर्युक्त पाँच 'आहुत्यात्मक (प्रयाज)' दर्शपूर्ण-मासयाग के प्रकरण में पढ़ा गया है। अतः वह दर्शपूर्णमासयाग का अङ्ग है, न कि अग्निहोत्र का।

सं०—'क्रम' का विनियोग करते हैं।

## ५—क्रमाधिकरणम्—

## सि०प०—क्रमश्च देशसामान्यात्॥१२॥

प०क्र०—(च) और (क्रमः) अनुमन्त्रण मन्त्र तथा उपांशुयाग के अङ्गाङ्गिभाव का बोधक, स्थल है। क्योंकि (देशसामान्यात्) दोनों का एक ही स्थान है

भा०—जिस प्रकार आध्वर्यवकाण्ड में उपांशु-याज का दूसरा[१] स्थान है। उसी प्रकार यजमानकाण्ड में उसका (अनुमन्त्रणमन्त्र[२] का) भी द्वितीय स्थान है। और जिसका जिसके साथ समान स्थान है, अथवा यथासंख्य पाठ है, उसका उसके साथ सम्बन्ध पाणिनिआचार्य के मतानुसार एक ही है।* अतः वह मन्त्र (अनुमन्त्रणमन्त्र) उपांशुयाज का अङ्ग है, ऐसा मानना चाहिये।

---

सूचना—(१) आध्वर्यवे काण्डे आ[१]ग्नेयोपांशु[२]याजाग्नीषो[३]मीयकर्माणि क्रमेणाम्नातानि।

(२) याजमाने च काण्डे तद्विषया मन्त्राः क्रमेणेत्थमाम्नाताः—
'अग्नेर[१]हं देवयज्ययाऽन्नादो भूयासम्', 'द[२]ब्धिरस्यदब्धो भूयासममुं दभेयम्'। 'अ[२]ग्नीषोमयोरहं देवयज्यया वृत्रहा भूयासम् इति।' अतो द्वितीयस्य द्वितीयमङ्गं क्रमवशात्।

स च क्रमो द्विविधः। पाठकृतः, अर्थकृतश्च। पाठकृतोऽपि द्विविधः। यथासंख्यपाठः, सन्निपाठश्च। यथासंख्यपाठस्यादहरणम्—'दब्धिरसि' इत्यादि दत्तमेव। सन्निधिपाठस्यो-दाहरणन्तु—सन्निधिपाठात् 'शुन्धध्वम्' इत्यादि मन्त्रः सान्नाय्यपात्रेषु विनियुज्यते। अर्थकृतस्योदाहरणन्तु—पशुधर्माणा-मग्नीषोमीयाङ्गत्वम्, अनुष्ठानसादेश्यात्।

सं०—समाख्या का विनियोग निरूपण करते हैं।

**सि०प०—आख्या चैवं तदर्थत्वात्॥ १३॥**

प०क्र०—(च) तथा एवं क्रमानुसार (आख्या) समाख्या भी विनियोजक समझनी चाहिये। क्योंकि (तदर्थत्वात्) व्युत्पत्ति द्वारा उसमें कर्त्ता क्रिया का योग मिलता है।

भा०—होता का कर्म 'होत्र' और अध्वर्यु का कर्म 'आध्वर्यव' और उदगाता का कर्म औद्‌गार कहलाता है। 'याज्यापुरोऽनुवाक्य' पाठ में होत्र आदि समाख्या का विधान मिलता है। इस कारण होता रूप कर्त्ता का सम्बन्ध उक्तपाठ द्वारा उस कर्म के साथ, अध्वर्युरूपकर्त्ता का दोहनादिकर्म के साथ स्पष्ट सम्बन्ध मिलता है। अत: समाख्याबल से जिस कर्म के साथ जिस ऋत्विक् का सम्बन्ध मिले, वह कर्म उसी को कर्त्तव्य है, अन्य को नहीं।

सं०—श्रुति आदि प्रमाणों के एक स्थान में एकत्रित हो जाने पर किसके अनुसार विनियोग होना ठीक है, इसके बलाबल का विचार करते हैं।

## बलाबलाधिकरणम्—

७—११-श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थानप्राब्ल्याधिकरणम्—

**सि०प०—श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समावाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रर्षात्॥ १४॥**

प०क्र०—(श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्यानाम्) श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या-इन ६के (समवाये) क्वचित् एकत्र हो जाने पर (पारदौर्बल्यम्) पूर्व प्रबल, और उत्तर निर्बल होता है। अर्थात् श्रुति की अपेक्षा लिङ्ग, लिङ्ग की अपेक्षा वाक्य, वाक्य की अपेक्षा प्रकरण, प्रकरण की अपेक्षा स्थान, और स्थान की अपेक्षा समाख्या[१] दुर्बल है। इसका कारण यह है—कि (अर्थविप्रकर्षात्) अर्थ के दूर हो जाने से। अर्थात् पूर्वकी अपेक्षा उत्तर के साथ विलम्ब से विनियोग होता है।

---

सूचना—(१) समाख्या द्विविधा, लौकिकी, वैदिकी च। अध्वर्योरिदम्—आध्वर्यवमिति लौकिक्या: समाख्याया उदाहरणम्। एवमन्यदप्युदाहरणं बोध्यम्। होतुश्चमस इति होतृच स इति वैदिक्या: समाख्याया उदाहरणम्। एवमन्यान्यप्युदाहरणानि बोध्यानि।

समाख्या=यौगिक: शब्द इति ज्ञातव्यम्।

भा०—लिङ्ग आदि पाँचों प्रमाण श्रुति[२] के समान साक्षात् विनियोजक नहीं, किन्तु श्रुतिकल्पना के द्वारा लिङ्ग तथा श्रुति इन दोनों की कल्पना के द्वारा वाक्य, वाक्य-लिङ्ग-श्रुति-इन तीनों की कल्पना के द्वारा प्रकरण, प्रकरण-वाक्य-लिङ्ग श्रुति इन चारों की कल्पना के द्वारा स्थान, स्थान-प्रकरण-वाक्य-लिङ्ग और श्रुति इन पाँचों की कल्पना के द्वारा समाख्या रूप छठवाँ प्रमाण विनियोजक माना गया है। इस प्रकार की व्यवस्था होने

२. लिङ्गादिकों में कोई साक्षाद् विनियोजक शब्द नहीं होता, अतः उसकी कल्पना करनी पड़ती है। श्रुति में साक्षाद् विनियोजक शब्द होता है। अतः वह सबकी अपेक्षा बलवती है। इस कारण 'ऐन्द्र्या' लिङ्गान्नेन्द्रोपस्था-नार्थत्वम्। किन्तु 'ऐन्द्र्या गार्हपत्योपस्थानार्थत्वम्।'

लिङ्गं वाक्यादिभ्यो बलवत्। अत एव 'स्योनं ते सदनं कृणोमि' इति मन्त्रस्य पुरोडाशसदनकरणाङ्गत्वम्, सदनं कृणोमीति लिङ्गात्, न तु वाक्यात्। समभिहारो वाक्यम्। तदिदं वाक्यं प्रकरणादिभ्यो बलवत्। अत एव 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादेरेकवाक्यत्वाद् दर्शाङ्गत्वम्, न तु प्रकरणाद् दर्शपूर्णमा-साङ्गत्वम्।

उभयाकाङ्क्षाप्रकरणाम्। अत एव 'समिधो यजति' इत्यादि प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्। इदञ्च प्रकरणं स्थानादिभ्यो बलवत्। अत एव 'अक्षैर्दीव्यति, राजन्यं जिनाति' इति देवनादयो धर्मा अभिषेचनीयसंनिधौ पठिता अपि स्थानान्न तदङ्गम्, किन्तु प्रकरणाद् राजसूयाङ्गमिति।

देशसामान्यं स्थानम्। तद् द्विविधम्। पाठसादेश्यमनुष्ठानसादेश्यञ्चेति। पाठसादेश्यमपि द्विविधम्। यथासङ्ख्यपाठः, सन्निधिपाठश्चेति। तत्र यथा-संख्यपाठस्योदाहरणम्—'ऐन्द्राग्नमेकादशकपाल निर्वपेत्' 'वैश्वानरं द्वादशक-पालं निपेद्' इत्येवं क्रमविहितेषु 'इन्द्राग्नी रोचनादिव' इत्यादीनां याज्यानु-वाक्यामन्त्राणां यथासङ्ख्यं प्रथमस्य प्रथमम्, द्वितीयस्य द्वितीयमित्येवंरूपो विनियोगो यथासङ्ख्यपाठात्। सन्निधिपाठस्योदाहरणम्—वैकृताङ्गानां प्राकृताङ्गानुवादेन विहितानां संदंशपतितानां विकृत्यर्थत्वं सन्निधिपाठात्, यथा आमनहोमानाम्। अनुष्ठनसादेश्यस्योदाहरणम्—पशुधर्माणामग्नीषोमीयार्थ-त्वमनुष्ठानसादेश्यात्।

तच्च स्थानं समाख्यातः प्रबलम्। अत एव शुन्धनमन्त्रः सान्नाय्यापात्राङ्गम्, पाठसादेश्यात्, न तु पौरोडाशिकमिति समाख्या पुरोडाशपात्राङ्गम्।

समाख्या यौगिकः शब्दः। सा च द्विविधा। वैदिकी लौकिकी च। तत्र होतुश्चमसभक्षणाङ्गत्वम्, होतृचमस इति वैदिक्या समाख्यया। आध्वर्यवम्इति लौकिक्या समाख्यया अध्वर्योस्तत्तत्पदार्थाङ्गत्वम्।

से, जिसकी अपेक्षा जिसके विनियोजक होने में विलम्ब होता है, उसकी अपेक्षा वह निर्बल होता है। अतः प्रबल के लिये आदर का नियम होने से वह आदरणीय होता है। इस कारण इनके क्वचित् कदाचित् एक स्थान में इकट्ठे होने पर पूर्वोक्त कथानानुसार व्यवस्था होनी चाहिये। यह समाख्या दो प्रकार की होती है। अर्थात् लौकिकी और वैदिकी होती है। यौगिक पद को समाख्या कहते हैं।

सं०—बारह उपसद्-संज्ञक होने का निरूपण करते हैं।

**पू०प०—अहीनो वा प्रकरणाद् गौणः ॥ १५ ॥**

प०क्र०—(वा) शब्द का पूर्वपक्ष के लिये प्रयोग है। (अहीनः) 'अहीन' (गौणः) ज्योतिष्टोम-याग की गौण संज्ञा है। क्योंकि (प्रकरणात्) प्रकरण में उसका पाठ है।

भा०—अतः यह नियम है—कि जिसके प्रकरण में जिसका विधान हो, वह उसी प्रकरण का अङ्ग समझना चाहिये। यहाँ पर ज्योतिष्टोम का प्रकरण है। क्योंकि कहा है-कि 'एकेनाह्ना साध्यत्वात् साह्नो ज्योतिष्टोमः' अर्थात् एक दिन में ज्योतिष्टोम होता है। अतः उसकी 'साह्नसंज्ञा' है। परन्तु इस गौण संज्ञा (नाम) का यह भाव है-कि ज्योतिष्टोम (अहीन) अर्थात् फल तथा अङ्ग से रहित नहीं होता। अथवा सवर्ग, पूर्ण एवं फलसहित को 'अहीन' कहा जाता है। अतः यह (अहीन) भी उस याग का गौण संज्ञा होती है। और इसी कारण ज्योतिष्टोम-याग में [1]द्वादश-'उपसद्', और तीन उपसद्—इन दोनों का विधान माना गया है। अभिप्राय यह है-कि किसी ज्योतिष्टोम में तीन और किसी में बारह ऐसा विकल्प मानकर दोनों का विधान माना है। अतः तीन 'उपसद्' का विधान होने से और पुनः बारह 'उपसद्' होमों का विधान होने से वह द्वादश भी अहीन नामक ज्योतिष्टोमयाग का ही अनुवाद-रूप अङ्ग है, न कि 'अहीन' नामक किसी यज्ञविशेष का।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान यह है।

**उ०प०—असंयोगात्तु मुख्यस्य तस्मादपकृष्येत ॥ १६ ॥**

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष के हटाने के लिये प्रयुक्त किया है। (तस्मात्) ज्योतिष्टोम-याग से भिन्न, कई दिन में पूर्ण होने वाले 'अहीन'-संज्ञक यागान्तर में (अपकृष्येत) द्वादश 'उपसद्' का अपकृर्षरूप सम्बन्ध होना ठीक है। क्योंकि (मुख्यस्य) मुख्यवृत्ति द्वारा 'अहीन' शब्द का

१. 'तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाऽहीनस्य' (तै०सं० ६।२।५।१)

(असंयोगात्) ज्योतिष्टोमयाग के साथ वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध नहीं होता।

भा०—मुख्यवृत्ति के द्वारा मुख्यार्थ का लाभ होने पर गौणी वृत्ति के द्वारा गौणार्थ की कल्पना करना ठीक नहीं होता। क्योंकि मुख्यार्थ असंभव होने पर ही गौणार्थ की कल्पना की जाती है। और वास्तव में 'अहीन' शब्द का अहर्गण (अह:समूह) साध्य 'अहीन'-संज्ञक-यागान्तर रूप से मुख्यार्थ है। अत: उस अर्थ में जो द्वादश 'उपसद्' होमों का विधान है। वे, अहीन-शब्द से ज्योतिष्टोम-याग का अनुवाद करके उस याग के अङ्गरूप से विहित हैं। किन्तु ज्योतिष्टोमयाग से भिन्न-'अहीन' नामक यागान्तर के अङ्गरूप से विहित नहीं किये गये हैं, यही कथन ठीक हो सकता है।

सं०—अब 'कुलाय' संज्ञकादि यागों में 'प्रतिपत्' संज्ञक मन्त्रों का उत्कर्ष निरूपण करते हैं।

### १४—प्रतिपदधिकरणम्—

### सि०प०—द्वित्वबहुत्वयुक्तं वा[१] चोदनात्तस्य॥ १७॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष करके समाधान करने के लिए है। (द्वित्वबहुत्वयुक्तम्) दो अथवा अधिक यजमान-वाचक द्विवचन और बहुवचनान्तपदवाले मन्त्रों[२] को ज्योतिष्टोम से पृथक् कर 'कुलाय' आदि यज्ञ में विनियुक्त करना ठीक है। क्योंकि (तस्य) ज्योतिष्टोम में दो अथवा बहुत यजमान की (अचोदनात्) प्रेरणा अर्थात् विधि नहीं बतलाई गई है।

भा०—ज्योतिष्टोम-याग में यद्यपि दोनों मन्त्रों का 'प्रतिपत्' करना बतलाया है। तब भी उस याग में उनका अनुष्ठान नहीं हो सकता। क्योंकि दो यजमान के होने से 'एते' मन्त्र का 'प्रतिपत्' बतलाया गया है, परन्तु ज्योतिष्टोम-याग में एक ही यजमान का विधान है। एकसे अधिक यजमान हुए विना उन मन्त्रों का सम्बन्ध होना असम्भव है। उनसे पहिले 'कुलाय' संज्ञक याग में 'एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्' वाक्य से दो यजमानों का, और 'चतुर्विंशतिपरमा: सत्रमासीरन्' वाक्य से सत्र में अधिक यजमानों का उपदेश है। अत: 'युवम् मन्त्र का 'कुलाय' नामक याग में,

१. सतन्त्रवार्तिकशाबरभाष्योपेतमीमांसादर्शने (वा) इति पाठो नास्ति। का०च० प्र०मु०मु०मी० सूत्रपाठे चास्तीति देव आचार्य:।

२. 'युवं हि स्थ: स्वर्पती इति द्वयोर्यजमानयो: प्रतिपदं कुर्यात्। एते असृग्रमिन्दव इति बहुभ्यो यजमानेभ्य:' (तां०ब्रा० ६।९।१३) इति।

'एते' मन्त्र का सत्र में उत्कर्ष कर्त्तव्य है, ज्योतिष्टोम में अनुष्ठान करना ठीक नहीं।

सं०—इसमें पूर्वपक्ष करते हैं।

**पू०प०—पक्षेणार्थकृतस्येति चेत्॥ १८॥**

प०क्र०—(पक्षेण) यजमान की असमर्थता से ज्योतिष्टोम में भी (अर्थकृतस्य) अर्थ (प्रयोजन) के कारण एक अथवा दो यजमानों का होना सम्भव है। (चेत्) यदि (इति) ऐसा माना जावे, तो ठीक नहीं।

भा०—यद्यपि ज्योतिष्टोम-याग में एक ही यजमान की विधि है, परन्तु तो भी किसी कारणवश सामर्थ्यहीन होने पर एक अथवा दो यजामानों का हो जाना सम्भव है। क्योंकि यदि एक यजमान रोगी हो जावे, अथवा अन्य यजमान को बनाकर उसके द्वारा विधिसम्पादन कर सकता है। ऐसी अवस्था में दो अथवा अनेक-यजमान का हो जाना सम्भव है। इसी कारण उक्त 'प्रतिपत्' नामक दोनों मन्त्र ज्योतिष्टोम-यज्ञ में प्रयुक्त हो सकते हैं। अत: 'कुलाय' नामक यज्ञों में उस यज्ञ का 'उत्कर्ष' आवश्यक नहीं।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**सि०प०—न प्रकृतेरेकसंयोगात्॥ १९॥**

प०क्र०—(न) यह पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं। क्योंकि (प्रकृतेः) ज्योतिष्टोम-यज्ञ में (एकसंयोगात्) एक ही यजमान का विधान है।

भा०—ज्योतिष्टोम में शस्त्रविधि से एक, और प्रयोजनवश अनेक यजमान हो सकते हैं। विधिप्राप्त यजमान बली होता है। वह प्रयोजनवश प्राप्त से कभी भी नहीं बाधा जा सकता। शस्त्र में यजमान के प्रतिनिधि का निषेध पाया जाता है। क्योंकि यजमान का कोई प्रतिनिधि नहीं हो सकता। प्रथम यजमान का प्रतिनिधरूप दूसरा जो होगा, उसमें यजमानत्व-धर्म ही नहीं आ सकता। क्योंकि वह 'भृत्य' के समान कर्मसम्पादनार्थ ही होगा। इस कारण ज्योतिष्टोम में एक ही यजमान का होना शक्य है। इस कारण उक्त याग में उन मन्त्रों का विच्छेद करके कुलाय 'नामक यागों में' उनका 'उत्कर्ष' सम्बन्ध करना उचित है, न कि अनुचित।*

सं०—अब 'जाघनी' का पशुयाग में 'उत्कर्ष' निरूपण करते हैं।

---

* प्रकरणपाठ को उससे अलग करके, अन्य ऊपर के पाठ के सम्बन्ध कर देने को उत्कर्ष, और नीचे के किसी प्रकरण से सम्बन्ध करने को अपकर्ष कहते हैं।

## १५—जाघन्यधिकरणम्—

## सि०प०—जाघनी[१] चैकदेशत्वात्॥ २०॥

प०क्र०—(च) तथा (जाघनी) जाघनी का पशुयाग में उत्कर्ष रूप सम्बन्ध है। क्योंकि (एकदेशत्वात्) उक्त पशु (एकदेश) उस याग का एकदेश (अङ्ग) है।

भा०—दर्शपूर्णमास में 'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति' अर्थात् दान में दिये जाने वाले पशु की पूँछ को हाथ में पकड़कर 'पत्नीसंयाज' नामक चार घी की आहुतियाँ दी जाती हैं। उसके कारण 'पत्नी-संयाज' नामक संस्कार का विधान प्रतीत होता है। यह संस्कार संस्कार्यपदार्थ के होने पर ही सम्भव है। और जिस प्रकार संस्कार्य पुच्छ अपने अवयवी पशु में नित्य जुड़ी हुई है, उसी प्रकार यदि दर्शपूर्णमास-याग से उसका विच्छेद करके पशुयाग में उसका उत्कर्षरूप सम्बन्ध माना जाय, तो ठीक है, न कि प्रकृतयाग में। अर्थात् 'पत्नीसंयाज' नामकसंस्कार, उक्त सम्बन्ध होने पर 'जाघनी' द्वारा ही हो सकता है, न कि अलग 'जाघनी' को हाथ में लेकर आहुति देने से। वह भी प्रकृतयाग में नहीं, किन्तु पशुयाग में सम्बन्ध होने पर ही हो सकता है। अतः विधान का 'उत्कर्ष' ही मानना ठीक है।

सं०—'पत्नी-संयाज' में पूर्वपक्ष करते हैं।

## पू०प०—चोदना वा अपूर्वत्वात्॥ २१॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष का द्योतक है। (चोदना) उस वाक्य में 'पत्नीसंयाज' के अङ्गरूप से 'जाघनी' का विधान है। क्योंकि (अपूर्वत्वात्) ऐसा करने से अपूर्व अर्थ का लाभ होता है, और (एकदेश) पशुहिंसा करने से उसके अङ्ग 'जाघनी' की प्राप्ति होती है। (चेत्) यदि। (इति) ऐसा कहा जावे तो सम्मत नहीं।

भा०—'जाघनी' द्वारा देने योग्य पशु के 'पत्नीसंयाज' नामक संस्कार का विधान होने से नहीं, किन्तु वह संस्कार कर्म के लिये साधनरूप से 'जाघनी' का विधान करता है। क्योंकि उक्त संस्कार प्रथम प्राप्त होने पर भी उसका साधन जाघनी प्रथम उपलब्ध नहीं। अतः उसी के साधन का

---

सूचना—(१) जाघनी=पशोः पुच्छम्। 'जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति' अर्थात् पत्नी संयाजाख्यं कर्म जाघनीद्रव्येण कुर्यादित्यर्थः। पत्नीशब्दोऽत्राहुतिचतुष्ट-यात्मकस्य कर्मणो नामधेयैकदेशः। शबराचार्येण सूत्रमिदं पूर्वपक्षत्वेन स्वीकृतमिति देव आचार्यः।

विधान उस वाक्य में कहा गया है। यही उसकी अपूर्वता है-कि वह पूर्व प्राप्त नहीं है। और दर्शपूर्णमास-याग में प्रदेय-पशु का विधान नहीं है। परन्तु उसका अवयव जाघनी का मिलना कठिन नहीं। क्योंकि वह पशु हिंसा से सबको सुलभ है। और शास्त्र में कहे जाने के कारण इस 'सिद्ध हिंसा' का करना कोई पातक नहीं।*

अतः जाघनी का उत्कर्ष युक्त नहीं, किन्तु प्रकृत-याग में निवेश ही ठीक है।

सं०—इस हिंसा करने का समाधान करते हैं—कि यह क्या है!

**पू०प०—एकदेश इति चेत्॥ २२॥**

**सि०प०—न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः॥ १३॥**

प०क्र०—(न) 'जाघनी एकदेश है, वह पशुयाग में ही संभव है अतः उत्कर्ष है, ऐसा न कहकर, दर्शपूर्णमास का एकदेश मानें तो (प्रकृतेः) प्रकृत-याग (दर्शपूर्णमास) में जाघनी का सम्बन्ध मानने से (अशास्त्र-निष्पत्तेः) शास्त्र से विरोध होगा, अर्थात् सब शास्त्र में निषिद्ध बतलाई हुई 'हिंसा' करनी पड़ेगी।

भा०—शास्त्र में उसी पदार्थ का साधन रूप से निरूपण करते हैं, जो प्राप्त हो सकता हो। परन्तु जो अप्राप्त है और सर्वदा अनुपलब्ध है, उसका उपदेश नहीं करते। यदि पशु संस्कार के निमित्त 'जाघनी' के उद्देश्य ये 'पत्नीसंयाज' नामक संस्कार में विधान न मानें, किन्तु उक्त कर्म की सिद्धि-मात्र के लिये ही जाघनी का साधनरूप से विधान स्वीकार करें, तो उक्त कर्म (दर्शपूर्णमासादि) के सम्पादार्थ हिंसा करनी पड़ती है। जिसका कि शास्त्र में निषेध का उल्लङ्घन करके 'जाघनी' की पूर्ति के लिये हिंसा

---

* श्रीशंकराचार्यजी ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कदाचित् इसी पूर्वपक्ष के आधार पर करने का धोखा खाया है। आधुनिक टीकाकारों ने तो हद कर दी है। यहां तक लिख दिया-कि दर्शपूर्णमास में पशु के न होने पर वह 'जाघनी' मूल्य अथवा पशु-हिंसा से सम्पादनीय है। यह पङ्क्ति उनके शब्दों में इस प्रकार है। 'जाघनीशब्देन पशोर्भागोऽभि-धीयते स च दर्शपूर्णमा-सयोः पशुयागत्वाभावेऽपि क्रयादिना सम्पादयितुं शक्यते' (जै०न्या०मा० टीकायाम्)। 'सा सम्भवति दर्शपूर्णमासयोः क्रीत्याऽप्यानीयमाना'। अस्य सूत्रस्य शाबरभाष्ये इस जाघनी का उत्कर्ष बड़े समारोह से समर्थित है, जो कि सर्वथा त्याज्य है।

करना महान् अनर्थ है। क्योंकि याग का 'अध्वर=हिंसात्याग=अहिंसा कर्म' नाम है।

सं०—'सन्तर्दन' का ज्योतिष्टोम-याग की संस्थाभूत 'उक्थ्य' आदि यागों में उत्कर्ष निरूपण करने के लिये पूर्वपक्ष का निरूपण किया जाता है।

**पू०प०—सन्तर्दनं प्रकृतौ क्रयणवदनर्थलोपात्स्यात्॥ २४॥**

प०क्र०—(सन्तर्दनम्) सन्तर्दन का (प्रकृतौ) अग्निष्टोम में (स्यात्) मिला हुआ पाठ है। क्योंकि (अनर्थलोपात्) ऐसा मानने से वाक्यार्थ का लोप नहीं होता। और (क्रयणवत्) सोम मोल लेने के साधन स्वर्ण तथा गौ आदि के समान उसका विधान सम्भव है।

भा०—जैसे ज्योतिष्टोमयागप्रकरण में 'दीर्घसोमे सन्तृद्यात्[1] धृत्यै' इति अर्थात् '[2]दीर्घसोम' नामक याग में सोम पीसने की दोनों सिलों को किसी से जोड़ ले—यह वाक्य है। इस वाक्य में 'सन्तर्दन' उसको कहते हैं, जिसका कि ज्योतिष्टोमयाग की संस्थाभूत 'उक्थ्य' आदि संस्थाओं के प्रकृतिभूत अग्निष्टोम में सन्निविष्ट है। क्योंकि ज्योतिष्टोम की उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, आप्तोर्याम, वाजपेय, यह सात संस्था हैं। इनमें ६ विकृतियाँ हैं, तथा एक ज्योतिष्टोम है। ये सातों एक सी संस्था हैं, इत्यादि-ऐसी शङ्काओं को दूर करने के लिये यह पूर्वपक्ष है—कि ज्योतिष्टोम-याग में सातों संस्थाओं के बीच में अग्निष्टोम ही मुख्य है। क्योंकि वह प्रकृति है, शेष विकृतियाँ हैं। और सोम पीसने की सिलें ज्योतिष्टोम की 'हनू[3]' है। यह दोनों जुड़ी नहीं होतीं। अतः यह भी 'सन्तर्दन' में नहीं आती। इस कारण सन्तर्दन का निषेध पाया जाता है। परन्तु वह भी सर्वथा निषेध नहीं। क्योंकि 'हिरण्येन' क्रीणाति, गवा क्रीणाति'-सुवर्ण अथवा गौ से सोम को मोल ले। इस वाक्य से विकल्प मिलता है। अतः 'सन्तर्दन' कथन के अभिप्रायका अग्निष्टोमरूप प्रकृति में ही निवेश है, न कि 'उक्थ्य' आदि विकृति में उसका 'उत्कर्ष' है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान यह है।

---

१. तै०सं० ६। २। ११ भित्त्वा संघातयेदित्यर्थः।

२. सोमयागविशेषो दीर्घसोमः।

३. 'हनू' वा एते यस्य यदधिषवणे न सन्तृणत्ति, असन्तृण्णे हि हनू' (तै०सं० ६। २। ११) इति देव आचार्यः।

## सि०प०—उत्कर्षो वा ग्रहणाद्विशेषस्य ॥ २५ ॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष का खण्डन करता है। (उत्कर्षः) 'अग्निष्टोम' प्रकृति में सन्तर्दन का उत्कर्ष माना है। क्योंकि (विशेषस्य) उस वाक्य में ज्योतिष्टोम का दीर्घसोमरूप विशेषण (ग्रहणात्) माना गया है।

भा०—'दीर्घसोमे सन्तृद्यात् धृत्यै' इस वाक्यस्थ 'दीर्घसोम' पद में षष्ठीतत्पुरुष-समास नहीं, किन्तु 'दीर्घश्चासौ सोमः, दीर्घसोमः (ज्योतिष्टोमः) तस्मिन् दीर्घसोमे' इस प्रकार कर्मधारयसमास है। जो कि उस पूर्व (तत्पुरुष) की अपेक्षा बलवान् है। ग्रहों की अधिकता से पुनः आवृत्ति के कारण वह दीर्घसोम कहा जाता है। परन्तु अग्निष्टोम में यह कुछ नहीं होता। किन्तु उक्थ्य में यह सब होने के कारण यह अर्थ ठीक बैठ सकता है। अतः यह स्पष्ट है—कि दीर्घसोम 'उक्थ्य' का ही वाचक है, न कि अग्निष्टोम का। इस कारण सन्तर्दन का 'उक्थ्य' में उत्कर्ष मानना ठीक नहीं है, अग्निष्टोम में ही उत्कर्ष मानना चाहिये।

सं०—पुनः पूर्वपक्ष किया जाता है।

## पू०प०—कर्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ २६ ॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष का द्योतक है। (कर्तृतः) यजमान के सम्बन्ध से ही 'दीर्घसोम' शब्द ज्योतिष्टोम-याग का विशेषण है। क्योंकि (विशेषस्य) दीर्घ शब्द (तन्नितितत्वात्) यजमान निमित्तक है, अर्थात् दीर्घस्य यजमानस्य सोमो दीर्घसोम इति।

भा०—जिस यज्ञ में यजमान अधिक समय तक कर्म में नियुक्त रहता है, वही यज्ञ 'दीर्घसोम' कहलाता है। और यजामान के ही अभिप्राय से ज्योतिष्टोम को भी 'दीर्घसोम' कहा गया है। अतः 'सन्तर्दन' का ज्योतिष्टोम में निवेश ठीक है, न कि 'उक्थ्य' में उसका 'उत्कर्ष' सम्भव है। परन्तु उन्होंने मनुस्मृति के अ० ५ श्लोक ४५ की अर्थसंगति का कोई ध्यान सम्मुख नहीं रक्खा। जहाँ कि यह लिखा है कि—

**योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।**
**सजीवँश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते॥**

अपने सुख के लिये हिंसा करने वाला इस जन्म और पर जन्म में कहीं भी सुखलाभ नहीं कर सकता। यजुर्वेद के प्रथम तथा तेरहवें अध्याय में 'पशून् पाहि' पशुओं की रक्षा करो 'गां मा हिंसीः' अर्थात् गौ अवध्या है। 'अजां मा हिंसीः' 'अविं मा हिंसीः' 'इमं मा हिंसीर्द्विपादपशुम्' 'मा

हिंसीरेकशफं पशुम्' अर्थात् गौ, बकरी, दो पाँववाले, एकखुरवाले सम्पूर्ण पशु ऊँट आदि हिंसा का निषेध है। ब्राह्मणग्रन्थों में 'मा हिंस्यात्सर्वभूतानि' आदि उपदेश है। उन सबकी उपेक्षा करके लिखना कहाँ तक आचार्य-चरण को उचित था। शबर-स्वामी जो इस मीमांसा के लब्धप्रतिष्ठ भाष्यकार हैं, वे 'चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः' इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—कि 'हिंसा च प्रतिषिद्धा' इति, अर्थात् सब वेदों में हिंसा का प्रतिषेध किया गया है।' इसी प्रकार महर्षि व्यास ने योगभाष्य करते हुए लिखा है कि—

**'हिंसकः प्रथमन्तावदवध्यस्य वीर्यमाक्षिपति ततः शस्त्रा-दिनिपातेन दुःखयति, ततो जीवितादपि मोचयति*****यदि च कथञ्चित् पुण्यादपगता हिंसा भवेत् तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति'**

इसका अभिप्राय यह है—कि उन्होंने हिंसा का सर्वथा निषेध माना है। पशुहिंसक टीकाकारों ने शुद्ध पवित्र वैदिकयाग की वह दुर्दशा की, जिससे कि बौद्ध और जैनधर्म को, तथा यवनों के अत्याचार रोकने के लिये सिक्ख जैसे धर्म को जन्म लेना पड़ा। उसी के समान अपना-अपना शासन स्थापित करना पड़ा। ये 'सत्याग्रह' अत्याचार रोकने के ही निमित्त हुए। अन्यथा इतना विरोध न बढ़ता। परम पिता ने तो वेदों में 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' यजुर्वेद अध्याय ३६। १८। में कहा था, उसे भूलना बड़ी भूल है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है।

**उ०प०—क्रतुतो वाऽर्थवादानुपपत्तेः स्यात्॥ २७॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के परिहार के निमित्त आया है। (क्रतुतः) यागसम्बन्धेन दीर्घ विशेषण मानना ठीक (स्यात्) है। ऐसा मानने से (अर्थवादानुपपत्तेः) 'धृत्यै' शब्द से 'सन्तर्दन' का सोमधारणरूप जो कथित फल है, वह नहीं बनता।

भा०—सन्तर्दन का विधान उसके फल के लिए है। इससे सिद्ध है—कि 'दीर्घसोम' यह ज्योतिष्टोम का विशेषण है, न कि यजमान से उसका सम्बन्ध है। प्रत्युत दीर्घकाल में होनेवाले याग से सम्बन्ध है। और दीर्घकाल में 'उक्थ्य' आदि ही अनुष्ठान पाया जाता है, न कि अग्निष्टोम का। अतः 'सन्तर्दन' का 'उक्थ्य' आदि में उत्कर्ष होना सम्भव है, अग्निष्टोम में निवेश ठीक नहीं।

सं०—इस अर्थ में सन्देह करते हैं।

**पू०प०—संस्थाश्च कर्तृवद्धारणार्थाविशेषात्॥ २८॥**

प०क्र०—(च) शब्द 'तु' शब्द के स्थान में है, और वह शङ्का द्योतक है। (कर्तृवत्) जैसे ज्योतिष्टोम के कर्त्ता का सब संस्थाओं में निवेश है, उसी प्रकार (संस्थाः) सन्तर्दन का भी सब संस्थाओं 'में निवेश होना ठीक है। क्योंकि (धारणार्थाविशेषात्) सोमधारण सब में एक सा ही है।

भा०—ज्योतिष्टोम की सात संस्थायें पूर्व कही जा चुकी हैं। सब सोम कूटना बतलाया है। यह कूटना धारण से ही बनता है। वह धारण 'सन्तर्दन' के आश्रित है। अतः ज्योतिष्टोम करनेवाले कर्त्ता के समान 'सन्तर्दन' का भी अग्निष्टोम आदि संस्थाओं में निवेश होना योग्य है, न कि 'उक्थ्य' आदि में।

सं०—इसका समाधान यह है।

**उ०प०—उक्थ्यादिषु वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात्॥ २९॥**

प०क्र०—(वा) शब्द का शङ्का के समाधानार्थ प्रयोग है। (उक्थ्यादिषु) उक्थ्य में ही सन्तर्दन का सम्बन्ध मानना ठीक है। क्योंकि (अर्थस्य) उसमें 'सन्तर्दन' का फल (विद्यमानत्वात्) विद्यमान है।

भा०—ज्योतिष्टोम की सब संस्थायें समान, और उन सब में सोम कुटता है। पुनरपि अग्निष्टोम की अपेक्षा 'उक्थ्य' आदि में उसे बारम्बार करने के कारण समय लगता है। अतः अभ्यास और ग्रह बढ़ जाते हैं। इस कारण सोम भी अधिक कूटा जाता है। इसलिये 'सन्तर्दन' का निवेश आवश्यकीय होता है। सन्तर्दन के कारण उसका फल सोमधारण भी होना ठीक ही है। अतः 'सन्तर्दन' के 'उक्थ्य' में जैसे फल देखे जाते हैं, वैसे ज्योतिष्टोम में नहीं। क्योंकि वहाँ सोम इतना नहीं होता-कि 'सन्तर्दन' की आवश्यकता पड़े। अतः उसका (उक्थ्य) आदि में ही निवेश है, न कि अग्निष्टोम में।

सं०—पुनः आशङ्का उठाते हैं किः—

**पू०प०—अविशेषात्स्तुतिर्व्यर्थेति चेत्॥ ३०॥**

प०क्र०—(स्तुतिः) उक्थ्यादि की दीर्घसोमरूप से प्रशंसा (व्यर्था) वृथा है। क्योंकि (अविशेषात्) अग्निष्टोम की सब संस्थाओं में सोम एकसा है। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो, तो ठीक नहीं।

भा०—ज्योतिष्टोम की सब संस्थायें एक समान हैं। उनके बीच में किसी में सोम कम और किसी में अधिक नहीं कह सकते। अतः सब में

सोम बराबर-बराबर होने के कारण सन्तर्दन का प्रयोग भी एकसा ही होता है। इस कारण केवल 'उक्थ्य' आदि में ही निवेश मानना ठीक नहीं, किन्तु उक्थ्य आदि के समान अग्निष्टोम में भी निवेश मानना चाहिये।

सं०—उस शङ्का समाधान करते हैं।

**स्यादनित्यत्वात्॥ ३१॥**

प०क्र०—(स्यात्) 'उक्थ्य' आदि में सोम अधिक होता है क्योंकि (अनित्यत्वात्) दश मुट्ठी परिमाण का विधान करने वाला शास्त्र अनित्य है।

भा०—यद्यपि प्रकृति में स्थित सोम का ही विकृति में अतिदेश है। तब भी उक्थ्य आदि में सोम का अधिक होना सम्भव है। क्योंकि 'दश मुट्ठी परिमाण' के विधायक शास्त्र का अपवाद होने से वह अनित्य सिद्ध होता है। इस कारण ' 'उक्थ्य आदि में सोम का भी आधिक्य निश्चत है। अतः स्तुति व्यर्थ नहीं। इस कारण यही मानना समीचीन है, कि ' 'सन्तर्दन का 'उक्थ्य' आदि में उत्कर्ष होता है, अग्निष्टोम में निवेश नहीं है।

सं०—'प्रवर्ग्य' संज्ञक कर्म का प्रथमप्रयोग में निषेधपूर्वक निवेश निरूपण करते हैं।

**१७—प्रवर्ग्याधिकरणम्—**

**पू०प०—संख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात्स्यात्॥ ३२॥**

प०क्र०—(संख्यायुक्तम्) संख्यावाची प्रथमपदवाला वाक्य (क्रतोः) ज्योतिष्टोम-याग-सम्बन्धी 'प्रवर्ग्य' संज्ञक कर्म का निषेध करनेवाला (स्यात्) है। क्योंकि (प्रकरणात्) उक्त प्रकरण उसका पाठ है।

भा०—'न प्रथमयज्ञे प्रवृज्ज्यात्' ज्योतिष्टोमयागप्रकरण में पठित इस वाक्य से प्रथमयज्ञ में 'प्रवर्ग्य-संज्ञक' कर्म न करे। और 'एष[१] वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः' अर्थात् सब यज्ञों में ज्योतिष्टोम प्रथम यज्ञ है। इस वाक्य द्वारा ज्योतिष्टोम प्रथम याग पाया जाता है। अतः उस निषेध का प्रथमपदवाची ज्योतिष्टोममात्र में निवेश होना उचित है, न कि ज्योतिष्टोममात्र के अग्निष्टोम-सम्बन्धी प्रथम-प्रयोग में।

सं०—इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है।

---

सूचना—(१)—तां०ब्रा० १६।१।२।

## उ०प०—नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिङ्गस्य तन्निमित्तत्वात्॥ ३३॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है। (कर्तृसंयोगात्) कर्त्ता की प्रथम प्रवृत्ति के लिये (नैमित्तिकम्) ज्योतिष्टोम का 'प्रथम-यज्ञ' नाम कहा गया है। क्योंकि (लिङ्गस्य) प्रथम द्वितीय आदि लोकव्यवहार में (तन्निमित्तत्वात्) कर्त्ता की प्रथम प्रवृत्ति आदि के लिये देखा जाता है।

भा०—पहिला दूसरा अथवा तीसरा आदि कहना, वस्तुतः कार्य की आवृत्ति में मुख्यरूप से देखा जाता है। कर्मसाध्य वस्तु में उसका लोकाचार से प्रयोग होता है। जैसे लोक और वेद में पूर्व अध्ययन होने से प्रथम अथवा द्वितीय काण्ड संज्ञा होती है। इसी प्रकार ज्योतिष्टोम में आवृत्तिभेद से प्रथम तथा द्वितीय यज्ञ आदि कथन है। इससे सिद्ध हुआ कि ज्योतिष्टोम की प्रथम आवृत्ति में 'प्रवर्ग्य' नामक कर्म का निषेध है, न कि ज्योतिष्टोम के प्रयोगमात्र में। अतः उस निषेध का निवेश ज्योतिष्टोमयाग के प्रथमप्रयोग में है, न कि सर्वत्र ज्योतिष्टोम में।

सं०—'पौष्णपेषण' का विकृति-यज्ञ में विनियोग निरूपण करते हैं।

## १८—पौष्णपेषणस्य विकृतौ विनियोगाधिकरणम्—

## सि०प०—पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेताऽचोदनात्प्रकृतौ॥ ३४॥

प०क्र०—(पौष्णाम्) पुष्टिकारक-परमात्मा-निमित्तक सब प्रदेयपदार्थों (पेषणम्) को पीसकर उनका प्रदान करने का विधान (विकृतौ) पूषा देवता के विकृतियाग में (प्रतीयेत) मानना चाहिये। क्योंकि (प्रकृतौ) दर्शपूर्णमासयाग में (अचोदनात्) पूषा देवता की विधि नहीं पाई जाती।

भा०—दर्शपूर्णमासयागप्रकरण में 'तस्मात्पूषा[1] प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' यह वाक्य पढ़ा है। वाक्य में पूषा परमात्मा के निमित्त पिसे हुए प्रदान का विधान है। उस दर्शपूर्णमासका रूप प्रकृतियाग में मिला है, अथवा

---

सूचना—(१) तै०सं० २।६।८ इति देवः।

'तत् पूष्णे पर्यहरन्, तत् पूषा प्राश्य दतोऽरुणात् (तै०सं० २।६।८)' तत् प्राशित्राख्यं हविःशेषभागं पूष्णेऽदुः। स च पूषा तं भागं दन्तैः खादन्नभक्षयत्। तेनैव पूष्णो दन्ता अपतन्। तस्मात् कारणात् पूषा प्रपिष्टभागः सम्पन्नः, प्रपिष्टो भागो यस्य सः, प्रपिष्टभाग इति वाक्यार्थ इति देव आचार्यः।

पौष्णं चरुम् में। उस प्रकृति-याग में पूष (परमात्मा) के निमित्त किसी पदार्थ के देने का विधान नहीं। उसमें तो दातव्य पदार्थ का पीसकर देने का कथन है। और दूसरे वाक्य से विधान किया गया पूषा, तत्सम्बन्धी विकृति-याग में चरु आदि देने में है। अत: पेषण उस विकृतियाग में ही सम्बद्ध है, प्रकृति में नहीं।

सं०—पेषण केवल चरु में सम्बद्ध है, यह बतलाते हैं।

**१९—पेषस्य चरावेव निवेशाधिकरणम्—**

**पू०प०—तत्सर्वार्थमविशेषात्॥ ३५॥**

प०क्र०—(तत्) वह (पेषण) (सर्वार्थम्) परमात्मा के निमित्त प्रदेय पदार्थों में सम्बन्द्ध होना चाहिये। क्योंकि (अविशेषात्) उनका विधान समानरूप से है।

भा०—विशेषनियम के लिये जैसे विशेष नियामक की आवश्यकता होती है, एवं पीसना बतलाने वाले वाक्यों से इस प्रकार की कोई विशेषता नहीं आती। जिससे कि प्रदेयद्रव्यों में किसी एक द्रव्य के पीसने के विनियोग का नियम माना जाय। अत: पहिले अधिकरण के अनुसार विकृतियाग में विनियुक्त हुये 'पेषण' का पूषा के निमित्त प्रदेय चरु, पशु पुरोहित इन द्रव्यों में विनियोग है, न केवल 'चरु' में।

सं०—इस का समाधान करते हैं।

**उ०प०—चरौ वाऽर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात् पशौ न स्यात्॥ ३६॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है। (चरौ) केवल चरु में उस पेषण का सम्बन्ध है, सर्वत्र नहीं। (पुरोडाशे) पुरोडाश में (अर्थोक्तम्) वह पूर्व अर्थ से सम्बद्ध है। और (अर्थविप्रतिषेधात्) पीसने रूप अर्थ का असम्भव होने से (पशौ) पशु में (न स्यात्) वह स्वयं नहीं होता।

भा०—पशुपेषण आर्थात् (पीसने योग्य) नहीं, और जिस योग्य जो नहीं, उसका सम्बन्ध मानना अनुचित है। दूसरे पशु के प्रदान का शास्त्र विधान करता है, पिष्टपशु का नहीं। अत: उस पीसने का चरु में ही सम्बन्ध है, न कि चरु, पशु और पुरोडाश में।

सं०—इस अर्थ में शङ्का कहते है।

## पू०प०—चरावपीति चेत्॥ ३७॥

प०क्र०—(चरौ, अपि) चरु में भी पीसना असम्भव है। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे, तो ठीक नहीं।

भा०—जैसे पशु में पीसना अथवा उसका पीसा जाना असम्भव है। उसी प्रकार चरु का भी पेषण (पीसने) के साथ सम्बन्ध उचित नहीं। अत: चरु का भी पेषण का सम्बन्ध मानना युक्तियुक्त नहीं।

सं०—इस आशङ्का का समाधान करते हैं।

## न पक्तिनामत्वात्॥ ३८॥

प०क्र०—(न) पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं। क्योंकि (पक्तिनामत्वात्) पके भात को चरु कहते हैं।

भा०—चरु उस भात को कहते हैं जो कि—मिट्टी की हंडिया में पकाया जाय, और उसका मांड न निकाला जावे। उसका पेषण के साथ सम्बन्ध नहीं है। परन्तु पशु में पेषण के सम्बन्ध के समान उसका निवेश अर्थात् सम्बन्ध भी असम्भव नहीं है। अत: चरु में ही पेषण का निवेश मानना ठीक है। पशु अथवा पुरोडाश में नहीं।

सं०—एकदेवताक यागसम्बन्धी पौष्ण-चरु में पेषण का सम्बन्ध है। दो देवताक (सौमापौष्ण) और (ऐन्द्रापौष्ण) चरु में नहीं। इसका निरूपण करते हैं।

## २०—पौष्णपेषणस्यैकदेवत्ये निवेशाधिकरणम्-

## सि०प०—एकस्मिन्नेकसंयोगात्॥ ३९॥

प०क्र०—(एकस्मिन्) एकदेवतापरक यागसम्बन्धीचरु में पेषण का निवेश है। द्विदेवतापरक यागसम्बन्धी चरु में नहीं। (एकसंयोगात्) पेषण के विधान करने वाले वाक्य से चरु के साथ-साथ एक देवता का भी सम्बन्ध मिलता है।

भा०—पेषण के विधान करने वाले वाक्य में केवल पूषा का ही पिसा भाग कथन किया है, न कि सौमपूषा अथवा इन्द्रपूषा का। इससे सिद्ध होता है—कि उस वाक्य में पिसाभाग जिसके लिए कहा है, उसी के निमित्त प्रदेयचरु में पेषण का निवेश उचित है, न कि अन्य के उद्देश्य से प्रदेय-चरु में। 'सौमापौष्ण[१]' तथा 'ऐन्द्रापौष्ण' यह दोनों चरु दूसरे के

---

सूचना (१)—'सौमापौष्णं चरुं निर्वपति, ऐन्द्रापौष्णं चरुम्' इति राजसूये श्रूयते—इति देव आचार्यः।

निमित्त से प्रदेय हैं, केवल पूषा के निमित्त से नहीं। क्योंकि द्विदेवतापरक हैं। अत: इनमें पेषण का निवेश नहीं हो सकता।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

**सि०प०सहा०—धर्मविप्रतिषेधाच्च ॥ ४० ॥**

प०क्र०—(च) और (धर्मविप्रतिषेधात्) दोनों के धर्मों का विरोध होने से भी द्विदेवतापरक चरु में पेषण का निवेश नहीं हो सकता।

भा०—जिस प्रकार ज्ञान अथवा अज्ञान परस्पर विरुद्ध होने से एक स्थान में नहीं रह सकते। उसी भाँति पूषा के भाग का धर्म पेषण, और सोमादि के भाग का धर्म अपेषण भी परस्पर विरुद्ध है। ये दोनों भी 'सौमापौष्ण' तथा 'ऐन्द्रापौष्ण' चरूरूप एकस्थान में इकट्ठे (एकत्रित) नहीं रह सकते। उनके सम्बन्ध की कल्पना निर्मूल है। अत: पेषण का एकदेवतापरक 'पौष्णचरु' में सम्बन्ध होने पर भी 'द्विदेवतापरक' 'सौमापौष्ण' तथा 'ऐन्द्रापौष्ण' चरु में नहीं हो सकता।

सं०—इसमें पूर्वपक्ष करते हैं।

**पू०प०—अपि वा सद्वितीये स्याद्देवता-निमित्तत्वात् ॥ ४१ ॥**

प०क्र०—(अपि) 'वा' ये दोनों शब्द पूर्वपक्ष के द्योतक हैं। (सद्वितीये) द्विदेवतापरक चरु में भी (स्यात्) पेषण का सम्बन्ध होना चाहिये। क्योंकि (देवतानिमित्तत्वात्) उसके निवेश का निमित्त देवता उसमें है।

भा०—निमित्त के सद्भाव से नैमित्तिक के सद्भाव का निषेध नहीं किया जा सकता। और पेषण के निमित्त पूषा देवता का यह सद्भाव दोनों चरुओं में समान है। अत: पौष्ण चरु के सदृश 'सौमापौष्ण' और 'ऐन्द्रापौष्ण' चरु में भी 'पेषण' का सम्बन्ध होना चाहिये।

सं०—उस अर्थ में लक्षण निरूपण करते हैं।

**पू०प०सहा०—लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ४२ ॥**

प०क्र०—(च) और (लिङ्गदर्शनाच्च) लक्षण देखने से भी उस अर्थ की सिद्धि होती है।

भा०—दोनों चरुरूप धर्मियों में अवच्छेदकावच्छिन्नत्वभेदेन दो परस्पर-विरुद्ध-धर्म (पेषण तथा अपेषण) का निवेश हो सकता है। अत: उस लिङ्ग के कारण 'पौष्ण' के समान 'सौमापौष्ण' और 'ऐन्द्रापौष्ण' इन दोनों स्थानों में दो देवतापरक 'चरुओं' में भी 'पेषण' का निवेश है।

सं०—'सौमापौष्णं चरुं निर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः' यह अर्धपिष्ट का विधायक है, लक्षण नहीं है। अतः इसमें अर्थसिद्धि नहीं पाई जाती है।

**पू०प०सहा०—वचनात्सर्वपेषणं तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थाभावाद् [१]द्विचरावपेषणं भवति॥ ४३॥**

प०क्र०—(वचनात्) उक्त वाक्य नेमपिष्ट का विधायक होने से (सर्वपेषणम्) पशु, पुरोडाश, और चरु-इन सब में पेषण के माने जाने से (तं प्रति) उस सर्वपेषण के प्रति (शास्त्रवत्त्वात्) वह वाक्य अर्थवाला हो सकता है। और (अर्थाभावात्) असंभव तथा फल के अभाव के कारण पशु-पुरोडाश में यदि उस पेषण को न मानें, तो (द्विचरौ) सौमापौष्ण चरु में भी (अपेषणं भवति) वह पेषण न बन सकेगा।

भा०—उक्त वाक्य पशुरूपफल के उद्देश्य से यागमात्र का विधायक है, अर्धपेषण का नहीं। क्योंकि पूषा परमात्मा के सम्बन्ध से वह पूर्व ही उपलब्ध है। और पहिले प्राप्त होने के कारण उसका विधान नहीं किया जा सकता। अतः अनुवाद मानकर लिङ्ग ही मानना समीचीन है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—एकस्मिन्वाऽर्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवदुभयोर्नस्यादचोदितत्वात्॥ ४४॥**

प०क्र०—(वा) शब्द उस पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। (ऐन्द्राग्नवत्) जैसे चार भाग करना एकदेवतापरक आग्नेय पुरोडाश में ही घटता है। और दो देवतापरक ऐन्द्राग्न पुरोडाश में नहीं घटता। उसी प्रकार (एकस्मिन्) एकदेवतापरक पौष्ण चरु में (स्यात्) ही पेषण का निवेश है, (उभयोः) दो देवतापरक 'सौमापौष्ण' और 'ऐन्द्रापौष्ण' चरु में (न) नहीं। क्योंकि (अर्थधर्मत्वात्) पिष्ट-भाग याग का धर्म अभिप्रेत है। उसका (अचोदित्वात्) 'सौमापौष्ण' आदि में विधान नहीं है।

भा०—जैसे चार भाग करना केवल आग्नेय पुरोडाश का ही धर्म है, ऐन्द्राग्न पुरोडाश का नहीं। उस प्रकार पेषण भी केवल पौष्ण-चरु का ही धर्म है, 'सौमापौष्ण' तथा 'ऐन्द्रापौष्ण' चरु का नहीं। अत एव पेषण का उन द्विदेवतापरक दोनों चरुओं में निवेश मानना अनुचित है।

---

सूचना—(१) सतन्त्रवातिकशाबरभाष्योपेतमीमांसादर्शने अत्र (हि) इत्येवं पाठो वर्तते। का०च०प्र०मु०मु० मीमांसासूत्रपाठे तु (द्वि) इत्येवं पाठोऽस्तीति देव आचार्यः।

सं०—'तस्मात्पूषा' इस वाक्यान्त में 'अदन्तको हि सः' यह शेषवाक्य आया है। इसमें पूषा को (दन्तहीन) कहा है। अतः वह प्रपिष्टभाग उसका धर्म विदित होता है।

**उ०प०सहा०—हेतुमात्रमदन्तत्वम्॥ ४५॥**

प०क्र०—(अदन्तत्वम्) उस वाक्यशेष में जो 'अदन्तत्व' कथन है। वह (हेतुमात्रम्) देवतामात्र के शरीरहीन होने में कारण जानना चाहिये।

भा०—*'अदन्तत्व' जिस प्रकार पूषा का धर्म नहीं। उसी भाँति प्रपिष्ठभाग भी उसका धर्म नहीं। किन्तु 'पूषन्' देवतावाले याग का धर्म है। एवं याग का धर्म होने से देवता के लिये पौष्ण चरु में ही पेषण का निवेश हो सकता है, द्विदेवतापरक 'सौमापौष्ण' और 'ऐन्द्रापौष्ण' चरु में नहीं। अतः उनमें उस पेषण का निवेश मानना ठीक नहीं है।

सं०—जो पूर्वोक्त लिङ्ग से निवेश सिद्धि है, वह अनुचित कैसे कही जा सकती है।

**सि०प०सहा०—वचनं परम्॥ ४६॥**

प०क्र०—(वचनम्) विधिवाक्य है। (परम्) लक्षण नहीं।

भा०—'सौमापौष्ण' वाक्यस्थ 'नेमपिष्ट' पद से पूर्वप्राप्त का अनुवाद नहीं, किन्तु 'सौमापौष्ण' चरु में नेम-पिष्टता का विधायक है। और वह प्रथम अप्राप्त होने से अपूर्व है। तथा अपूर्व अर्थ के विधान के कारण सबको मान्य है। तथा उस विधान का 'सौमापौष्ण' चरु में ही पर्यवसान होने से पूर्वोक्त दोष नहीं आता। इसके अतिरिक्त विधि-वाक्य लिङ्ग नहीं होता। अतः उसके बल से 'सौमापौष्ण' आदि द्विदेवतापरक-चरुओं में पेषण का निवेश नहीं मानना चाहिये।

**तृतीयाध्यायस्य तृतीयापादः समाप्तः।**

## अथ तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः प्रारभ्यते

सं०—'निवीतं मनुष्याणाम्' को अर्थवाद प्रतिपादन करने के निमित्त पूर्वपक्ष किया जाता है।

---

* 'अप्राणोऽतिमना शुभ्रः' इस उपनिषद् वाक्य में मन और प्राण दोनों शरीरसम्बन्धी पद हैं। उसके निषेध से शरीर का प्रतिषेध है। उसी प्रकार 'अन्दन्तक' पद में दन्त शब्द शरीरवाची है। अतः अशरीर कथन करने का भाव है।

## १ —निवीताधिकरणम्—

**पू०प० —निवीतमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधानत्वात्॥ १ ॥**

प०क्र०—(निवीतमिति मनुष्यधर्मः) निवीत यह मनुष्य सम्बन्धी कर्म का अङ्ग बताया गया है। (शब्दस्य) क्योंकि उक्त शब्द से (तत्प्रधानत्वात्) मनुष्यसम्बन्धी कर्म की प्रधानता है।

भा०—यह वाक्य जो कि दर्शपूर्णमास याग में पढ़ा गया है, कि —'निवीतं[1] मनुष्याणाम्। प्राचीनावीतं पितृणाम्। उपवीतं देवानाम्' इसमें षष्ठ्यन्त मनुष्यशब्द का निर्देश होने से उसके साथ निवीत का शेषशेषिभाव सम्बन्ध है। और वह निवीत के साथ सम्बन्ध माने बिना नहीं हो सकता। क्योंकि अविहित का शेष होना किसी शास्त्र से भी सिद्ध नहीं हो सकता। और विधायक वाक्य से विधान न मानकर उस वाक्य को केवल अर्थवाद माना जाय, तो वह वाक्य निरर्थक सिद्ध होता है। और विधिपक्ष में दोष न आने से वह अपूर्व अर्थ का विधायक होता है। अतः वह वाक्य मनुष्यसम्बन्धी कर्म के धर्म निवीत का विधायक है, न कि उपवीत-विधि का स्तुतिकर्त्ता अर्थवाद कहा जा सकता है।

सं०—इसमें आशङ्का करते हैं।

**पू०प० —अपदेशो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात्॥ २ ॥**

प०क्र०—(बा) शब्द शङ्का का द्योतक है। (अपदेशः) उक्त वाक्य अनुवादक है, न कि विधायक। क्योंकि (अर्थस्य) निवीत (विद्यमानत्वात्) पूर्व से लोक सिद्ध है।

भा०—जो वस्तु लोकसिद्ध नहीं, वह अपूर्व कही जाती है। और उसी की विधि मानी गई है, अन्य की नहीं। निवीत तो पूर्व से ही लोकप्रसिद्ध है। क्योंकि लौकिककर्म में मनुष्य निवीत धारण करते हैं। और जो लोक में देखा गया है, उसका ब्राह्मणवाक्यों में अनुवाद होना सम्भव है। अतः वह वाक्य विधिवाक्य नहीं, किन्तु पूर्वलोकसिद्ध का अनुवादक है।

---

सूचना (१)—'यत्रोभावपि बाहू न्यग्भूतौ सन्तौ ब्रह्मसूत्रेण वार्येते (..........) संवृतावाच्छादितौ क्रियेते, तन्निवीतम्। तच्च मनुष्याणां कार्येषु प्रशस्तम्।'

प्राचीनो दक्षिणो बाहुराधीयतेऽधस्तात् क्रियते यत्र, तत् प्राचीनावीतम्। तच्च पितृकर्मणि प्रशस्तम्।

दक्षिणं बाहुमूर्ध्वं धृत्वा सव्ये बाहौ लम्बमाने सति यद् वेष्टनं तद् यज्ञोपवीतम्—इति सायणाचार्याः। (जै०न्या०मा०टि० ३ आ० ४ पा०)

सं०—इस शङ्का का यह समाधान है।

**एकदेशि० उ० प०—विधिस्त्वपूर्वत्वात्स्यात्॥ ३॥**

प०क्र०—'तु' शब्द शङ्कापरिहार के लिये है। [विधि] वह विधिवाक्य [स्यात्] है। क्योंकि [अपूर्वत्वात्] निवीतरूप अर्थ अपूर्व है।

मा०—निवीत लोक सिद्ध है। परन्तु प्रथम वह नियमानुकूल लोकसिद्ध नहीं है। और पूर्व से नियमानुकूल लोकसिद्ध न होने के कारण उसका अनुवाद भी नहीं हो सकता। अत: वह वाक्य लोकसिद्धनिवीत का अनुवादक नहीं माना जा सकता। किन्तु मनुष्यकर्म में नियम से निवीत का विधान बतलानेवाला है।

सं०—इसी पूर्वपक्ष में और पूर्वपक्ष करते हैं।

### २—उपवीतस्य दर्शपूर्णमासाङ्गताधिकरणम्—

**पू०प०—स प्रायात्कर्मधर्मः स्यात्॥ ४॥**

प०क्र०—[स] वह निवीत [कर्मधर्म:] प्रकृतकर्म का अङ्ग [स्यात्] है। क्योंकि [प्रायात्] उसका उस प्रकरण में पाठ है।

भा०—मनुष्य जब दर्शपूर्णमास कर्म करे, तो निवीती होकर करे। यह उक्त वाक्य द्वारा विधान है। मनुष्य-सम्बन्धी यावत् कर्म करते समय निवीती होने का विधायक नहीं। अत: वह प्रकृतकर्म के अङ्ग निवीत का ही विधायक माना जा सकता है।

सं०—इस पूर्वपक्ष में विशेषता यह है कि—

### ३—उपवीतवाक्यस्य विधित्वाधिकरणादिकम्—

**पू०प०—वाक्यशेषत्वात्॥ ५॥**

प०क्र०—(वाक्यशेषत्वात्) उस वाक्यशेष में पढ़े गये 'आध्वर्यवम्' इस समाख्या के बल से अध्वर्यु कर्तृक प्रकृतकर्म के अङ्ग निवीत का विधान करता है, सर्वत्र नहीं।

भा०—दर्शपूर्णमासकर्म के अनुष्ठानकाल में अध्वर्यु निवीत होकर कर्म करे, यह उस वाक्य का तात्पर्य है। अत: प्रकृतकर्म के अङ्गों का विधायक होने पर भी वह सब कर्मों के अङ्गरूप 'निवीत' का विधान नहीं करता। किन्तु अध्वर्यु के किये कर्म का अङ्ग बतलाता है।

सं०—अब दूसरे पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—तत्प्रकरणे यत्तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात्॥ ६॥**

प०क्र०—(तत्) वह वाक्य (प्रकरणे) दर्शपूर्णमास कर्म के प्रकरण

में (यत्) जो मनुष्य-कर्म है। (तत्संयुक्तम्) उसके अङ्गरूप निवीत का विधायक है। अत: (अप्रतिषेधात्) उस पूर्वोक्त 'षष्ठ्यन्त' पद की सङ्गति ठीक बैठ जाती है।

भा०—दर्शपूर्णमासकर्म के प्रकरण में पढ़ा हुआ वाक्य भी उसके अङ्ग निवीत का विधान नहीं करता। न समाख्या के बल से अध्वर्यु द्वारा किये गये कर्मों के अङ्ग निवीत का ही विधायक है। तब 'मनुष्याणाम्' यह षष्ठीयुक्तवाक्य असङ्गत हो जाता है। यदि प्रकरण और समाख्या के आधार पर प्रकृत-कर्म के अङ्ग का विधायक मान लें, तो षष्ठ्यन्त-पद के असङ्गत होने से विधिवाक्य की हानि होती है। और मानुषकर्म के अङ्ग निवीत का विधान मानने से षष्ठीयुक्तपद की सङ्गति भी लग जाती है। उक्त कर्म में प्रतिपर्व करणीय श्राद्ध, दक्षिणा, दान आदि अनेक मानुष कर्म हैं, उनका ग्रहण हो जाने से प्रकरण के अनुकूल भी हो जाता है। परन्तु अध्वर्यु के करने योग्य कर्म के अङ्ग निवीत का विधायक होने से समाख्या भी घट जाती है। अत: वह वाक्य अध्वर्यु के करने योग्य प्रकृतकर्म का अङ्ग निवीत का ही विधान करता है, न कि प्रकृतकर्म के भीतर प्रतिपर्व करणीय श्राद्ध आदि मनुष्य कर्माङ्ग निवीत का विधान करता है।

सं०—पुन: पूर्वपक्ष का समर्थन करते हैं।

**पू०प०—तत्प्रधाने वा तुल्यवत्प्रसंख्यानादितरस्य तदर्थत्वात्॥ ७॥**

प०क्र०—(वा) शब्द एकदेशी समाधान के निराकरण के लिये आया है। (तत्प्रधाने) यह वाक्य मानुषप्रधान सब कर्मों में निवीतरूप अङ्गों का विधान करने वाला है। क्योंकि (तुल्यवत्प्रसंख्यानात्) उपवीत-वाक्य के समान उससे उस कर्ममात्र का बोध होने से (इतरस्य)षष्ठ्यन्त पद जो 'मनुष्याणाम्' है, वह [तदर्थत्वात्] उस अर्थ में घट जाता है, अर्थात् सङ्गत हो जाता है।

भा०—'निवीतं मनुष्याणाम्' वाक्य यावन्-मानुषकर्म के अङ्ग निवीत का विधायक है, न कि प्रकृत-सम्बन्धी मानुष कर्म के अङ्ग निवीत का। क्योंकि वाक्य ये प्रतीत अर्थ का प्रकरण और 'समाख्या' के अनुसार सङ्कोच नहीं हो सकता। अत: सिद्ध हुआ कि वह वाक्य विधि है, और निवीत का विधायक है। और मनुष्यकर्म के अङ्ग निवीत का नहीं है।

सं०—अब पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

## सि०प०— अर्थवादो वा प्रकरणात्॥ ८॥

प०क्र०—[वा] शब्द सिद्धान्त के सूचनार्थ आया है। [अर्थवादः] वह वाक्य उपवीतविधि का स्तावक अर्थवाद है। क्योंकि [प्रकराणात्] प्रकरण से ही जाना जाता है।

भा०—निवीत मनुष्यकर्म के तथा प्राचीनवीत पितृकर्म के योग्य है। इस प्रकार स्तावक होने से 'निवीत' वाक्य अर्थवाद हो सकता है। अतः उसको विधि न मानना ही ठीक है। अर्थात् वह वाक्य अर्थवाद है, विधि नहीं।

सं०—उक्त अर्थ में युक्ति देतें हैं।

## विधिना चैकवाक्यत्वात्॥ ९॥

प०क्र०—[च] तथा [विधिना] उपवीतविधिवाक्य के साथ [एकवाक्यत्वात्] वाक्य की एकवाक्यता प्राप्त होने से वह अर्थ नहीं मिलता।

भा०—जो वाक्य परस्पर आकाङ्क्षावाले होते हैं उन्हीं की एकवाक्यता होती है, निराकाङ्क्ष वाक्यों की नहीं। विधिवाक्य को विधयस्तुति की, और अर्थवादवाक्य को फल की इच्छा होने से, दोनों वाक्य परस्पर आकाङ्क्षावाले हैं। अतः एकवाक्यता भी हो जाती है। परन्तु विधि पक्ष में वाक्य के निराकाङ्स होने से एकवाक्यता नहीं रहती। अतः परस्पर सम्बन्ध न होने से वह वाक्य विधि नहीं, किन्तु अर्थवाद है।

सं०—'दिग्विभाग' अर्थवाद है, इसका निरूपण करते हैं।

## सि०प०—दिग्विभागश्च तद्वत्सम्बन्धस्यार्थहेतुत्वात्॥ १०॥

प०क्र०—[च] तथा [तद्वत] निवीत के समान दिग्विभाग भी अर्थवाद है। क्योंकि [सम्बन्धस्य] वह दिक्सम्बन्ध [अर्थहेतुत्वात्] अर्थ का हेतु है, यह प्रसिद्ध है।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में '[1]प्राचीनवंशं करोति*' प्राचीनवंश नामक

सूचना (१) ज्योतिष्टोमे श्रूयते—'प्राचीनवंशं करोति', देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त। प्राचीं देवाः, दक्षिणां पितरः, प्रतीचीं मनुष्याः, उदीचीं रुद्राः। यत् प्राचीनवंशं करोति देवलोकमेव तद् यजमान उपावर्तते, तै०सं० ६।१।१।—इति देव आचार्यः।

* यज्ञभूमि के पश्चिमभाग में दश अथवा द्वादश अलि (वल्लिओं) का चौकोर मण्डप बनाया जाता है। जिसके बीच में 'बल्ल' नामक बाँस का सिरा पूर्व दिशा की ओर रखा जाता है, इसी को 'प्राचीन वंश' कहते हैं। इस मण्डप

मण्डप और उसका विधान करके 'देवमनुष्याः दिशो व्यभजन्त। प्राचीं देवाः, दिक्षणां पितरः, प्रतीचीं मनुष्याः, उदीचीं रुद्राः' से विभाग किया जाता है। अब इस वाक्य में जो 'व्यभजन्त' क्रियापद है। उससे वैदिकों के पूर्वाचार का सङ्केत मिलता है, कि प्राचीनवंश मण्डप में यजमान की दीक्षा के समय ऋत्विगादि दिशाविभागपूर्वक बैठते थे। यह प्राचीनवंश मण्डप विधि अर्थवाद की आकाङ्क्षा रखता है। क्योंकि विना उसके उसमें सन्देहरहित [असंदिग्ध] रुचि नहीं होती। और 'व्यभजन्त' पद के आधार से विधि की कल्पना करने में गौरव आता है। अतः निवीत वाक्य के समान वह वाक्य भी अर्थवाद है।

स०—परुषिदित आदि अर्थवाद हैं, इसका निरूपण करते हैं।

**७—परुषिदिताद्यधिकरणम्—**

**सि०प०—परुषिदितपूर्णघृतविदग्धं च तद्वत्॥ ११॥**

प०क्र०—[च] और [तद्वत्] निवीत के समान ही [परुषिदित, पूर्णघृत, विदग्धम्] परुषिदित, पूर्ण, घृत और विदग्ध यह चारों अर्थवाद हैं।

भा०—दर्शपूर्णमास के अन्तर्गत पिण्डपितृयज्ञप्रकरण में 'यत्परुषिदितं तद्देवानाम्, यदन्तरा तन्मनुष्याणाम्, यत्समूलं तत्पितृणाम्, समूलं बर्हिर्भवति व्यावृत्त्यै' तै० ब्रा १।६।८। ये विधिवाक्य हैं। यहां यह भाव है—कि जैसे निवीतवाक्य अपने पास उपवीतविधि का स्तावक अर्थवाद है और उपवीत के करने में उसका प्रयोजन है। उसी भाँति 'पुरुषिदित' आदि वाक्य भी स्वसन्निहित 'समूलदित' आदि विधियों के स्तावक रूप अर्थवादवाक्य हैं, विधि नहीं।

सं०—अनृतनिषेध की विधि का निरूपण करते हैं।

**पू०प०—अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः स्यात्॥ १२॥**

प०क्र०—[क्रतुसंयुक्तम्] दर्शपूर्णमास में कथित [अकर्म] अनृत-

---

में चार द्वार होते हैं। और यहीं यजमान को यज्ञदीक्षा दी जाती है। इसमें यजमान, यजमानपत्नी तथा ऋत्विजों के सिवाय अन्य मनुष्यों को भी बैठाया जाता है। पूर्व की ओर देव (तपस्वी, विद्वान्, वेदज्ञ), दक्षिण की ओर पितर (अग्निहोत्र, अश्वमेध पर्यन्त पूर्णकर्मकर्त्ता पितामह, पिता वृद्धपुरुष आदि)। पश्चिम की ओर मनुष्य (आर्यगण), उत्तर की ओर रुद्र (यज्ञरक्षक भृत्य आदि) बैठे तथा खड़े रहते हैं।

निषेध [नित्यानुवादः] नित्यप्राप्त का अनुवाद [स्यात्] है। क्योंकि [संयोगात्] निषेध का वाक्यान्तर से विधान है।

भा०—दर्शपूर्णमास में 'नानृतं' वेदत् इस वाक्य के पढ़े जाने से अनृतभाषणनिषेध का अनुवाद किया गया है। उक्त वाक्य में कर्तृवाची 'वेदत्' इस आख्यात पद का प्रयोग किया गया है। इसके साथ, न तथा अनृत पद का सम्बन्ध होने से अनृतभाषणनिषेध कर्त्ता का धर्म स्पष्ट है। क्योंकि वह उपनयन काल से ही 'सत्यं वद' 'धर्मं चर' आदि कर्मों का अनुष्ठान करे—ऐसा विधान है। अतः नित्यप्राप्त पुरुष के धर्म-अनृतभाषण-निषेध का अनुवादक है। प्रकृतयाग के अङ्गरूप निषेध का विधायक नहीं।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—विधिर्वा संयोगान्तरात्॥ १३॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के परिहार के लिये आया है। (विधिः) निषेधवाक्य विधिरूप (विधायक) है, अनुवादक नहीं। क्योंकि (संयोगान्तरात्) उद्देश्यभेद से दोनों वाक्यों का भेद है।

भा०—'सत्यं वद' वाक्य सत्यभाषण को पुरुष का धर्म बतलाता है और 'नानृतं वेदत्' यह वाक्य तै० सं० २।५।५।६। अनृतभाषण का निषेध करता है, और प्रकृतयाग का धर्म बतलाता है—कि अनुष्ठानकाल में अनृतभाषण न करे। इसमें 'प्रत्यवायी और यागविगुण' होने का भय है। प्रत्यवायी होने से भावी अनिष्टप्राप्ति, और विगुणहोना यागफल की अप्राप्ति है। अतः दोनों वाक्यों में बड़ा अन्तर है। इस कारण प्रथम वाक्य का द्वितीय वाक्य को अनुवाद मानना ठीक नहीं। अतः सिद्ध है—कि वह वाक्य अनुवादक न होकर विधिरूप (विधायक) ही है।

सं०—अब जंभाई हेतुक मन्त्रोच्चारण, प्रकृतयाग में पुरुषधर्म है, इसका निरूपण करते हैं।

**६—जञ्जभ्यमानाधिकरणाम्—**

**पू०प०—अहीनवत्पुरुषस्तदर्थत्वात्॥ १४॥**

प०क्र०—(अहीनवत्) जिस प्रकार 'उपसद्' संज्ञक यज्ञ 'अहीन' का धर्म है। उसी प्रकार (पुरुषधर्मः) जंभाईनिमित्तक मन्त्र का उच्चारण भी पुरुषमात्र धर्म है। क्योंकि (तदर्थत्वात्) उस पुरुष के उद्देश्य से विधान किया गया है।

भा०—दर्शपूर्णमासयाग में 'प्राणो वै दक्षः अपानः क्रतुः तस्माज्

जञ्जभ्यमानो ब्रूयात् मयि दक्षक्रतू—तै० सं० २। ५। २। ४। इति, प्रणापानावेवात्मन् धत्ते' अर्थात् जंभाई लेने पर उसके संस्कारार्थ इस मन्त्र (मयि दक्षक्रतू) का उच्चारण करना चाहिये। प्रकृतयागसम्बन्धी पुरुष का। अतः इस मन्त्र का उच्चारण करना पुरुषमात्र का धर्म है। यागसम्बन्धी पुरुष का नहीं। और दर्शपूर्णमासप्रकरण से इसका अपकर्ष होकर जंभाई लेने वाले पुरुषमात्र के लिये यह होना चाहिये।

सं०—इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है।

**उ०प०—प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यबत्॥ १५॥**

प०क्र०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है। (द्रव्यवत्) व्रीहिरूपद्रव्य के प्रोक्षण की भांति (तद्युक्तस्य) याग सम्बन्धी पुरुष का (संस्कारः) मन्त्रोच्चारण संस्कार है। (प्रकरणविशेषात्) प्रकरण की विशेषा से।

भा०—'व्रीहीन् प्रोक्षति' वाक्य से दर्शपूर्णमासयाग के प्रकरण में पढ़े गये 'व्रीहिमात्र' की 'व्यावृत्ति' होकर यज्ञसम्बन्धी व्रीहिप्रोक्षण का ग्रहण होता है। उसी प्रकार उस वाक्य में भी प्रकृतयागसम्बन्धी पुरुष का धर्म 'मन्त्रोच्चारण' होना चाहिये। क्योंकि प्रकरण से पुरुषमात्र की व्यावृत्ति है। पुरुषमात्र के लिय उसका ग्रहण कभी भी नहीं होना चाहिये। अतः उस मन्त्र का उच्चारण पुरुषमात्र का धर्म नहीं, किन्तु प्रकृतयागसम्बन्धी पुरुष धर्म है।

सं०—'अहीनवत्' दृष्टान्त का समाधान करते हैं।

**सि०प०सहा०—व्यपदेशादपकृष्येत॥ १६॥**

प०क्र०—(व्यपदेशात्) अधिक कथन से (अपकृष्येत) 'उपसद्' होम का उपकर्ष होता है।

भा०—यह दृष्टान्त विषम है। उसमें विशेषवचन के होते हुये संशय नहीं होता, और संशय न होने से उसकी निवृत्ति के प्रकरण के अनुसार आवश्यकता भी नहीं होती। परन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं। यहाँ तो सामान्यवचन होने से संशय होता है, उसकी निवृत्ति के लिये प्रकरण का अनुसरण किया जाता है, उसका अनुसरण करने से पुरुषमात्र की स्वयं व्यावृत्ति हो जाती है। अतः वह पुरुषमात्र का धर्म नहीं। और धर्म सिद्ध न होने से उसका मानना भी ठीक नहीं। अतः 'मयि दक्षक्रतू' मन्त्र का बोलना यागसम्बन्धी

पुरुष का धर्म है, पुरुषमात्र का धर्म नहीं।

सं०—अवगोरण आदि निषेध ब्राह्मणमात्र के लिये है, इसका निरूपण करते हैं।

**सि०प०—शंयौ च सर्वपरिदानात्॥ १७॥**

प०क्र०—(च) और (शंयौ) महाराज 'शंयु' के उपदेश में जो ब्राह्मण के 'अवगोरण' आदि का निषेध है, वह ब्राह्मणमात्र के लिये जानना चाहिये। क्योंकि (सर्वपरिदानात्) उससे उस (ब्राह्मणमात्र) का ग्रहण है।

भा०—जिस प्रकार यागसम्बन्धी ब्राह्मणों को दण्ड आदि से न डराना यागरक्षा का उपाय है। उसी प्रकार ब्राह्मणमात्र के अवगोरण आदि का न होना प्रजारक्षा का उपाय है। बृहस्पतिपुत्र महाराज शंयु (शंभु) की प्रार्थना भी प्रजारक्षा के उपायविषयक ही है। इसके अतिरिक्त वैदिकों में सब ब्राह्मण समान हैं। जो याग से अतिरिक्त ब्राह्मण हैं, वे उपदेश से प्रजा का रक्षण करते हैं। अतः दोनों प्रकार के ब्राह्मणों में अधिकांश मं समानता है। अतः दोनों प्रकार के लिये 'अवगोरण' का निषेध है—'[1]तस्मान्न ब्राह्मणायावगुरेत्, न हन्यात्, न लोहितं कुर्यात्' ये वाक्य हैं।

सं०—'रजस्वला' से सम्भाषण के निषेध का निरूपण करते हैं।

**११—मलवद्वासोऽधिकरणम्—**

**सि०प०—प्रागपरोधान्मलवद्वाससः॥ १८॥**

प०क्र०—(मलवद्वाससः) रजस्वला से सर्वप्रकार के सम्भाषण का निषेध है। (प्राग्) क्योंकि यज्ञारम्भ में पहिले ही से (अपरोधात्) उस यज्ञभूमि से बाहर करके याग करने का विधान किया है।

भा०—'यस्य व्रत्येऽहीन पत्न्यनालम्भुका भवति, तामपरूध्य यजेत' इति। अर्थात् यजमान सपत्नीक यज्ञ करता है। उसमें यदि दीक्षा उसकी स्त्री रजस्वला हो जावे, तो यज्ञभूमि से उसे पृथक करदे। और यज्ञभूमि से बाहर करके पुनः यज्ञ करे। अतः यज्ञ और अयज्ञ दोनों में ही रजस्वला के साथ सम्भाषण का निषेध है।

सं०—इस में युक्ति देते हैं।

**सि०प०सहा०—अन्नप्रतिषेधाच्च॥ १९॥**

प०क्र०—(च) तथा (अन्नप्रतिषेधात्) रजस्वलासम्बन्धी संभोग के

सूचना—(१) 'यो ब्राह्मणायावगुरेत्तं शतेन यातयात्। तस्माद् ब्राह्मणाय नावगुरेत्' इत्येवं पाठोऽस्तीति देव आचार्यः।

निषेध का भी कथन है।

भा०—रजस्वला से सम्भाषण के निषेध के समान, समागम का भी निषेध किया गया है। 'नास्या अन्नमद्यात् अभ्यञ्जनं वै स्त्रिया अन्नम्' रजस्वला के अन्न को न खावे। क्योंकि सम्भाषण का निषेध संभोग के निषेध का भी सूचक है।* जो कि सार्वत्रिक है। यज्ञ-स्थल में तो निषेध अनावश्यक-सा ही है। क्योंकि वहाँ अभिगमन की प्राप्ति ही नहीं। वहाँ तो ब्रह्मचर्यपूर्वक यज्ञ करने का विधान है। अर्थात् जैसे लोक वेद दोनों में रजस्वला का 'अभिगमन' निषिद्ध है उसी प्रकार सम्भाषण करना भी बुरा है।

सं०—सुवर्णधारण मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है।

**सि०प०—अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात्॥ २०॥**

प०क्र०—'तु' शब्द सिद्धान्त का सूचक है। (अप्रकरणे) किसी यज्ञविशेष में अपठित सुवर्णधारण आदि (तद्धर्मः) मनुष्यमात्र धर्म है। क्योंकि (ततः) प्रकरण से (विशेषात्) वह अद्भुत (बाहर=भिन्न) है।

भा०—यतः सुवर्ण सर्वसाधारण को सुन्दर बनाता है अतः यज्ञ में सुवर्णधारण करना बतलाया है। इस कारण वह मनुष्यमात्र का धर्म है। अतः याज्ञिकों को भी धारण करना चाहिये।

सं०—इसमें पूर्वपक्ष करते हैं।

**पू०प०—अद्रव्यत्वात्तु शेषः स्यात्॥ २१॥**

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष का सूचक है। (शेषः) सुवर्ण आदि का धारण याग का शेष (अङ्ग) (स्यात्) है। क्योंकि (अद्रव्यत्वात्) वह एक क्रियारूप है।

भा०—सुवर्णादिधारणक्रिया स्वतः इस प्रकार फलवती नहीं कही जा सकती, जैसी कि 'स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' वाक्य में स्वर्ग-फलप्राप्ति के लिए दर्शपूर्णमासयागक्रिया कही गई है। अतः सुवर्णधारण पुरुषमात्र के लिए विहित नहीं, किन्तु यज्ञसम्बन्धी पुरुष के लिए ही विहित है। क्योंकि वह अङ्गक्रियामात्र है। न कि प्रधान क्रिया मानी जा सकती है।

**पू०प०सहा०—वेदसंयोगात्॥ २२॥**

प०क्र०—(वेदसंयोगात्) उक्त वाक्य का यजुर्वेद (आध्वर्यवम्-

---

* स्त्री के सम्भोग को अन्न कहते हैं। इति शाबरभाष्यटीकायां सुस्पष्टं ध्वनितमिति देव आचार्यः।

इति) से सम्बन्ध है। अतः उत्कृष्टार्थ की सिद्धि है।

भा०—जिस काण्ड में स्वर्णधारण वाक्य पढ़ा गया है। वहाँ उसकी समाख्या (आध्वर्यवम्) है। यजुर्वेदी ऋत्विक् को 'अध्वर्यु' को ही सुवर्णधारण करना चाहिये, सब को नहीं।

सं०—पुनः इसमें युक्ति देते है।

**पू०प०सहा०—द्रव्यसंयोगाच्च ॥ २३ ॥**

प०क्र०—(च) तथा (द्रव्यसंयोगात्) *उस वाक्य में आये हुए 'हिरण्य' पद को याग-सम्बन्धी सुवर्ण का स्मारक होने से भी पूर्वोक्त कथन ठीक है।

भा०—'आत्रेयाय हिरण्यं ददाति' अत्रि गोत्रवालों को दक्षिणा देवे—इत्यादि वाक्य से यह पाया जाता है—कि इस वाक्य में सुवर्णधारण करना इष्ट नहीं, किन्तु दक्षिणा में दिये गये स्वर्ण के धारण का विधान है, न कि अन्य स्वर्णदिधारण का। और दक्षिणा केवल यज्ञियपुरुषों को ही दी जाती है। अतः उक्त स्वर्णधारण क्रिया का ही विधायक वाक्य है, न कि मनुष्यमात्र का।

सं०—इस पक्ष का समाधान करते हैं।

**स्याद्वाऽस्य संयोगवत्फलेन सम्बन्धस्तस्मात्कर्मैति-शायनः ॥ २४ ॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष का निरास करता है। सुवर्णधारण का (संयोगवत्) फलयुक्त कार्यों के समान (फलेन सम्बन्धः) फल के साथ सम्बन्ध (स्यात्) है। (तस्मात्) अतएव (कर्म) वह प्रधान कर्म है। (ऐतिशायनः) ऐसा ऐतिशायन ऋषि मानते हैं।

भा०—प्राजापत्यव्रतों के विधायक मन्त्र और उनके फल जैसे लिखे हैं-कि 'एतावता हैनसाऽवियुक्तो भवति' इतने पापों से छूट जाता है इत्यादि—इस वाक्यशेष में पापपिवृत्तिरूप फलका संयोग होने से यह याग प्रधानकर्म माना जाता है। इसी भाँति यह भी प्रधान कर्म है, और सर्वसाधारण के लिए है। अतः सुवर्णधारण मनुष्यमात्र का धर्म है, न कि केवल 'अध्वर्यु' का ही है।

सं०—'जय' नामक यज्ञों को 'वैदिककर्म' का अङ्ग निरूपण करते हैं।

---

* तस्मात् सुवर्ण हिरण्यं भार्यम्, सुवर्ण एव भवति। दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति। सुवाससा भक्तिव्यं रूपमेव बिभर्ति-इति पाठो स्तीति देव आचार्यः।

## १३—जयादीनां वैदिककर्माङ्गत्वम्—

**पू०प०—शेषोऽप्रकरणेऽविशेषात्सर्वकर्मणाम्॥ २५॥**

प०क्र०—(अप्रकरणे) अप्रकणपठित 'जय' आदि होम (सर्व-कर्मणाम्) 'लौकिकवैदिक' सम्पूर्ण कर्म के (शेष:) अङ्ग हैं। क्योंकि (अविशेषात्) समानरूप से उसका पाठ है।

भा०—अनारभ्याधीत 'जय' आदि होम इस प्रकरण के विषय हैं। और 'चित्तं च स्वाहा' आदि मन्त्रों से,'जय', तथा ऋताषाड् आदि मन्त्रों से, जो कि होम किये जाते हैं, उनको 'राष्ट्रभृत्'। और 'अग्निर्भूतानाम्' आदि मन्त्रों से जो होम है, उसे 'अभ्यातान' कहते हैं। ये लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के कर्मों के अङ्ग हैं। दोनों प्रकार के कर्मफलकी समृद्धि के निमित्त किये जाते हैं; न कि केवल वैदिककर्मनिमित्तक ही किये जाते हैं। अत: 'जयादि' होम लौकिक और वैदिक दोनों में कर्त्तव्य हैं।

सं०—उक्त पूर्वपक्ष समाधान किया जाता है।

**होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनीयसंयोगात्॥ २६॥**

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष के हटाने को आया है। (होमा:) जयादियाग (व्यवतिष्ठेरन्) वैदिककर्मों में ही कर्त्तव्य हैं। क्योंकि (आहवनीयसंयोगात्) वैदिककर्म तथा होम दोनों ही (आहवनीय) अग्निसम्बन्धी होते हैं।

भा०—अग्निहोत्रादि कर्म और 'जयादि' होम आहवनीय अग्निरूप एकदेश में ही होते हैं। अर्थात् दोनों उस अग्नि में ही किये जाते हैं। एवं देशसमानता से परस्पर अङ्गाङ्गिभावरूप सम्बन्ध भी है। अत:, 'यदाहवनीये जुहोति तेन सोऽस्याभीष्ट: प्रीतो भवति' इस वाक्य के नाते से उक्तहोम वैदिक-कर्म का ही अङ्ग है। लौकिक-वैदिक दोनों कर्मों का नहीं।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

**सि०प०सहा०—शेषश्च समाख्यानात्॥ २७॥**

प०क्र०—(च) और (शेष:) वैदिककर्म का अङ्ग है। क्योंकि (समाख्यानात्) 'आध्वर्यवम्' काण्ड में पढ़ा गया है।

भा०—जहाँ वह पाठ है, वहाँ यह समाख्या (अध्वर्यवम्) है। अत: उक्त होम का वैदिककर्म से सम्बन्ध है। यदि उन्हें लौकिककर्म का अङ्ग माना जावे, तो वे वेदसम्बन्धी समाख्या काण्ड में न पढ़े जाते। अत: सिद्ध है—कि 'जय' आदि होम वैदिककर्मों क अङ्ग हैं, लौकिककर्म के नहीं।

अतः उक्त कर्म वैदिककर्मों में ही कर्त्तव्य हैं, लौकिक में नहीं।

सं०—अश्वप्रतिग्रहहेतुक वारुणी इष्टि अङ्गरूप से होने के कारण कर्त्तव्य है, इसका निरूपण करते हैं।

### १३—अश्वप्रतिग्रहेष्ट्यधिकरणम्—

**पू०प०—दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात्॥ २८॥**

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्षका सूचक है। (इष्टिः) अश्वप्रतिग्रहहेतुक इष्टिविधान (लौकिके) सांसारिक अश्वप्रतिग्रह में भी (स्यात्) होता है। क्योंकि (दोषात्) प्रतिग्रह में दोष बतलाया गया है। (हि) और (वैदिके) वैदिक अश्वप्रतिग्रह में (शास्त्रात्) होने के कारण (न दोषः स्यात्) दोष नहीं है।

भा०—ज्योतिष्टोम-याग में गौ अथवा अश्व[१] की दक्षिणा का नियम है। यदि वैदिक अश्वप्रतिग्रह में दोष होता, तो अश्व की दक्षिणा की विधि का विधान न होता, परन्तु है, अतः दोष नहीं। किन्तु लौकिक अश्वप्रतिग्रह में ही दोष है। इस कारण इस दोष के परिहारार्थ ही 'वारुणी-इष्टि' का विधान है। वह लौकिक में ही करनी चाहिये, वैदिक में नहीं। क्योंकि 'वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति' अर्थात् अश्वदान लेनेवाले को जलोदर हो जाता है। अतः यह कहा गया है—कि 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान् निर्वपेत्' इति।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प्र०—अर्थवादो वाऽनुपपातात्तस्माद्यज्ञे प्रतीयेत॥ २९॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष निवृत्त्यर्थ है। (अर्थवादः) अश्वप्रतिग्रह से उत्पन्न जलोदर रोग की निवृत्ति के लिये उक्त इष्टि है, यह अर्थवाद है। क्योंकि (अनुपपातात्) अश्वप्रतिग्रह में कोई पाप नहीं। अतः (यज्ञे) जिस यज्ञ में अश्व दक्षिण की विधि है, उसमें (प्रतीयेत) अङ्गरूप से उस इष्टि की कर्त्तव्यता जाननी चाहिये।

भा०—प्रकृत अश्व की दक्षिणावाला वैदिकयज्ञ है। और उस वाक्य से जो अश्वप्रतिग्रहहेतुक इष्टि की कर्त्तव्यता विधान की गई है, वह यज्ञ की

---

सूचना—(१) 'वडवा दक्षिणा' तै०सं० १।८।२१। इति देव आचार्यः।
'न केसरिणो ददाति' इति स्मृतिः। केसराः कण्ठलम्बीनि रोमाणि तद्वन्तः केसरिणः अश्वगर्दभसिंहादयः) (जै०न्याय०मा०टि०)—इति देव आचार्यः।

पूर्ति के लिये है। इस कारण इष्टि, वैदिक अश्वप्रतिग्रह में ही करनी चाहिये। लौकिकप्रतिग्रह में नहीं।

सं०—अश्वदाता को उक्त इष्टि के करने का विधान निरूपण करते हैं।

### १५—दातुरश्वप्रतिग्रहेष्ट्यधिकरणम्—

### पू०प०—अचोदितं च कर्मभेदात्॥ ३०॥

प०क्र०—(च) और (अचोदितम्) प्रतिग्रह देनेवाले को इष्टि का विधान नहीं, किन्तु प्रतिग्रह लेनेवाले को इष्टि का विधान है। (कर्मभेदात्) कर्मभेद से, अर्थात् दान और प्रतिग्रह दोनों में भेद है।

भा०—वाक्य में '[१]प्रतिगृह्णीयात्' पद आया है जिसका अर्थ है—कि 'प्रतिग्रहण करे'। यह अर्थ नहीं है, कि 'दान करो'। यदि दाता को उक्त इष्टि कर्तव्य होती, तो उस वाक्य में 'दद्यात्' पद का प्रयोग होता। परन्तु प्रतिगृह्णीयात् पद और दद्यात् में भेद है। अतः दाता उक्त इष्टि करे, इस अर्थ का लाभ नहीं होता। इस कारण दाता को उक्त इष्टि की कर्तव्यता प्रमाणित नहीं होती। अतः वह प्रतिगृहीता (प्रतिग्रहलेनेवाले) को कर्तव्य है, न कि दानदाता को कर्तव्य है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

### उ०प०—सा लिङ्गादार्त्विजे स्यात्॥ ३१॥

प०क्र०—(सा) उक्त इष्टि (अर्त्विजे) यजमान को (स्यात्) करनी चाहिये। क्योंकि ([१]लिङ्गात्) प्रमाणों से ऐसा ही मिलता है।

भा०—उपक्रमवाक्य से दाता को ही वह इष्टि करनी चाहिये। इस बात का लाभ उपसंहारस्थ 'प्रतिगृह्णीयात्' पद का 'प्रतिग्राहयेत्' अर्थ करने से ही होता है। अतः यह प्रयास आवश्यक है। 'प्रतिगृह्णीयात्' पद का 'प्रतिग्राहयेत्' अर्थ करने से प्रतिग्रहीता को उस इष्टि के करने की कर्तव्यता सिद्ध नहीं होती। अतः अश्वप्रतिग्रहीता ऋत्विजों को वह इष्टि नहीं करनी चाहिये, किन्तु यजमान को ही करनी चाहिये।

सं०—वैदिक-सोमपान में 'वमन' होने पर सोमेन्द्री इष्टि करनी चाहिये।

---

सूचना—(१) 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतश्चतुष्कपालान् वारुणान्निर्वपेदिति। प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्, स स्वां देवतामार्च्छत्। स पर्यदीर्यत, स एवं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्, तं निरवपत्, ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत' इति। अनयद् दत्तवान्-इत्यर्थ इति देव आचार्यः।

१. 'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्' इत्यादि पूर्वोक्तमनुसन्धेयमिति देव आचार्यः।

## १६—पानव्यापदधिकरणम्-

**पू०प०—पानव्यापच्च तद्वत्॥ ३२॥**

प०क्र०—(च) तथा (तद्वत्) अश्वदाननिमित्तक इष्टि की भांति (पानव्यापत्) सोमपानवमननिमत्तक भी इष्टि करनी चाहिये।

भा०—जैसा कि उक्त वाक्य में इष्टि का विधान पाया जाता है, उसी प्रकार किसी रोगविशेष के कारण पीत-सोम के वमन हो जाने पर भी इष्टि करने का विधान है। न कि वैदिकरीत्यनुसार पिये गये सोम के वमन हो जाने पर भी इष्टि कर्तव्य है। अर्थात् वैदिकरीत्यनुसार पीतसोम के वमन हो जाने पर इष्टि नहीं करनी चाहिये।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

**उ०प०—दोषात् वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न दोषः स्यात्॥ ३३॥**

प०क्र०—(तू) शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है। (वैदिके) वैदिकसोमपान में वमन होने पर (स्यात्) इष्टि कर्त्तव्य है, अर्थात् करने का विधान है। क्योंकि (दोषात्) उसके वमन का आरम्भवाक्य में दोष बतलाया है। 'इन्द्रियेण वा एष वीर्येण व्यृध्यते यः सोमं वमति' मै० सं० २।२।१३। इति। और (लौकिके) लौकिक सोमपान में (दोषः) वमन होना दोष (न स्यात्) नहीं हो सकता। (हि) क्योंकि (अर्थात्) वह (सोमपान) वमन कराने के लिए ही होता है।

भा०—सोमपान से वमन होने पर चक्षुरिन्द्रिय, बलहीन हो जाती है। परन्तु लोक में वमन कराने के लिए ही सोमपान होता है। किन्तु वैदिककर्म में सोमपान से वमन हो जाने पर उस दोष की निवृत्ति के लिये [१]'सौमेन्द्रं चरुं निर्वपेच्छ्यामाकं सोमवामिनः' इस वाक्यनुसार इष्टि का विधान है। अर्थात् वैदिक सोमपानवमननिमित्तक दोष की निवृत्ति के लिए यह याग कर्त्तव्य है। लौकिक वमन पर नहीं।

सं०—यजमान उक्त इष्टि करे। यह पूर्वपक्ष करते हैं।

## १७—यजमानवमने—इष्टिविधानाधिकरणम्—

**पू०प०—तत्सर्वत्राविशेषात्॥ ३४॥**

प०क्र०—[तत्] वह सोमवमन [सर्वत्र] ऋत्विक् और यजमान

---

सूचना—(१) में सं० २।२।१३। इति देव आचार्यः।

दोनों को, इष्टि करने में कारण है। क्योंकि [अविशेषात्] वह समानरूप से पढ़ा गया है।

भा०—इस प्रकरण में आये हुए वाक्यों में 'सोमवमिनः' पद का जो प्रयोग है, वह यजमान और ऋत्विक् के अतिरिक्त अन्य किसी का बोधक नहीं। यदि यजमानमात्र को उक्त इष्टि करनी होती, तो 'सोमवमनः' पद के साथ 'यजमानमात्र' का प्रयोग होना चाहिये था। क्योंकि विना उक्त पद के सार्थक नहीं होता। और सामान्य शब्द से विशेष का ग्रहण हो नहीं सकता। अतः वह सामान्य इष्टि है। ऋत्विक् और यजमान दोनों को करनी चाहिये। न कि केवल यजमान को।

सं०—इसका समाधान किया जाता है।

**सि०प०—स्वामिनो वा तदर्थत्वात्॥ ३५॥**

प०क्र०—[वा] शब्द का पूर्वपक्ष के हटाने के लिए प्रयोग किया गया है। [स्वामिनः] यजमान को ही इष्टि करनी चाहिये। क्योंकि [तदर्थत्वात्] वह कर्मफल का भोगनेवाला है।

भा०—ऋत्विक् केवल यज्ञ के करानेवाले हैं, न कि उसके फल के भोक्ता हैं। अत एव उनके वमन से यज्ञ के नष्ट होने की सम्भावना नहीं। परन्तु-यजमान, यज्ञ क अन्य अङ्गों के समान एक अङ्ग है। परन्तु यहाँ 'पान' का अर्थ पीकर पचाना है। यदि यजमान पीकर न पचावे, और वमन करदे, तो यज्ञ का अङ्ग भङ्ग हो सकता है। इसी यज्ञ की भङ्गता दूर करने के लिए वह इष्टि कर्त्तव्य है। अतः इष्टि यजमान करे, ऋत्विक् नहीं।

सं०—उक्तार्थ में लक्षण दिखाते हैं।

**लिङ्गदर्शनाच्च॥ ३६॥**

प०क्र०—[च] और [लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग के मिलने से वह अर्थ सिद्ध होता है।

भा०—'सोमपीथेन व एष व्यध्यते य सोमं वमति' अर्थात् सोम पीकर वमनकर्ता का यज्ञ विगुणित हो जाता है। यहाँ यज्ञ के अङ्ग का भङ्ग होने के सङ्केत के कारण इष्टि यजमानको ही करनी चाहिये, न कि ऋत्विजों को। सम्बन्ध से भी ऐसा ही अवगत होता है—कि 'यो वमति स निर्वपति'- अर्थात् जो वमन करे, वह 'चरु निर्वापरूप इष्टि करे' इससे स्पष्ट है—कि याग के साथ स्वस्वामि-सम्बन्ध यजमान का है। अतः वही उक्त इष्टि करे, न कि ऋत्विक् करे।

सं०—अब अङ्गल चौड़ी दो खण्डों की अग्नि में होम करने का निरूपण करते हैं।

### १८—सर्वप्रदानाधिकरणम्-

### पू०प०—सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात्॥ ३७॥

प०क्र०—(हविषः) संपूर्णहविः का (सर्वप्रदानम्) अग्नि में प्रदान (प्रक्षेप) होना चाहिये। (तदर्थत्वात्) क्योंकि वह हविः उसके निमित्त है।

भा०—'आग्नेयोऽष्टकपालः[१]' इस वाक्य में पुरोडाश का अग्नि में त्याग का विधान है, उसके भागविशेष का नहीं है। और जिसका उस वाक्य से त्याग (प्रक्षेप) करने का विधान नहीं मिलता, प्रामाणिक न होने से उसका अनुष्ठान भी नहीं किया जा सकता। अतः पुरोडाश में से कुछ भाग काटकर हवन करना ठीक नहीं, किन्तु कृत्स्नपुरोडाश का ही हवन होना ठीक है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

### उ०प०—निरवदानात्तु शेषः स्यात्॥ ३८॥

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष के निरास के लिए है। (शेषः) कृत्स्नपुरोडाश में से स्विष्टकृद् होमादि कार्य के लिए पुरोडाश शेष रहता (स्यात्) है। (निरवदानात्) कृत्स्नपुरोडाशरूप हविः से अङ्गुष्टपर्वपरिणाम दो टुकड़ों को काटकर याग करने का विधान है।

भा०—'द्विर्हविषोऽवद्यति' वाक्य के अनुसार अग्नि में हवन के निमित्त दो अवदान करना चाहिये। एक अँगूठे के माप के परिमाण में पुरोडाश के दो भाग करके हवन करना ठीक है। और शेष 'स्विष्टकृत्' कार्यों के लिए बचाकर रखना चाहिये। सब का हवन करना ठीक नहीं।

सं०—इसमें आशङ्का करते हैं।

### पू०प०—उपायो वा तदर्थत्वात्॥ ३९॥

प०क्र०—(वा) शब्द आशङ्का के सूचानार्थ आया है। (उपायः) 'द्विर्हविषः' शब्द से.हवन की रीति (नियम) कही है। 'द्विरवदान' से दो अवदानमात्र हवन करना चाहिये, यह अर्थ नहीं। क्योंकि (तदर्थत्वात्) सब पुरोडाश हवनार्थ ही है।

भा०—'आग्नेयोऽष्टाकपालः' वाक्य से कृत्स्नपुरोडाश का होम पाया

---

सूचना—(१) तै०सं० २।६।३।३। इति देव आचार्यः।

जाता है। उसके भागविशेष का हवन करने से वह वाक्य चरितार्थ नहीं हो सकता। और 'द्विर्हविष:' वाक्य को उपाय विधान करनेवाला होने से उसका सङ्कोच नहीं मान सकते। तथा जब तक पुरोडाश है, तब तक हवन होने में कोई बाधा नहीं। क्योंकि वह हवनकार्य का प्रयोजक है। अतः सिद्ध है- कि कृत्स्नपुरोडाश का हवन होना चाहिये, न कि भागविशेष का।

सं०—इस शङ्का का समाधान करते हैं।

**उ०प०—कृतत्वात्तु कर्मणः सकृत्स्याद् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात्॥ ४०॥**

प०क्र०—'तु' शब्द आशङ्का के निवारणार्थ आया है। (सकृत्) एक वार (कर्मणः) हवन के (कृतत्वात्) कर देने से (स्यात्) हवनविधिवाक्य चरितार्थ हो जाता है। (द्रव्यस्य) अतः शेष पूरोडाश के (गुणभूत्वात्) गुणभूत हो जाने के कारण वह पुरोडाश पुनः हवनक्रिया का प्रयोजक नहीं रहता।

भा०—(द्विर्हविषः) वाक्य के अनुसार अङ्गुष्ठपर्वसमान पुरोडाश के दो भाग का हवन कर देने से 'आग्नेयः' वाक्य चरितार्थ हो जाता है। और शेषपुरोडाश गुणभूत होने से हवनक्रिया की आवृत्ति का प्रयोजक नहीं होता। अत एव सिद्ध हुआ, कि 'कृत्स्नपुरोडाश' का हवन कर्त्तव्य नहीं। किन्तु उसके भागविशेष का ही हवन कर्त्तव्य है।

सं०—इस अर्थ में हेतु देते हैं।

**उ०प०सहा०—शेषदर्शनाच्च॥ ४१॥**

प०क्र०—(च) और (शेषदर्शनात्) शेष पुरोडाश के कार्यों का विधान भी मिलता है।

भा०—'शेषात्स्विष्टकृते[१] समवद्यति' इस वाक्य से पुरोडाश का शेष रहना सिद्ध है। और शेष तभी रहेगा, जब कृत्स्न पुरोडाश का हवन न किया जावे। अन्यथा वह शेष रह ही नहीं सकता। अतः सिद्ध है—कि अङ्गुष्ठपर्व समान पुरोडाश के दो भाग करने चाहियें और शेष, स्विष्टकृतादि कार्यों के लिए रख लेना चाहिये।

सं०—आग्नेयादि तीनों हविः से 'स्विष्टकृत्' आदि शेषकर्मों की कर्तव्यता कहते हैं।

---

सूचना—(१) इदं दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते—इति देव आचार्यः।

## २०—प्राथमिकशेषात् स्विष्टकदनुष्ठानाधिकरणम्—

### पू०प०—अप्रयोजकत्वादेकस्मात्क्रियेरन्शेषस्य गुणभूतत्वात्॥ ४२॥

प०क्र०—(एकस्मात्) एकहविर्द्वारा (क्रियेरन्) 'स्विष्टकृत्' (शेष-कर्म) कर्त्तव्य हैं, तीनों हवि: से नहीं। (शेषस्य) शेष हवि: को (गुणभूत-त्वात्) गुणभूत होने से। (अप्रयोजकत्वात्) वह हवि: उनकी पुन: पुन: कर्तव्यता नहीं हो सकता।

भा०—शेष आहुतियां साधन होने के कारण कर्म की अङ्गभूत हैं, और कर्म का पुन: अनुष्ठान न होने से 'शेषात् स्विष्टकृते समवद्यति' वाक्य के साथ कोई विरोध नहीं आता। क्योंकि उस शेष हवि: से स्विष्टकृत् आदि कर्मों के लिये अवदान विधान करना है। जो एक शेषहवि: द्वारा करने पर भी हो सकता है। अत: तीनों शेष हवियों (हवि:) से स्विष्टकृत् आदि कर्म करने योग्य नहीं, किन्तु तीनों के बीच किसी एक से कर्त्तव्य हैं।

सं०—अब उक्तार्थ में हेतु देते हैं।

### पू०प०सहा०—संस्कृतत्वाच्च॥ ४३॥

प०क्र०—(च) तथा (संस्कृतत्वाच्च) एक बार उस कर्म के हो जाने से भी, प्रधान हत वि: संस्कृत हो जाती है।

भा०—'स्विष्टकृत्' आदि संस्कारकर्म हैं। वह असिद्ध हवि को सिद्ध कर सकते हैं, न कि सिद्ध को। और सिद्ध का पुन: संस्कार, लाभदायक न होने से, आवश्यकीय भी नहीं है। एक वार संस्कार तो तीनों हवियों (हवि:) के बीच किसी शेष हवि: के अवदान से भी हो सकता है। अत एव सिद्ध हुआ कि प्रत्येक शेष हवि: से वह कर्म करने योग्य नहीं, किन्तु तीनों में से किसी एक से करने योग्य है।

सं०—उस पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

### उ०प०—सर्वेभ्यो वा कारणविशेषात्संस्कारस्य तदर्थत्वात्॥ ४४॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है। (सर्वेभ्य:) सब शेष आहुतियों से यह कर्म करने योग्य है। (कारणविशेषात्) सब के साथ कारण की समानता होने से। (संस्कारस्य) क्योंकि संस्कार (तदर्थत्वात्) हवि:मात्र के निमित्त है। अत: प्रतिहवि हो सकता है।

भा०—'स्विष्टकृत्' संस्कारकर्म गौण, और हवि:प्रधान है। वह

आहुतियों के परस्पर पृथक्पृथक् होने के कारण एकहविः से उस कर्म का संपादन होने पर अन्य हवि से वह कर्म नहीं हो सकेगा। अतः तीनों आहुतियों से वह कर्म करना चाहिये, किसी एक से नहीं।

सं०—अर्थसाधक लिङ्ग निरूपण करते हैं।

**उ०प०सहा०—लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ४५ ॥**

प०क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी वह अर्थ सिद्ध है।

भा०—'सकृत् सकृदवद्यात्' एक एक हवि से एक एक वादी अवदान करे। इस वाक्य से जो हविः से पुनः पुनः अवदान करना बतलाया है, यह इस अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग (प्रमाण) है। यदि 'आग्नेय' आदि तीनों 'स्विष्टकृत्' आहुतियाँ किसी एक हविः से होनी मानी जातीं, तो दो वार 'सकृत्' शब्द का प्रयोग न होता। क्योंकि इस अर्थ का लाभ 'सकृत्' शब्द से ही हुआ है। परन्तु ऐसा न करके 'सकृत्' 'सकृत्' इस भांति बार-बार प्रयोग होता है। अतः सिद्ध है—कि उक्त कर्म को एक हविः से नहीं, किन्तु तीनों हवियों द्वारा करना चाहिये।

सं०—उन तीनों हवियों में एक हवि कौनसी है।

**२०—प्राथमिकशेषात् स्विष्टकृदनुष्ठानाधिकरणम्—**

**पू०प०—एकस्माच्चेद्याथाकाम्यमविशेषात् ॥ ४६ ॥**

प० क्र०—(चेत्) यदि (एकस्मात्) एक हविः पक्ष है, तो (याथाकाम्यम्) स्वेच्छा से किसी हविः से उक्त कर्म का अवदान करे। क्योंकि (अविशेषात्) वह तीनों हवियाँ समान हैं।

भा०—तीनों हवियाँ प्रधान होने से समान हैं। मन्त्र में भी किसी को श्रेष्ठ अथवा किसी को निकृष्ट, संस्कृत अथवा असंस्कृत नहीं बतलाया। अतः किसी एक विशेषहविः सम्बन्धी कर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु वाक्य[१] में 'एक' पद का प्रयोग किया गया है। उक्त दशा में विना दृढ़ नियम के एक का निश्चय नहीं किया जा सकता। और विशेषकर जब कर्म स्वेच्छा पर है, तो उसमें नियम भी लागू नहीं होता।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

---

सूचना—(१) 'एकस्मादेव हविश्शेषात् स्विष्टकृत्' इति (जै०न्या०मा०टी० २० अधि०) इति देव आचार्यः।

**उ०प०—मुख्याद्वा पूर्वकालत्वात्॥ ४७॥**

प०क्र०—(वा) यह 'वा' शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण करता है। (मुख्यात्) इस (आग्नेय) हविः का परमात्मा के निमित्त अवदान किया जाता है। इसी कारण उस हविः का प्रथम अवदान होना चाहिये। क्योंकि (पूर्वकालत्वात्) वह सब से प्रथम त्यागने, अर्थात् अवदान करने योग्य है।

भा०—तीनों हवियों (हविः) को अवश्य प्रधानत्व है, तो भी परमात्मा के निमित्त जिसका त्याग हो, उसके यथासंख्य किये जाने से परस्पर भेद अवश्य विद्यमान है। इस कारण उसके बीच में उक्त कर्मों का अनुष्ठान करने के लिये पहिली एक 'आग्नेय' हविः से ही अनुष्ठान श्रेष्ठ है, किसी एक से नहीं।

सं०—चार प्रकार से आग्नेय पुरोडाश का भक्षण ऋत्विजों को कराना चाहिये। इसका निरूपण करते हैं।

**२१—चतुर्धाकरणाभक्षणाधिकरणम्—**

**पू०प०—भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रये॥ ४८॥**

प०क्र०—(दानशब्दः) चार विभाग करके ऋत्विजों को देना (परिक्रये) यह उनके परिक्रय के निमित्त है, न कि भक्षण के लिये। क्योंकि (भक्षाश्रवणात्) दानविधायक वाक्य में भक्षण का नाम नहीं सुना।

भा०—दर्शपूर्णमास यज्ञ में 'इदं ब्रह्मणः' इदं होतुः', 'इद -मध्वर्योः' 'इदमग्नीध्रः(धः)', यह ब्रह्म का, यह होता का, यह अध्वर्यु और अग्नीध्र का भाग है। परन्तु इसमें भक्षणाय पद कहीं नहीं आया। इससे प्रमाणित है—कि यह याग की दक्षिणा है, न कि भक्षण के लिये। सारांश यह है-कि ऋत्विजों को नौकरी में पुरोडाश दिया जाता है, न कि जलपान के लिये।

सं०—इस अर्थ में हेतु देते हैं।

**पू०प०सहा०—तत्संस्तवाच्च॥ ४९॥**

प०क्र०—(च) और (तत्संस्तवात्) पुरोडाशदान की, दक्षिणा के नाम से स्तुति करने के द्वारा वह कर्म सिद्ध होता है।

भा०—'एषा वै दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणा' पुरोडोश का देना दर्शपूर्ण की दक्षिणा है, अतः तो वह स्तुत्य है। यदि पुरोडोश खाने के लिये दिया गया होता, तो वह दक्षिणा के समान स्तुत्य न होता। दक्षिणा परिक्रियार्थ होती है, यह बात सर्वप्रसिद्ध है। अतः पुरोडोश दक्षिणा के समान क्रयार्थ है, भक्षणार्थ नहीं।

सं०—इसमें समाधान पक्ष उठाते हैं।

**भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात्॥ ५०॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिए आया है। (भक्षार्थः) पुरोडोश भक्षणार्थ ही है, न कि परिक्रयार्थ क्योंकि (द्रव्ये) उस पुरोडोश में (समत्वात्) यजमान और ऋत्विजों का समान अधिकार है।

भा०—भाव यह है—कि पूर्वोक्त वाक्य में जलपान के लिये (भक्षणार्थ) पुरोडोश के देने का कथन किया गया है, न कि परिक्रयार्थ।

सं०—पुरोडोशदान की दक्षिणा के नाम से की गई स्तुति का यह समाधान है।

**व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः॥ ५१॥**

प०क्र०—(दानस्तुतिः) पुराडोश की दक्षिणारूप से जो स्तुति की गई है, (व्यादेशात्) वह कथनमात्र की अथवा दानपात्र की समानता से है।

भा०—ब्रह्मादि-ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती है, और उन्हें ही पुरोडोश भी देना बतलाया है। अतः दक्षिणा और पुरोडाश दानपात्र की समानता के कारण, एक समान मान लिए गये हैं। अत एव पुरोडाश दक्षिणा के नाम से प्रकाशित है। परन्तु यह कल्पना नहीं की जा सकती-कि जैसे दक्षिणा परिक्रयार्थ है, उसी भांति पुरोडाश भी परिक्रयार्थ है। ऋत्विाजों का स्वत्व दक्षिणा पर ही निर्भर है, पुरोडाश पर नहीं। अतः यह सिद्ध हुआ कि उपर्युक्तवाक्य में पुरोडाश का जो भाग देना है, वह परिक्रयार्थ नहीं, किन्तु भक्षण के निमित्त ही है।

**मी.द. भाषाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।**

## अथ तृतीयाऽध्यायस्य पञ्चमः पादः प्रारभ्यते

सं०—उपांशु यज्ञ में ध्रुवा-पात्र में बचे हुए आज्य द्वारा स्विष्टकृत् कर्मों की अकर्त्तव्यता के कथन में पूर्वपक्ष करते हैं।

**१—उपांशुयाजहविषा शेषकार्याननुष्ठानाधिकरणम्—**

**पू०प०—आज्याच्च सर्वसंयोगात्॥ १॥**

प०क्र०—(च) तथा (आज्यात्) ध्रुवपात्रस्थ शेष-आज्य से स्विष्टकृत् कर्म करना चाहिये। क्योंकि (सर्वसंयोगात्) उक्त कर्म के निमित्त सब

हवियों 'हवि' के अवदान का विधान मिलता है।

भा०—'सर्वेभ्यो हविर्भ्यः समवद्यति' (शा० भा०) इस वाक्य से स्विष्टकृत् आदि कर्मों के लिये अवदान विधान करनेवाले वाक्यों में सब-हवियों में से काटना (बचाकर कुछ शेष रखना) कहा गया है। आग्नेयपुरोडोश आदि के समान उपांशु याग के अनन्तर शेष बचा हुआ ध्रौव-घृत भी सब हवियों के भीतर ही है। अतः पुरोडोश आदि के समान उससे भी 'स्विष्टकृत्' आदि कर्म कर्त्तव्य है, अकर्त्तव्य नहीं।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

**पू०प०सहा०—कारणाच्च॥ २॥**

प०क्र०—(च) तथा (कारणात्) स्विष्टकृत् आदि कर्म सब शेषहवियों के संस्कार का कारण है। इससे भी उस अर्थ की सिद्धि होती है।

भा०—स्विष्टकृत्- आदि-कर्म शेष-आहुतियों के संस्कारार्थ किये जाते है। उपांशुयाज के पश्चात् 'ध्रौव' आज्यरूप हविः का संस्कार भी आवश्यक है। अतः आग्नेय पुरोडोश आदि की भाँति उस घी से भी स्विष्टकृत् आदि कर्म करने योग्य हैं।

सं०—उक्त अर्थ में हेतु देते हैं।

**पू०प०सहा०—एकस्मिन्त्समवत्तशब्दात्॥ ३॥**

प०क्र०—(एकस्मिन्) 'आदित्य चरु' रूप एक हविः में (समवत्तशब्दात्) 'समवद्यति' शब्द का प्रयोग मिलने से भी उस अर्थ की सिद्धि होती है।

भा०—जैसे प्रायणीय-इष्टि में आदित्यरूप एकहविः संस्कार करने योग्य है, उसी भाँति आज्यरूप हविः भी है। और 'आग्नये स्विष्टकृते समवद्यति' 'आज्यादेकस्माच्च हविषोऽवद्यति' शब्द का प्रयोग मिलने के कारण चरु के समान घृत से भी स्विष्टकृत् आदि कर्मों में अवदान होना चाहिये। यही प्रमाणित होता है। अतः उपांशुयाज के पश्चात् शेष 'ध्रौव' आज्य से भी वह कर्म कर्त्तव्य है, अकर्तव्य नहीं।

सं०—उक्त अर्थ की सिद्धि में अन्य हेतु देते हैं।

**पू०प०सहा०—आज्ये च दर्शनात् स्विष्टकृदर्थ-वादस्य॥ ४॥**

क्र०—(च) और (आज्ये) (ध्रौव) घृत से भी (स्विष्टकृत्) स्विष्टकृत् आदि कर्म करने चाहियें। क्योंकि (अर्थवादस्य) उसका समर्थक वाक्य (दर्शनात्) मिलता है।

भा.—प्रधान आहुति के पश्चात् स्विष्टकृत्-आहुति आदि कर्म करने योग्य हैं। अत: प्रत्यभिघारण कहा गया है। इस कारण प्रमाणित होता है—कि 'ध्रौव' घृत से भी स्विष्टकृत्-आहुति आदि कर्म करने चाहियें।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—अशेषत्वात्तु नैवं स्यात्सर्वादशेषता॥ ५॥**

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष के हटाने के लिय आया है। (न, एवम् स्यात्) स्विष्टकृत् आदि कर्मों में 'ध्रौव' घृत से अवदान नहीं हो सकता। क्योंकि (अशेषत्वात्) वह उपांशुयाज शेष नहीं। (सर्वादानात्) उपांयशुयाज में से ध्रुवा-पात्र से जितना घृत ग्रहण करने योग्य था, उस सबका हवन हो चुकने पर (अशेषता) उपांशुयाज के 'घी' का शेष न रहना सिद्ध है।

भा०—'चतुरत्तं जुहोति' उपांशु-यज्ञ में 'ध्रुवा' पात्र से चार अवदान घी लेकर होम करे। इस वाक्य ये ध्रौव आज्य के उपांशुयाज में चार अवदान हैं, और उन चारों का उपांशु में हवन हो जाता है। शेष-घृत रहता ही नहीं, जिसके कि संस्कारार्थ स्विष्टकृत् आदि कर्म किये जावें। अत: सिद्ध हुआ—कि उपांशुयाज के पश्चात् कुछ शेष न रहने के कारण शेष 'ध्रौव' आज्य से उस कर्म के करने की संभावना भी नहीं हो सकती।

सं०—उपांशुयाज के पश्चात् जो ध्रुवा-पात्र में घृत है, उसे ही उपांशुयाज का शेष क्यों न मान लें।

**सि०प०सहा०—साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात्॥ ६॥**

प०क्र०—(ध्रुवायाम्) उपांशुयाज के पश्चात् जो ध्रौव घृत है, वह (न स्यात्) उपांशुयाज का शेष नहीं है। क्योंकि वह (साधारण्यात्) सब कर्मों में समान है।

भा०—उस पात्र के घी में केवल चार अवदान उपांशुयाज के हैं। और उनका विधिपूर्वक हवन हो जाने पर पीछे जो पात्र में घी बचा है, उसके साथ उपांशुयाज का कोई सम्बन्ध ही नहीं। और सम्बन्ध न रह ने से वह उसका शेष नहीं कहा जा सकता। उक्त दशा में 'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों का होना भी संभव नहीं। अत: उपांशुयाज के पश्चात् शेष ध्रौव घृत से स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्त्तव्य नहीं है, यही समीचीन है।

सं०—अब उपांशुयाज के निमित्त ध्रुवा-पात्र से जुहू में आज्य लिया जाता है। उसके शेष से बे कर्म क्यों न कर लिये जावें।

**अक्तत्वाच्च जुह्वां तस्य च होमसंयोगात्॥ ७॥**

प०क्र०—(जुह्वाम्) जुहू में जितना घी है, (अक्तत्वात्) वह सब उनके निमित्त अवदान किया गया है। (च) और (तस्य) उसका होना (होमसंयोगात्) प्रधानहवन के सम्बन्ध होने पर निर्भर है।

भा०—उपांशुयाज के निमित्त जुहू में लिये गये घृत से 'चतुरवत्तं जुहोति' इस वाक्य द्वारा चार अवदान करे परन्तु सब का अवदान कर देने से शेष कुछ रहता ही नहीं, और जब शेष ही नहीं रहा, तो स्विष्टकृत् आदि कर्म का होना असम्भव है। अतः सिद्ध हुआ कि उपांशुयाज के पीछे ध्रौव धृत से वह कर्म नहीं करना चाहिये।

सं०—उक्तार्थ में आशङ्का होती है।

**पू०प०—चमसवदिति चेत्॥ ८॥**

प०क्र०—(चमसवत्) ऐन्द्र-वायव-चमस में ग्रहण किये गये सोम का अग्नि के उद्देश्य से जिस प्रकार हवन होता है। उसी भाँति विष्णु के उद्देश्य से जुहू द्वारा गृहीत घृत से भी स्विष्टकृत् आदि कर्म होने चाहियें। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे तो, (ठीक नहीं)।

भा०—जैसे अन्ये के निमित्त से गृहीत सोम अन्य के निमित्त हवन किया जाता है। उसी प्रकार उपांशु के उद्देश्य से जुहू ग्रहण किये गये घृत से स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्त्तव्य हैं।

सं०—आशङ्का का समाधान करते हैं।

**उ०प०—न, चोदनाविरोधाद्धविःप्रकल्पनाच्च[१]॥ ९॥**

प०क्र०—(न) यह उक्त कथन ठीक नहीं। क्योंकि (चोदना-विरोधात्) ऐसा मानने से उसका विधिवाक्य के साथ विरोध होता है। (च) तथा (हविःप्रकल्पनात्) 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' वाक्य से केवल हविः की ही कल्पना मिलती है। हवन के संयोग (सम्बन्ध) की नहीं।

भा०—'ऐन्द्रवायवम्' इत्यादि वाक्य इसके द्योतक हैं-कि 'ऐन्द्रवायव' पात्र से सोम लेकर इन्द्र तथा वायुसंज्ञक परमात्मा के निमित्त होम करे। परन्तु वह सब का सब होतव्य है, यह अर्थ नहीं निकलता। प्रत्युत इसके विरुद्ध 'चतुरवत्तं जुहोति' वाक्य से विदित होता है, वह सब उपांशुयाज में

---

१. सतन्त्रवार्तिकाशाबरभाष्योपेतमीमांसादर्शने (न त्वा) इति पाठोऽस्ति। का०च० मु०मु०मी०सू० पाठे च (ना) इति पाठोऽस्तीति देव आचार्यः।

होम करने योग्य है। यदि सबका हवन न करके शेषसे स्विष्टकृत् आदि कर्म किये जावें, तो 'चतुरवत्तम्' वाक्य से विरोध आवेगा, जो कि नहीं आना चाहिये। और दूसरा कारण यह भी है—कि सम्बन्ध के कारण चमस का सब घृत ले लिया जाता है—परन्तु सोम का ऐन्द्रवायव के उद्देश्य से होतव्य के साथ सम्बन्ध नहीं होता। अतः इस विषमता के कारण चमस में ग्रहण किये गये सोम के समान जुहू के घी से भी स्विष्टकृत् आदि कर्म नहीं करने चाहियें।

सं०—स्विष्टकृत्कर्मनिमित्तक सब हवियों से अवदान की कथित विधि का समाधान करते हैं।

**उत्पन्नाधिकारात्सति सर्ववचनम्॥ १०॥**

प०क्र०—(सति) शेष रहने पर (सर्ववचनम्) वाक्यप्रवृत्ति के द्वारा यथासम्भव सब हविः से करने का कथन है। (उत्पन्नाधिकारात्) अधिकार में पाठ होने से।

भा०—'सर्वेभ्यो हविर्भ्यः' इस विधिवाक्य से सर्वत्र प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु यथास्थान उद्देश्य से जितनी होतव्य हविः है, उसमें से उस उद्देश्य से हवन करने के पश्चात् शेष हविः पुरोडाश से होम करना चाहिये, सर्वत्र नहीं। अतः निश्चय हुआ-कि उपांशुयाज के पश्चात् जो ध्रुवापात्र का घृत है, उसमें उस वाक्य की प्रवृत्ति न होने से स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्त्तव्य नहीं हैं।

सं०—अब तृतीयसूत्र में निरूपण हेतु का निराकरण करते हैं।

**उ०प०सहा०—जातिविशेषात्परम्॥ ११॥**

प०क्र०—(परम्) 'प्रायणीय' नामक इष्टि में आदित्य-चरु के पास 'समवद्यति' शब्द का प्रयोग पाया जाता है। वह (जातिविशेषात्) भात और घी सम्बन्धी जातिविशेष के अभिप्रायवश है।

भा०—प्रकृतियाग में अनेक आहुतियाँ प्रधान आहुति के पश्चात् स्विष्टकृत् आदि कर्मों से संस्कार के योग्य हैं। और प्रकृति में प्रयोग की गई क्रिया का विकृति में अतिदेश के द्वारा प्रयोग किया जाता है। उस ध्रुवापात्र के घृत से 'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों की कर्त्तव्यता में प्रमाण नहीं। अतः उस लक्षण के आधार पर उपांशुयाज के पश्चात् शेष ध्रुवापात्रस्थ घृत से उस कर्म का करना समीचीन है।

सं०—चतुर्थसूत्र के हेतु का समाधान करते हैं।

**उ०प०सहा०—अन्त्यमरेकार्थे॥ १२॥**

प०क्र०—(अन्त्यम्) ध्रौव घृत से स्विष्टकृत् आदि कर्मों की कर्त्तव्यता का साधक प्रत्यभिघारण बतलाया गया है। वह 'अरेकार्थे' ध्रुवापात्र के रिक्त न होने से है।

भा०—उपांशुयाज के पश्चात् शेष ध्रौवयाज से स्विष्टकृत् आदि कर्म अकर्त्तव्य हैं।

सं०—'साकंप्रस्थायीयसंज्ञक' याग में 'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों की अकर्तव्यता का निरूपण करते हैं।

### २—साकंप्रस्थायीये शेषकार्याननुष्ठानाधिकरणम्—

**सि०प०—साकंप्रस्थायी[१]ये स्विष्टकृदिडञ्च तद्वत्॥ १३॥**

प०क्र०—(च) तथा (तद्वत्) उपांशुयाज के सदृश (साकंप्रस्थायीये) साकंप्रस्थायीयसंज्ञक यज्ञ में (स्विष्टकृदिडम्) स्विष्टकृत् और इडा अवदान कर्म नहीं होता।

भा०—'साकंप्रस्थायीयेन यजेत पशुकामः' (तै० सं० २।५।४।३।) इस विधि से 'साकंप्रस्थायीय' यज्ञ में 'अग्नीध्रेस्रुचौ प्रदाय सहा कुम्भीभिरभिक्रामन्नाह' (आप. श्रौ. ३।१६।१७) के कथनानुसार दही और घी की घड़ियाँ (छोटे-छोटे कुम्भ अथवा कलश[२]) हवन करने के लिए होती हैं। इससे स्पष्ट है—कि स्रुवों को छोड़कर जो हवन है, वह सब दही दूध के द्वारा ही किया जाता है। यदि ऐसा इष्ट न होता, तो ऐसा न कहते। अतः कुम्भियों (घड़ियों) के शेष रह जाने पर भी दधि दूध का अवशेष नहीं रहता। और ऐसी दशा में 'इडावदान' असंभव होता है। तथा भक्षणनिमित्त काटा हुआ जो हविः का शेष भाग है, वह 'इडावदान' कहा जाता है। अतएव उपांशुयाज की भांति 'साकंप्रस्थायीय' नामक यज्ञ में वह कर्म भी अकर्त्तव्य है।

सं०—सौत्रामणि यज्ञ में भी वह कर्म अकर्तव्य ही है।

### ३—सौत्रामण्यधिकरणम्—

**सि०प०—सौत्रामण्यां च ग्रहेषु॥ १४॥**

प०क्र०—(च) तथा (सौत्रामण्याम्) सौत्रामणि यज्ञ में (ग्रहेषु)

---

१. सतन्त्रवार्तिकाशाबरभाष्योपेतमीमांसादर्शने (यीये) इति पाठोऽस्ति। का०च० मु०मु०मी०सू० पाठे च (य्ये) इत्येवं पाठोऽस्तीति देव आचार्यः।

२. 'घल्ला' इति ब्रजभाषायामिति देव आचार्यः।

ग्रहों के द्वारा भी हवन का विधान होने के कारण उस पूर्वोक्त कर्म की अकर्तव्यता है।

भा०—'सौत्रामणि' यज्ञ में दो प्रकार के ग्रह होते हैं। एक 'पयो-ग्रह' (दुग्ध-पात्र), दूसरा 'सोमग्रह' (सोमभरापात्र)—इन दोनों ग्रहों से पूर्वोक्तयाग में परमात्मा के निमित्त हवन किया जाता है। परन्तु हवन उपर्युक्त ग्रहों से ही होता है, स्रुवों से नहीं। वदि स्रुवों से ही होता, तो पय एवं सोमरूप हवि:शेष रहता। परन्तु ग्रहों से ही होने के कारण वह हवि:शेष नहीं रह सका। इसी कारण 'स्विष्टकृत्' कर्म भी नहीं हो सकते। क्योंकि शेष हवि: से ही संस्कार कर्त्तव्य है। अत: स्विष्टकृदादि कर्म 'सौत्रामणि में करने योग्य नहीं।'

सं०—इसके लक्षण का निरूपण करते हैं।

**तद्वच्च शेषवचनम्॥ १५॥**

प०क्र०—(च) तथा (शेषवचनम्) 'ग्रहों' के द्वारा होम का विधान करने वाले वाक्य जो शेष हैं, वे (तद्वत्) 'साकंप्रस्थायीय' के समान उक्त यज्ञ में 'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों की अकर्तव्यता के द्योतक हैं।

भा०—शेष हवि: के साथ ही उक्त कर्मों का संयोग है। जिस याग में सम्पूर्णहवि: का होम होता है, और अन्त में पात्रों (ग्रहों) के अतिरिक्त कुछ भी हवि: शेष नहीं रहती। उसमें हवि: शेष के सम्बन्धी कर्म नहीं हो सकते। और 'सौत्रामणि' यज्ञ में जो हवि: के कुछ शेष रखने का विधान किया है, वह प्रयोजनान्तर के लिए है, उस कर्म की कर्त्तव्यता का प्रयोजक नहीं, अर्थात् दूध तथा सोम दोनों प्रकार के हविर्द्रव्यों में से जो कुछ शेष रखना बतलाया है, वह 'स्विष्टकृत्' आदि कार्य के लिए नहीं, किन्तु कार्यान्तर के निमित्त है।*

सं०—अब 'सर्वपृष्ठसंज्ञक' इष्टि में स्विष्टकृत् आदि कर्मों के अनुष्ठान का निरूपण करते है।

---

* 'ब्राह्मणं परिक्रीणीयादुच्छेषणस्य पातारम्' (नै०ब्रा० १।८।६।२।), 'शततृष्णायां वा विक्षारयन्ति' (तै०बा० १।८।६।४), सौत्राामणि की शेष हवि: जो रक्खी है, वह दक्षिणा में किसी ब्राह्मण को देकर पिला देनी चाहिये। ब्राह्मण न मिले तो (सौ छेदवाली हांडी अथवा बिल, अर्थात् वमि) में फेंक दे। यह (जै०न्या०या०टि०) में लिखा है।

## ४—सर्वपृष्ठ्यधिकरणम्—

### पू०प०—द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात्प्रतिकर्म क्रियेरन्॥ १६॥

प०क्र०—(द्रव्यैकत्वे) द्रव्य के एक होने पर भी (कर्मभेदात्) प्रधानकर्म का भेद होने से (प्रतिकर्म) प्रत्येक प्रधानकर्म के प्रति (क्रियेरन्) स्विष्टकृदादि कर्म करने चाहियें।

भा०—'[१]सर्वपृष्ठ[१] यज्ञ को शारीरिक-बल-की-कामनावाले करते हैं।' और उसका इनमन्त्रों द्वारा विधान है—कि 'इन्द्रिाय रथन्तराय', 'इन्द्राय वार्हताय' 'इन्द्राय वैरूपाय', 'इन्द्राय वैराजाय,' 'इन्द्राय शक्वराय', 'इन्द्राय रैवताय' इति। अर्थात् रथन्तर आदि सामों के भेद से स्वतन्त्र कर्म का भेद, और उस कर्म के भेद से स्तोतव्य इन्द्र परमात्मा का भेद, और उस (इन्द्र) का भेद होने से वह संस्कारकर्म भी प्रत्येक शेषहविः के प्रति आवश्यक है। अत एव सिद्ध है—कि प्रतिकर्म अवशिष्ट हविः द्वारा अनेक बार वह कर्म करना चाहिये, न कि एक बार ही कर्त्तव्य है।

सं०—उक्त पक्ष का समाधान करते हैं।

### उ०सि०प०—अविभागाच्च शेषस्य सर्वान्प्रत्यव-शिष्टत्वात्॥ १७॥

प० क्र०—(च) शब्द का पूर्वपक्ष हटाने के लिए प्रयोग किया गया है। (शेषस्य) हविस्त्यागानन्तर बची हुई शेष हविः और उससे पूर्व हविः में (अविभागात्) परस्पर कुछ भेद नहीं है। क्योंकि (सर्वान् प्रति) सब प्रधान कर्मों में (अविशिष्टत्वात्) पुरोडाशरूप हविः समान है।

भा०—यद्यपि ६ प्रधान कर्मों की कल्पना रथन्तरादि[२] सामों के भेद से स्तोत्र का भेद होने के कारण (स्तुति करने योग्य परमात्मा का भेद मानकर) करली गई है। परन्तु वस्तुतः आहुतिभेद से भी कर्म का भेद नहीं हो सकता। क्योंकि इन्द्र-देवता और आहुति हविः सब समान हैं। अतः आहुति के पश्चात् बचा हुआ हविः भी समान ही हुआ। विशेषकर भेद का

---

१. 'य इन्द्रियकामो वीर्यकामः स्यात्, तमेतया सर्वपृष्ठया याजजयेत् (तै०सं० २।३।७।१) इति देव आचार्यः।'

२. रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज, शाक्कर, रैवताख्यानि षट्सामानि, सोमयागे पृष्ठस्तोत्रसाधनानि। तत्सम्बन्धादिन्द्रो राथन्तरो बार्हतश्चेत्यादिना व्यपदिश्यते। तद्देवताकत्वादिष्टिरियं सर्वपृष्ठेष्टिरित्यभिधीयते—(वै०न्या०मा०टि०) इति देव आचार्यः।

कोई प्रयोजक नहीं। इस कारण अभेद होने पर वार-वार स्विष्टकृत् आदि कर्म का होना भी असम्भव है। अत: उक्त इष्टि में सम्पूर्ण शेषभाग से एक ही वार वह कर्म करना चाहिये, अनेक वार नहीं।*

सं०—'ऐन्द्रवायव' ग्रह में आहुति देने के पश्चात् शेष सोम के अनेक वार भक्षण का निरूपण करते हैं।

### ५—ऐन्द्रवायवे द्विर्भक्षणाधिकरणम्—

### ऐन्द्रवायवे तु वचनात्प्रतिकर्म भक्षः स्याद्॥ १८॥

प०क्र०—(तु) शब्द विलक्षण अर्थ का सूचक है। (ऐन्द्रवायवे) ऐन्द्रवायवसंज्ञकपात्र में (प्रतिकर्म) प्रत्येक आहुतिरूप कर्म के प्रति (भक्षः) भक्षण (स्यात्) होना ठीक है। क्योंकि (वचनात्) वाक्यविशेष से होता ही है।

भा०—हवन के पश्चात् बचा सोमरस एक होने से उसका एक बार ही भक्षण होना ठीक है। क्योंकि 'द्विरैन्द्रवायव्यस्य भक्षयति' (शा० भा०), अर्थात् दो वार भक्षण करे—इस विधिवाक्य से उसका दो वार भक्षण पाया जाता है। और आहुतिभेद से भक्षण का भी भेद है। अत: उस वाक्य में वाक्यविशेष के बल से प्रत्येक 'ऐन्द्रवायव' पात्र में एक वार नहीं, उसका वारवार भक्षण कर्त्तव्य है।

सं०—पुरोडाश के समान सम्पूर्णशेषसोमभक्षण का निरूपण करने के लिए पूर्वपक्ष करते हैं।

### ६—सोमे शेषभक्षाधिकरणम्—

### पू०प०—सोमेऽवचनाद्भक्षो[1] न विद्यते॥ १९॥

प० क्र०—(सोमे) ज्योतिष्टोम में (भक्षः) शेषसोमभक्षण (न विद्यते) नहीं पाया जाता। क्योंकि (अवचनात्) उसका विधायक कोई वाक्य नहीं है।

भा०—ज्योतिष्टोम में अनेक सोमपात्र होते हैं। अत: जिस पात्रस्थ हवि:शेष के भक्षण का विधायक वाक्य पाया जाता है, उसी का भक्षण होना समीचीन है, न कि अन्यों का। परन्तु याग में शेषसोम के भक्षण का विधायक कोई भी वाक्य नहीं है। अत एव उसमें हवनीय सोम का शेषभक्षण नहीं हो सकता।

---

* सकृत्, एक बार को और असकृत् अनेकवार को कहते हैं।

१. 'यद्ग्रहाज् जुहोति' इति कृत्स्नग्रहेणाऽऽहुतिश्रवणात् कुम्भीष्विव शेषाभावात्—(जै०न्या०मा०टी०) इति देव आचार्यः।

सं०—उक्त पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

**उ०प०—स्याद्वाऽन्यार्थदर्शनात् ॥ २० ॥**

प० क्र०—(वा) शब्द का पूर्वपक्ष के परिहार के लिए प्रयोग है। (स्यात्) शेष सोमों का भक्षण होता है। (अन्यार्थदर्शनात्) तत्सम्बन्धी अन्य वस्तु (भ्रमण) का विधान होने से।

भा०—चारों ओर परिक्रमण कर (श्राविक) सोम का भक्षण, तथा उससे तृप्त होकर वेदी के बीच में 'पृष्ठ्या' संज्ञक रेखा के दक्षिण ओर रहकर शकर पर चमसों को स्थापन करे। इस प्रकार की विधि से सोमभक्षण के अङ्ग भ्रमण तथा भक्षण के पश्चात् चमसपात्रों का शकर पर रखने का विधान है। वचे सब सोमों के भक्षण में प्रमाण हैं। यदि सब सोम अभक्ष्य होते, तो भ्रमण आदि के विधायक पाकविशेष के भक्षण का विधान न होता। परन्तु उसके विधान से यह सिद्ध है—कि उक्त याग में शेषसोम का भक्षण अवश्य होना चाहिये। अतः सब सोम भक्ष्य हैं।

सं०—'सर्वतः परिहारम्' वाक्य में केवल भ्रमण का ही विधान है, कि सोमभक्षण का भी।

**उ०प०सहा०—वचनानि त्वपूर्वत्वात्तस्माद्यथोपदेशं स्युः ॥ २१ ॥**

प०क्र०—'तु' शब्द का आशङ्का के दूर करने के लिए प्रयोग किया है। (वचनानि) 'सर्वतः परिहारम्' वचन भ्रमण आदि विशिष्ट-भक्षण का विधायक है, (अपूर्वत्वात्) अपूर्व अर्थ का प्रतिपादक होने से। (तस्माद् यथोपदेशं स्युः) अतः जहाँ विशिष्टभक्षण सुना जाता है, वहीं पर भक्षण का विधान है।

भा०—उक्त 'सर्वतः[१] परिहारम्' में भ्रमण नहीं बतलाया। किंतु भ्रमण आदि विशेषभक्षण की विधि कही गई है। यदि उन्हें विशेषविधिवाचक न माना जावे, तो भक्षण के अङ्ग भ्रमण का विधायक नहीं हो सकता। अत एव यही सिद्ध होता है, कि शेष सोम का भक्षण कर्त्तव्य हैं—अर्थात् करना चाहिये।

सं०—चमससंज्ञक सोमपात्रों में होता आदि ऋत्विक् द्वारा किये गये शेषसोम के भक्षण का निरूपण करते हैं।

सूचना—(१) सर्वतः परिहारमाश्विनं भक्षयति भक्षिताप्यायिताँश्चमसान् दक्षिणस्या सोऽवलम्बे सादयति—(शा०भा०) इति देव आचार्यः।

## ७—चमसिनां शेषभक्षाधिकरणम्—

**सि०प०—चमसेषु समाख्यानात्संयोगस्य तन्निमित्त-त्वात्॥ २२॥**

प०क्र०—(चससेषु) चामस-नामक-सोम-पात्रों में (समाख्यानात्) समाख्या के आधार पर शेषसोम को भक्ष्य कहा गया है। (संयोगस्य) क्योंकि वह समाख्या सम्बन्ध (तन्निमित्तत्वात्) भक्षण के हेतु है।

भा०—पात्रों की जो 'होतृचमसः' आदि यौगिकसंज्ञायें हैं, वे केवल होता आदि ऋत्विक् के किये गये शेषसोम भक्षण के लिये हैं। यदि सोमभक्षण न माना जावे, तो वे संज्ञायें बन ही नहीं सकती। क्योंकि 'चमस' का अर्थ है—चम्यते=भक्ष्यते सोमोऽस्मिन् पात्रविशेषे, स चमसः, 'अर्थात् सोम के पीने के विशेषपात्र को चमस कहते हैं।'*

सं०—'होतृचमसः' आदि दश पात्रों में से उद्गातृचमस नामक पात्रविशेष में जो 'सुब्रह्मण्य' सहित उद्गाता आदि चार ऋत्विज् शेष सोम का भक्षण करते हैं, उसका यहां निरूपण किया जाता है।

## ८—ससुब्रह्मण्योद्गातृभक्षाधिकरणम्—

**पू०प०—उद्गातृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात्॥ २३॥**

प०क्र०—(उद्गातृचमसम्) 'उदगातृचमस' नामकपात्र में बचे हुए सोम का (एकः) केवल एक उद्गाता ही भक्षण करे। क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) उस चमस के साथ उद्गातृ-शब्द का सम्बन्ध है।

भा०—यतः वाक्य में जो 'उद्गातृणाम्' पद आया है वह अनुष्ठान-भेद से कहा गया है। और उद्गीथ-गानकर्त्ता-ऋत्विग्—विशेष में उद्गातृ-शब्द-रूढ़ है। अतः अन्य सब ऋत्विजों को नहीं खाना चाहिये। अतः उस भक्षण को केवल उद्गाता ही करे।

सं०—प्रथमपक्ष का खण्डन करते हैं।

**उ०प०—सर्वे वा सर्वसंयोगात्॥ २४॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के दूर करने के लिए पढ़ा गया है। (सर्वे) पात्र में सब ऋत्विजों द्वारा शेषसोमका भक्षण करना ठीक है। (सर्वसंयोगात्) सबके वाचक बहुवचन (उद्गातृणाम्) का उस पात्र से

---

* उद्गाता जिस पात्रविशेष से सोम को ग्रहण करे, वह उद्गातृचमस। ब्रह्मचमस, और इसी प्रकार यजमानचमस आदि भी जानने चाहियें।

सम्बन्ध है।

भा०—यदि केवल एक उद्गाता को ही सोम का भक्षण बताया जाता, तो उस वाक्य में पूर्वोक्त बहुवचन का प्रयोग असङ्गत है। और अनुष्ठानभेद से, कल्पित बहुवचन का समर्थन करना कठिन है। अत: बहुवचन के द्वारा सबके साथ सम्बन्ध बन जाता है। इस कारण उक्त पात्र में सब ऋत्विजों को शेष-सोम का भक्षण करना चाहिये, यही श्रेष्ठ पक्ष है।

सं०—दूसरे पूर्वपक्ष का खंडन कर अब तीसरे पक्ष को कहते हैं।

**उ०प०स०—स्तोत्रकारिणां वा तत्संयोगाद् बहुश्रुतेः॥ २५॥**

प०क्र०—(वा) शब्द दूसरे पक्ष के खण्डन के लिये है। (स्तोत्रकारिणाम्) उस पात्र में 'उद्गाता', 'प्रस्तोता' और 'प्रतिहर्त्ता-इन तीनों को भक्षण करना चाहिये।' क्योंकि (तत्संयोगात्) उन तीनों के सम्बन्ध से ही (बहुत्वश्रुतेः) वहाँ बहुवचन का प्रयोग है।

भा०—उद्गाता-शब्द उद्गाता, प्रस्तोता, और प्रतिहर्त्ता इन तीन को छोड़ अन्य ऋत्विजों को नहीं कहता। अत: उक्त-पात्र में उद्गातृपद से उद्गाता आदि तीनों ऋत्विजों के लिए ही भक्षण का विधान है।

सं—प्रकारान्तर से निरूपण करते हैं।

**उ०प०—सर्वे तु वेदसंयोगात्कारणादेकदेशे स्यात्॥ २६॥**

प०क्र०—(तु) शब्द तृतीयपक्ष के खण्डन के लिये है। और सिद्धान्त का सूचक भी है। (सर्वे) यज्ञ में सामवेदियों और (सुब्रह्मण्य) इन चारों को खाना चाहिये। क्योंकि (वेदसंयोगात्) चारों का सामवेद के गान से सम्बन्ध है। एवं (एकदेशे) उद्गाता संज्ञक ऋत्विक् में जो उद्गातृ शब्द है, वह (कारणात्) 'उद्गीथ' संज्ञक सामवेदविशेष के गान के लिये (स्यात्) है।*

भा.—तीनों ऋत्विक् सामगान ही करते हैं। इसी कारण उद्गाता शब्द का प्रयोग किया गया है। उसी प्रकार 'सुब्रह्मण्य' ऋत्विक् भी गान करता है। परन्तु उद्गीथ गान करने से ही उद्गाता होता है। वैसे तो सब ही साम-गान करते हैं। अत: 'उद्गातृचमस' से उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्त्ता और सुब्रह्मण्य इन चारों को शेष का भक्षण करना चाहिये। यही सिद्धान्त है।

---

* कुमारिलभट्ट केवल तीन ही भक्षण करें—ऐसा मानते हैं। क्योंकि (सदसि) अर्थात् सदो नामक मण्डप में सुब्रह्मण्य जा नहीं सकता।

सं०—'हारियोजन[१]' नामक पात्र में ग्रावस्तुत्-संज्ञक-ऋत्विक् द्वारा कर्तव्य शेष-सोम के भक्षण का निरूपण करने के लिये पूर्वपक्ष स्थापित करते हैं।

### ९—ग्रावस्तुतस्सोमभक्षणाधिकरणम्—

### पू०प०—ग्रावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात्॥ २७॥

प०क्र०—(ग्रावस्तुतः) 'ग्रावस्तुत्' संज्ञक ऋत्विक् का (भक्षः) 'हारियोजन' संज्ञक पात्र में अवशिष्ट सोम का भक्षण (न विद्यते) नहीं होता। क्योंकि (अनाम्नानात्) उस पात्र में उसके भक्षण का विधान नहीं मिलता।

भा०—'ग्रावस्तुत्' चमसी नहीं, और उस वाक्य में चमसियों का भक्षण कहा गया है—कि 'यथाचमसमन्याँश्चमसान् चमसिनो भक्षयन्ति' इति। इससे प्रमाणित होता है कि अचमसी होने से ग्रावस्तुत् के लिए शेषसोम के भक्षण का विधान नहीं है। और जिसका विधिप्रयुक्त विधान नहीं, वह उस कथित पात्र के शेषसोम के भक्षण का अधिकारी नहीं हो सकता। अतः यही मानना ठीक है—कि वह शेषसोम ग्रावस्तुत् के लिए सर्वथा अभक्ष्य है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

### उ०प०—हारियोजने वा सर्वसंयोगात्॥ २८॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ है। (हारियोजने) 'हारियोजन' नामक पात्र में 'ग्रावस्तुत्' को भी शेषसोम भक्षण करने का अधिकार है। अतः उसको भी भक्षण करना चाहिये। क्योंकि (सर्वसंयोगात्) उक्त पात्रस्थसोम के भक्षण में उसका भी सम्बन्ध मिलता है।

भा०—'अथैतस्य हारियोजनस्य सर्व एव लिप्सन्ते' (शा० भा०)—इस वाक्य में सब को उस पात्र के सोम की इच्छावाला कहा है। अतः सर्व शब्द की महिमा के कारण 'ग्रावस्तुत्' को भी वह भक्ष्य हो जाता है। क्योंकि ब्रह्मादि उक्त सोम के इच्छुक पाये जाते हैं। और सर्व शब्द से सब का ग्रहण है। यदि केवल सब चमसियों का ग्रहएार करके, 'ग्रावस्तुत्' को

---

सूचना—(१) 'हरिरसि हारियोजनः' (तै०सं० १।४।२९), जै०न्या०मा०टी०। अर्थात् हे सोम! त्वं हरितवर्णोऽसि। हरितमश्वं रथे युनक्तीति हरियोजन इन्द्रः, तत्सम्बन्धी हारियोजनः, इन्द्रदेवताक इत्यर्थः—(जै०न्या०भा०टी०) इति देव आचार्यः। हारियोजने चमसिनामधिकारः, 'ग्रावस्तुत्' चमसी नास्ति, अतोऽस्य न भक्षणाधिकार इति पूर्वपक्षः (शा०भा०) इति देव आचार्यः।

चमसी न होनेके कारण उस पात्र (पात्रस्थ सोम) के 'भक्ष्य का अनधिकारी मानें, तो ठीक नहीं। क्योंकि चमसियों के सम्बन्ध का वहाँ विच्छेद हो जाने से, वह अग्रहणीय है। अतः 'ग्रावस्तुत्' को भी सब सोम का भक्षण करना चाहिये।

सं०—इसमें आशङ्का करते हैं।

**पू०प०—चमसिनां वा सन्निधानात्॥ २९॥**

प०क्र०—(वा) शब्द का आशङ्कार्थ प्रयोग है। (चमसिनाम्) वाक्य में सर्व शब्द से चमसियों का ग्रहण है। क्योंकि (सन्निधानात्) वहाँ उसकी सन्निधि है।

भा०—पिछले सूत्र में जो 'अथैतस्य हारियोजनस्य सर्व एव लिप्सन्ते' कहा गया है, इस से स्पष्ट है—कि जिन चमसियों का अपने-अपने चमस में भक्षण का विधान है, उन्हीं का सर्व शब्द से परामर्श करके उनके 'हारियोजन' संज्ञक पात्र के प्रति इच्छुक बतलाया गया है, चमसी अचमसी सब को नहीं। अतः सिद्ध हुआ—कि अचमसी होने के कारण हारियोजन-पात्र में 'ग्रावस्तुत्' को सोम का भक्षण करने का अधिकार नहीं है।

सं०—इस आशङ्का का समाधान करते हैं।

**उ०प०—सर्वेषां तु विधित्वात्तदर्था चमसि श्रुतिः॥ ३०॥**

प०क्र०—'तु' शब्द आशङ्का निवारण के लिये है। (सर्वेषाम्) चमसी, अचमसी, सब ऋत्विजों का सर्व शब्द से ग्रहण है। क्योंकि (विधित्वात्) हारियोजनपात्र से सर्वभक्षण का विधान है। (चमसि श्रुतिः) पूर्व वाक्य में चमसियों का ग्रहण (तदर्था) उस पात्र की प्रशंसा के लिये है।

भा०—अन्य चमसों को तो, 'चमसि'—ऋत्विक् यथाचमस भक्षण करते हैं, परन्तु हारियोजन ऐसा सुन्दर और प्रशांसनीय है। अतः यह प्रशंसा है, कल्पना नहीं। विशेषकर केवल चमसयियों के ग्रहण से तो प्रशंसा लब्ध नहीं हो सकती। अतः अन्य ऋत्विजों के समान 'ग्रावस्तुत्' ऋत्विक् को भीं उक्त पात्र में भक्षण करना चाहिये।

सं०—'वषट्कार' को भक्षण का निमित्त कहते हैं।

### १०—वषट्कर्तुः प्रथमभक्षाधिकरणम्—

**सि०प०—वषट्काराच्च भक्षयेत्॥ ३१॥**

प०क्र०—(च) तथा (वषट्कारात्) वषट्कार करने के कारण (भक्षयेत्) वषट्कारकर्ता (होता) शेष सोम का पूर्व भक्षण करे।

भा०—'वषट्कर्त्तुः प्रथमभक्षः' इस वाक्य में वषट्कारकर्ता को प्रथम भक्ष (प्रथमो भक्षकः) कहा है। अतः परिशेष से सिद्ध है—कि वषट्कर्त्ता के प्रथम सोमभक्षण का कारण वषट्कार है। तथ्य यह है—कि जैसे समाख्या तथा वाक्य यह दोनों सोमभक्षण में निमित्त हैं, उसी प्रकार वषट्कार भी सोमभक्षण में निमित्त है।

सं०—वषट्कार के समान हवन और सोमाभिषव इन दोनों को सोमभक्षण का निमित्त कथन किया जाता है।

**११—होमाभिषवयोर्भक्षनिमित्तत्वाधिकरणम्—**

**सि०प०—होमाऽभिषवाभ्यां च॥ ३२॥**

प०क्र०—(च) और (होमाभिषवाभ्याम्) होम और अभिषव यह दोनों भी सोमभक्षण के निमित्त हैं।

भा०—'हविर्धाने ग्रावभिरषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्य सदसि (भक्षान्) भक्षयन्ति'—इस वाक्य के द्वारा कूटने का तथा हवन का उपन्यास करके पुनः भक्षण का विधान किया गया है। अतः सिद्ध हुआ है—कि जिस प्रकार समाख्या, वाक्य तथा वषट्कार तीनों भक्षण में निमित्त हैं, उसी प्रकार सोमाभिषव और होम—यह दोनों भी निमित्त हैं।

सं०—वषट्कर्त्ता को वषट्कार के लिये चमसों में स्तेय भक्षण के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

**१२—भक्षणनिमित्तसमुच्चयाधिकरएाम्—**

**पू०प०—प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे॥ ३३॥**

प०क्र०—(चमसानाम्) चमसों के भक्षण में (प्रत्यक्षोपदेशात्) चमसियां निमित्त कही गई हैं। और (अव्यक्तः)'वषट्कर्त्तुः प्रथम-भक्षः'—यह वाक्य (शेष) चमस से पृथक् ग्रहों के भक्षण में है।

भा०—चमस से बाहर के ग्रहों में, होता के सोम भक्षण का निमित्त वषट्कार, और चमस में भक्षण का निमित्त उसका चमसपन है। अतः दोनों वाक्य व्यवस्थित हो जाते हैं। और इसी कारण चपस-पात्रों में वषट्कर्त्ता आदि के सोमभक्षण का निमित्त चमसित्व है, वषट्कार आदि का नहीं।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—स्याद्वा कारणभावादनिर्देशश्चमसानां कर्तुस्तद्-वचनत्वात्॥ ३४॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के खण्डन के लिये आया है।

(स्यात्) वषट्कारादि भी चमसों के भक्षण में निमित्त हैं। क्योंकि (कारणभावात्) वे कारणरूप कहे गए हैं। और (चमसानाम्) चमस भक्षण में (कर्तुः) चमसियों का (अनिर्देशः) निमित्त रूप से कथन न मिलने से (तद्वचनत्वात्)'यथाचमसम्' वाक्य सब चमसियों के भक्षण का विधान करता है, और अन्य का निवर्त्तक भी नहीं है।

भा०—होता तथा अध्वर्यु के चमसों के भक्षण में चमसी होने के समान, वषट्कार एवं होम आदि का कर्त्ता होना भी निमित्त है। अथवा वषट्कर्त्ता आदि का वषट्कार—आदि-निमित्तक चामसों में सोमभक्षण होता है, और यही मानना समीचीन भी है।

सं०—उक्तार्थ में लक्षण करते (हेतु देते) हैं।

**चमसे चान्यदर्शनात्॥ ३५॥**

प०क्र०—(च) और (अन्यदर्शनात्) चमसाध्वर्यु द्वारा वषट्कर्त्ता के लिए चमसों की प्राप्ति होने से (चमसे) वषट्कर्त्ता आदि का भी वषट्कार आदि निमित्तक चमस में सोमभक्षण सिद्ध है।

भा०—'चमसाँश्चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति, तान् स वषट्कर्त्रे हरति' (इति शा० भा०)—इस वाक्य द्वारा चमस 'चमसाध्वर्यु' को दिया जाता है। वह वषट्कर्त्ता को देता है। इस प्रकार पहिले आदान और पुनः प्रदान के द्वारा भक्षण के लिये ही शेषसोम दिया जाता है, न कि रक्षा के लिये। यदि वषट् करनेवाले चमस भक्षण के योग्य न होते, तो उन (वषट्कर्त्ताओं) के लिए देने का विधान न किया जाता। परन्तु किया गया है। इससे सिद्ध होता है— कि वषट्कर्ता आदि को भी वषट्कार आदि निमित्तक चमसों का भक्षण ठीक ही है।

सं०—एक पात्र में बहुतों के भक्षण का अधिकार होने पर, प्रथम होता भक्षण करे, इसको कहते हैं।

## १३—एकपात्रे होतुः प्रथमभक्षाधिकरणम्—

**पू०प०—एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षसेत्॥ ३६॥**

प०क्रं०—(एकपात्रे) एक ही पात्र में होता आदि ऋत्विजों के भक्षण का विधि होने से (अध्वर्युः) अध्वर्यु (होता) नामक ऋत्विक् (पूर्वः) प्रथम (भक्षयेत्) खावे। क्योंकि (क्रमात्) ऐसा ही क्रम है।

भा०—होम के पश्चात् जो सोमरस शेष रहता है, उसका सब ऋत्विज् भक्षण करते हैं। हवन करने वाला 'अध्वर्यु' होता है, वह सोमरस का

आहवनीय-यज्ञ में होम करता है। यह क्रिया अतिसन्निहित की है। और उसी होता के भक्षणविषयक है। इस कारण एक पात्र में सोमभक्षण अध्वर्यु को पहिले करना चाहिये, अन्य को नहीं।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

**उ०प०—होता वा मन्त्रवर्णात्॥ ३७॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के हटाने को आया है। (होता) होता को पूर्वभक्षण कर्त्तव्य है। क्योंकि (मन्त्रवर्णात्) वेदों में ऐसा ही है।

भा०—'होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत' इस मन्त्र से तो यह प्रतीत होता है, कि उससे पूर्व किसी को भी शेषहवि: का भक्षण नहीं करना चाहिये। अत: होता को सब से पूर्व शेष-हवि: का भक्षण बताया गया है। अत: इस समीचीन पक्ष से यह सार निकलता है, कि एक पात्र में अनेक-ऋत्विजों को भक्षण की प्राप्ति होने पर सब से प्रथम 'होता' को भक्षण करना चाहिये, 'अध्वर्यु' को नहीं।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

**उ०प०सहा०—वचनाच्च॥ ३८॥**

प०क्र०—(च) और (वचनात्) वाक्यविशेष से भी इसी कथित अर्थ की पुष्टि होती है।

भा०—'वषट्कर्तु: प्रथमभक्ष:' इस वाक्य में होता (वषट्कार कर्त्ता) का साक्षात् पूर्वभक्षण विहित है। जो कि सन्निधि के कारण हटाया नहीं जा सकता। अत: सिद्ध है—कि एकपात्र में अनेक ऋत्विजों के सोमसक्षण करते समय, पहिले होता को ही 'सोम' भक्षण करना चाहिये, अध्वर्यु को नहीं।

सं०—इस अर्थ में हेतु यह है कि—

**कारणानुपूर्व्याच्च॥ ३९॥**

प०क्र०—(च) तथा (कारणानुपूर्व्यात्) कारणक्रम से भी उस अर्थ की सिद्धि होती है।

भा०—होता तो वषट्कार करने के कारण, और अध्वर्यु होम करने के कारण सोमभक्षण करता है। इस क्रम के अनुसार पहिले होता को, और पीछे अध्वर्यु को सोमभक्षण करना चाहिये। अत: एक पात्र में अनेक ऋत्विजों का भक्षण प्राप्त होने पर पूर्वोक्त-क्रम ही उत्तम पक्ष है।

सं०—अनुज्ञापूर्वक सोमभक्षणा का निरूपण करते हैं।

### १४—भक्षस्याऽनुज्ञापूर्वकत्वाधिकरणम्—

### उ०प०सहा०—वचनादनुज्ञातभक्षणम्॥ ४०॥

प०क्र०—(अनुज्ञातभक्षणम्) अनुज्ञा (आह्वान) पूर्वक ही सोम का भक्षण करना चाहिये, यह बात (वचनात्) वाक्य द्वारा भी सिद्ध होती है।

भा०—'तस्मात् सोमो नानुपहूतेन पेयः' बिना बुलाये सोम-भक्षण न करे। क्योंकि तिरस्कार हो सकता है। जैसा कि लोक में भी देखा जाता है, अतः अनुज्ञापूर्वक ही सोमभक्षण कर्त्तव्य है, अनुज्ञारहित नहीं।

सं०—वेदमन्त्र द्वारा अनुज्ञा का निरूपण करते हैं।

### १५—वैदिकवचनेनानुज्ञापनाधिकरणम्—

### सि०प०—तदुपहूत उपह्वयस्वेत्यनेनानुज्ञापयेल्लिङ्गात्॥ ४१॥

प०क्र०—(तत्) सोमभक्षण का (उपहूत उपह्वयस्वेत्यने-नानुज्ञापयेत्) अर्थात् 'उपहूत उपह्वयस्व' इस मन्त्र से' अनुज्ञापन करे। क्योंकि (लिङ्गात्) मन्त्र में अनुज्ञापन की शक्ति है।

भा०—'उपहूत उपह्वयस्व' मन्त्र में 'उप' उपसर्ग के साथ (ह्वेञ्) धातु का प्रयोग किया गया है। उससे 'उपह्वान' स्पष्ट सिद्ध होता है, और इसी कारण मन्त्र का विनियोग भी किया गया है। अतः सोमभक्षण के निमित्त उस मन्त्र से अनुज्ञापन कर लेना ठीक है। किसी लौकिक वाक्य से नहीं।

सं०—अनुज्ञा के समान प्रतिवचन का भी वैदिकवाक्य से ही कथन करना चाहिये—इसका निरूपण करते हैं।

### १६—वैदिकवाक्येन प्रतिवचनाधिकरणम्—

### सि०प०—तत्रार्थात्प्रतिवचनम्॥ ४२॥

प०क्र०—(तत्र) वेदमन्त्र से ही (प्रतिवचनम्) उसका उत्तर देना चाहिये। (अर्थात्) अर्थ के कारण से, अर्थात् वेदमन्त्र द्वारा ऐसा होना पाया जाता है।

भा०—जब किसी को बुलाते हैं, तो वह उत्तर भी देता ही है—कि आवेंगे या नहीं। इसी भांति सोम को बुलाने पर जब अनुज्ञा वेदमन्त्र द्वारा होगी, तो उसका उत्तर भी मन्त्र द्वारा ही होगा। अतः इस वेद मन्त्र में दोनों ही विद्यमान हैं। अर्थात् 'उपह्वयस्व' से अनुज्ञा, और 'उपहूतः' से उत्तर दिया गया है।

सं०—एकपात्र में अनेक ऋत्विक्-कर्तृक भक्षण की अनुज्ञा को कहते हैं।

## १७—एकपात्राणामनुज्ञापनाधिकरणम्—

### सि०प०—तदेकपात्राणां समवायात्॥ ४३॥

प०क्र०—(तत्) सोमभक्षण का अनुज्ञापन (एकपात्राणाम्) एक पात्र में किया गया है। (समवायात्) समुदाय होने से। अतः उनको इसमें एकचित होकर भक्षण करना चाहिये।

भा०—अपने-अपने पात्र में भक्षण के लिये अनुज्ञा अनावश्यक है। क्योंकि पात्र नियत हैं, और ऋत्विक् अपने आप उसका भक्षण कर सकता है।

सं०—स्वयं यज्ञकर्त्ता होने से यजमान का सोमभक्षण निरूपण करते हैं।

## १८—स्वयं यष्टुर्भक्षणाधिकरणम्—

### पू०प०—याज्यापनये नापनीतो भक्षः प्रवरवत्॥ ४४॥

प०क्र०—(प्रवरवत्) वरण के समान (याज्यापनये) याज्या का अपनयन होने से (भक्षः) भक्षण का (न, अपनीतः) अपनयन नहीं होता।

भा०—'यजमानस्य याज्या सोऽभिप्रेष्यति होतरेतद्यजेति, स्वयं वा निषद्य यजति' इस वाक्य में बतलाया है—कि होता से याज्या का अपनयन करके यजमान को उसका पढ़ना विहित है। अपनयन का अर्थ छुड़ा लेना है। परन्तु होता के सोमभक्षण का निमित्त 'वषट्कार' है। यदि उक्त वाक्य में 'वषट्कार' का अपनयन होता, तो उसके नियतसम्बन्धी भक्षण का भी अपनयन होता। परन्तु अपनयन केवल याज्या का ही किया गया है। अर्थात् जिस ऋचा को होता पढ़ता है, वह ऋचा यजमान को पढ़नी है, न कि 'वषट्कार' का बोलना। क्योंकि याज्या ऋचा का पाठ करने पर भी होता का वरणी होना दूर नहीं होता। अतः यजमान के लिए भक्षण का भी होना नहीं कह सकते। इस कारण सोम का भक्षण होता को ही है, न कि यजमान को।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

### उ०प०—यष्टुर्वा, कारणागमात्॥ ४५॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये आया है। (यष्टुः) यागकर्त्ता यजमान को भी (कारणागमात्) याज्या के आगम से, भक्षण के निमित्त 'वषट्कार' का भी आगम प्राप्त है।

भा०—वषट्काररूपनिमित्त विद्यमान होने से यजमान को सोमभक्षण

अवश्य होना चाहिये, होता के लिये ही नहीं। क्योंकि भक्षण दोनों का निमित्त से है, और निमित्त का सहचारी भी निमित्ती होता है।

सं०—प्रवरवत् में दृष्टान्त देते हैं।

**उ०प०सहा०—प्रवृत्तत्वात्प्रवरस्यानपायः ॥ ४६ ॥**

प०क्र०—(प्रवरस्य) होता के धरणी होने का (अपनायः) अपनय नहीं होता। क्योंकि (प्रवृत्तत्वात्) वह प्रवृत्त हो चुकता है।

भा०—वरण भी वषट्कार के समान प्रथम यदि प्रवृत्त न होता, तो याज्या के अपनय से उसका भी अपनय होता। परन्तु प्रकृत होने से यागसमाप्ति के विना बीच में उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती।

सं०—'फलचमस' को योगार्थ निरूपण करते हैं।

**१९—फलचमसधिकरणम्—**

**फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥ ४७ ॥**

प०क्र०—(नैमित्तिकः) क्षत्रिय और वैश्य के लिये बनाया (फल-चमसः) फलचमस (भक्षविकारः) भक्षणीय है। क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) वाक्यशेष से यही प्रमाणित होता है।

भा०—ज्योतिष्टोम में 'स यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेत्, स यदि सोमं विभक्षयतिषेत्र, न्यूग्रोधस्तिभीराहृत्य[१] ताः सम्पिष्य, दधन्युन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्' इति।-इसमें 'क्षत्रिय तथा वैश्य' को भक्षण के लिये 'चमसफल' देना कहा है। अतः यह तत्त्व निकला, कि क्षत्रिय अथवा वैश्य के यजमान होने पर 'फलचमस' से यज्ञ के करने का नियम नहीं। केवल दोनों यजमानों को भक्षण के लिये 'फलचमस' के देने का नियम है। अतः वह भक्षण के निमित्त है, यज्ञ के लिये नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ४८ ॥**

प०क्र०—(वा) शब्द का पूर्वपक्ष के दूर करने के लिये प्रयोग किया गया है। (इज्याविकारः) फलचमस याग के निमित्त है। क्योंकि (संस्कारस्य) उसका संस्कार अर्थात् भक्षण (तदर्थत्वात्) याग के लिये होने से ही, बन सकता है।

---

(१)—स्तिभीः (शा०भा०)। स्तिभिनीः (मुकुलानि) (अ०न्या०मा०टी०) इति देव आचार्यः।

भा०—जब क्षत्रिय और वैश्य सोगयाग करावें, तो उनका याग फलचमस से कराना चाहिये। और उसी का शेष उसे भक्षण को दिया जावे। फलचमस के भक्षण का विधान ही, अन्यथा अनुपपन्न हुआ, अर्थात् अर्थापत्ति द्वारा, फलचमस को यागार्थ सिद्ध करता है, अर्थात् वह फलचमस याग के लिये है, न कि भक्षण के लिये।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

**उ०प०सहा०—होमात्॥ ४९॥**

प०क्र०—(होमात्) होम का अनुवाद पाया जाने से; वह सिद्धार्थ नहीं, अपितु विध्यर्थ (योगार्थ) है।

भा०—'यदाऽन्याँश्चमसाञ् जुह्वति, अथैतस्य दर्भतरुणकेनोपहत्य जुहोति'—इस कथन से फलचमस याग के लिये पाया जाता है। यदि उसकी आहुति न दी जाती, तो आहुति देने से पहिले दर्भमुष्टि से हिलाना विहित न होता। अतः क्षत्रिय अथवा वैश्य द्वारा किये गये यज्ञ में जो फलचमस का विधान है, वह याग के निमित्त है, भक्षणार्थ नहीं।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

**उ०प०सहा०—चमसैश्च तुल्यकालत्वात्॥ ५०॥**

प०क्र०—(च) तथा (चमसैः) चमसों द्वारा (तुल्यकालत्वात्) फलचमस के उठने का एक ही समय में विधान होने से भी वह पुर्वोक्त कथन प्रमाणित होता है।

भा०—'यदाऽन्याँश्चमसानुन्नयन्ति, अथैनं चमसमुन्नयन्ति'— इस वाक्य में अन्यचमसों और फलचमस की आहुति देने के लिये एक ही काल में उठाना बताया गया है। अतः वह यागार्थ है। यदि वह ऐसा न होता, तो अन्यचमसों के साथ उसका विधान न होता। अतः सिद्ध है—कि फलचमस यज्ञ के निमित्त है, न कि भक्षण के निमित्त।

सं०—उक्तार्थ में प्रमाण देते हैं।

**उ०प०सहा०—लिङ्गदर्शनाच्च॥ ५१॥**

प०क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी वह (पुर्वोक्त कथन) सिद्ध होता है।

भा०—'तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्न सोमम्'—यहाँ फलचमस का भक्षण के निमित्त देने का विधान है, न कि सोम का। अतः सोम का स्थानी फलचमस है। अतः क्षत्रिय और वैश्य के किये गये यज्ञ में जो फलचमस

का विधान है वह यज्ञनिमित्तक है, न कि केवल भक्षणनिमित्तक।

सं०—'दशपेय' संज्ञक यज्ञ में सोम के भक्षणार्थ यजमान-चमस के प्रति-भक्षण के लिये 'दश ब्राह्मणों का चलकर जाना' लिखा है, उसको कहते हैं।

## अथ विंशमनुप्रसर्प्यधिकणम्—

## पू०प०—अनुप्रसर्पिषु सामान्यात्॥ ५२॥

प०क्र०—(अनुप्रसर्पिषु) यजमान-चमस के प्रति-भक्षण के लिये दश-क्षत्रिय होने चाहियें। (सामान्यात्) ऐसा होने से यजमान के साथ एक जातित्व की प्राप्ति है।

भा०—'राजसूय' याग में क्षत्रिय को ही अधिकार है, अन्य को नहीं। अत: 'दशपेय' यज्ञ में 'दश दशैकैकं चमसमनुप्रसर्पन्ति' इस वाक्य में यजमान का क्षत्रिय होना सिद्ध है। अत: वहाँ दशक्षत्रिय का अनुप्रसर्पण मानने में दोष नहीं आता। क्योंकि यजमान का सजातीयत्व धर्म भी है। अत: वह 'अनुप्रसर्त्ता' क्षत्रिय ही हो, न कि ब्राह्मण।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

## उ०प०—ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात्॥ ५३॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष क निराकरण के लिये आया है। (ब्राह्मणा:) यजमानचमस के लिये अनुप्रसर्पणकर्त्ता ब्राह्मण हो, न कि क्षत्रिय। क्योंकि (तुल्यशब्दत्वात्) उसका केवल ब्राह्मण-शब्द से उपन्यास किया गया है।

भा०—'शतं ब्राह्मण सोमान् भक्षयन्ति' इस उपक्रम-वाक्य में १०० ब्राह्मणों के सोम-भक्षण का निरूपण किया गया है। अत: सिद्ध है—कि यजमानचमस के लिये सोमभक्षण के निमित्त दश यजमान का ब्राह्मणों का ही प्रसर्पण समीचीन है। यद्यपि क्षत्रिय होने से यजमान का ब्राह्मणों के साथ साजात्य नहीं, तब भी वह विजातीयत्व यागभूमि से बाहर लिया गया है। क्योंकि दीक्षित होने से यजमान का चमस 'ब्राह्मण-चमस' कहलाता है, न कि 'क्षत्रियचमस'। इसका कारण यह है, कि यज्ञ-दीक्षा के पश्चात् सब वर्ण के मनुष्य ब्राह्मण हो जाते हैं। अत: 'दशपेय' यज्ञ में यजमानचमस के लिये दश के अनुप्रसर्पण का कथन ठीक है। वह दश ब्राह्मण ही होने चाहियें, न कि क्षत्रिय।

**इति मीमांसादर्शने सभाषाभाष्ये पञ्चमः पादः समाप्तः॥**

## अथ तृतीयाध्यायस्य षष्ठः पादः प्रारम्भ्यते।

सं०—स्रुवादि पदार्थ खैर इत्यादि लकड़ी के होने योग्य हैं। अतः पूर्वपक्ष करते हैं।

### १—पर्णमय्यधिकरणम्—

### पू०प०—सर्वार्थमप्रकरणात्॥ १॥

प०क्र०—(सर्वार्थम्) प्रकृति तथा विकृति दोनों यागों में खैर की लकड़ी के स्रुवादि—यज्ञीयपात्र बनाने का विधान है। (अप्रकरणात्) क्योकि यह किसी पाठ में नहीं पढ़ा गया।

भा०—'यस्य[१] पर्णमयी जुहूर्भवति, न स पापं श्लोकं शृणोति'—यह वाक्य प्रकरण में पढ़े गये हैं, परन्तु 'य[२]स्य खादिरः स्रुवो भवति स छन्दसामेव रसेनावद्यति, सरसा अस्याहुतयो भवन्ति-'-ये वाक्य किसी प्रकरण में नहीं पढ़े गये, अपि तु अप्रकरणपठित हैं। अतः उनका प्रकृति और विकृति दोनों यागों के साथ सम्बन्ध हो सकता है। क्योंकि दोनों यागों में स्रुवादि की आवश्यकता होती है। अतः इनमें खैर आदि के स्रुवों का वर्णन नहीं है, किन्तु प्रकृति और विकृति याग का ही वर्णन है।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

### उ०प०—प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात्॥ २॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष क निराकरणार्थ प्रयुक्त किया गया है। (प्रकृतौ) दर्शपूर्णमास यागों में ही उनका सम्बन्ध मानना चाहिये। (द्विरुक्तत्वात्) क्योंकि ऐसा करने से द्विरुक्ति प्राप्त नहीं होती।

भा०—यद्यपि खदिरत्वादि का अप्रकरणपठित होने से प्रकृति और विकृति दोनों भाँति के यज्ञों से सम्बन्ध हो सकता है। इसी कारण 'यस्य खादिरः स्रुवः' इत्यादि विधिवाक्य दर्शपूर्णमासप्रकृतियाग में ही विहित हैं। अतः स्त्रु वादि पात्र खदिरादि के होने चाहियें।

सं०—पुनः पूर्वपक्ष करते हैं।

### तद्वर्जं तु वचनप्राप्ते॥ ३॥

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष को सूचित करता है। (तद्वर्जम्) अप्रकरणपठित को छोड़कर (वचनप्राप्ते) जो विधिपूर्वक प्रकृतियाग में होता है, उसमें प्रेरकवाक्य की प्रवृत्ति होती है। अतः खदिरादि-वाक्य

---

सूचना—(१) तै०सं० ३।५।७।२।, (२) तै०सं० ३।५।७।१।

प्रकृति विकृति दोनों के लिए हैं।

भा०—प्रेरणा करनेवाले वाक्यों से अप्रकरणपठित वाक्य शक्तिवाला होता है। और वह निराकाङ्क्ष भी होता है। इससे प्रवृत्ति भी नहीं होती। और उसके न होने से प्रकृतियाग से विकृतियाग में खैर आदि का याग (सम्बन्ध) होना भी असम्भव सा है। अतः ठीक न होने से प्रकृति और विकृति दोनों में वह वाक्य खदिर आदि का विधायक है, न कि केवल प्रकृति में ही विधायक है।

सं०—उक्त पूर्वपक्ष में सिद्धान्ती शङ्का करता है।

**पू०प०—दर्शनादिति चेत्॥ ४॥**

प०क्र०—(दर्शनात्) प्रकृति में विकृति के धर्म का योग होने से, सर्वत्र प्रेरकवाक्य में प्रवृत्ति प्रमाणित होती है। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे तो।

भा०—'प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति'* इस वाक्य से अनुवाद करके कृष्णल के हवन का विधान किया है। इससे प्रमाणित होता है, कि अप्रकरणपठितवाक्य से विहित-धर्म का भी प्रेरकवाक्य द्वारा विकृतियागं में सम्बन्ध होता है। क्योंकि अनुवाद, अप्राप्त का नहीं होता है। अर्थात् 'प्रयाज' नामक होमों का जो अनुवाद विकृति यागों में मिलता है, वह प्रेरकवाक्यों की प्रवृत्ति के विना नहीं हो सकता। और जैसे अप्रकरण-पठितवाक्य से प्रयाज विहित है, उसी भाँति खदिर आदि धर्म भी विहित हैं। अतः अप्रकरणपठितवाक्य प्रकृति और विकृति दोनों यागों में खदिरत्व के विधान करनेवाले नहीं हैं, वे तो केवल प्रकृतियाग में ही विधान करते हैं।

सं०—सिद्धान्तवादी की आशङ्का का पूर्वपक्षी समाधान करता है।

**पू०उ०प०—न चोदनैकार्थ्यात्॥ ५॥**

प०क्र०—(न) यह उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि (चोदनै-कार्थ्यात्) प्रकृति और विकृति दोनों यागों में एकसी ही विधि है।

भा०—प्रकृति और विकृति दोनों यागों में एक समान (एक प्रकार की) विधि मिलती है। अतः यह कथन—(कि उक्त वाक्य प्रयाजों का अनुवाद कर कृष्णलों के हवन का विधान करता है, न कि कृष्णलहवननामक प्रयाजों का विधायक है। इसी कारण वह कृष्णल होम का विधान करता

---

* माशे के पांचवें भाग को 'कृष्णल' कहते हैं।

है) ठीक नहीं बनता। अत एव अप्रकरणपठितवाक्य केवल प्रकृतियाग में ही खदिरत्व का विधायक नहीं, किन्तु प्रकृति और विकृति दोनों यज्ञों में खदिरत्व का विधायक है, यह मानना चाहिये।

सं०—सिद्धान्ती पुनः आशङ्का करता है।

**सि०पू०प०—उत्पत्तिरिति चेत्॥ ६॥**

प०क्र०—(उत्पत्तिः) विधिवाक्य द्वारा सम्पूर्ण-धर्मों का प्रकृतियाग से साक्षात् स्वाभाविक-सम्बन्ध है, विकृतियाग से नहीं। (चेत्) यदि (इति) ऐसा माना जावे तो।

भा०—यद्यपि खदिरत्व-धर्म अप्रकरणपठित विधिवाक्य से विहित है, तथापि उसका प्रकृति-विकृति दोनों यागों में समान विधान नहीं माना जा सकता। क्योंकि जब दोनों याग समान नहीं, तो उनके साथ समान-सम्बन्ध कैसे बन सकता है। अत एव विहित धर्मों का प्रकृतियाग के साथ साक्षात् सम्बन्ध होना सम्भव है, विकृतियाग के साथ नहीं। अतः उक्त वाक्य प्रकृति और विकृति दोनों यागों में साधारणतया (समानभाव से) खदिरत्व के विधान करनेवाले नहीं, किन्तु केवल प्रकृतियाग में ही विधान करनेवाले हैं।

सं०—इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है।

**पू०उ०प०—न, तुल्यत्वात्॥ ७॥**

प०क्र०—(न) यह कथन ठीक नहीं। (तुल्यत्वात्) क्योंकि चह खदिरत्वादि धर्म प्रकृति और विकृति दोनों यागों में समान रूप से विहित है।

भा०—'यस्य खदिरः' यह वाक्य प्रकृति और विकृति दोनों में समान है। अतः दोनों में ही खदिरत्व धर्म को विधान करते हैं। केवल प्रकृतियाग मं ही नहीं।

सं०—इस पक्ष का सिद्धान्ती द्वारा समाधान।

**सि० प०—चोदनार्थकात्स्न्यार्त्तु मुख्यविप्रतिषेधात्प्रकृत्यर्थः॥ ८**

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष की हानि के निमित्त है। (प्रकृत्यर्थः) प्रकृतियाग के लिये विधान है, न कि विकृति के निमित्त। (चोदनार्थ-कात्स्न्र्यात्) प्रेरकवाक्य से सर्वधर्म मिलने से। (मुख्यविप्रतिषेधात्) मुख्यविप्रतिषेध से दोनों के विधायक है, इसमें दोष आता है।

भा०—जहाँ कोई धर्म अप्राप्त हो, वहाँ ही विधान माना जाता है। और जो किसी उपाय से मिल सके, वहाँ विधान अनपेक्षित होता है। यदि

खदिरत्व धर्मों का प्रकृतियाग में विधान भी मान लें तो विकृतियाग में उसकी प्राप्ति प्रेरकवाक्यों से स्वयमेव ही होगी। अतः सिद्ध है—कि उक्त वाक्य केवल प्रकृतियाग में स्रुवादि पात्रसम्बन्धी खदिरत्व-धर्मों के विधायक हैं, प्रकृति अथवा विकृति दोनों में नहीं।

सं०—विकृतियाग में सामिधेनियों की सप्तदश संख्या का निरूपण करते हैं।

**प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विरोधि स्यात्॥ ९॥**

प०क्र०—(तु) शब्द सिद्धान्त की सूचना के लिये है। (विरोधि) सामिधेनियों की पञ्चदश संख्या की प्रतिद्वन्दी सप्तदश संख्या (विकृतौ) विकृतयज्ञ में (स्यात्) विहित है, न कि प्रकृति याग में, (प्रकरणविशेषात्) प्रकरणविशेष से उसमें पञ्चदश संख्या आती है।

भा०—यदि प्रकृतियाग में पञ्चदश तथा सप्तदश दोनों प्रकार की संख्या का निवेश है, तो यह शङ्का होगी, कि पञ्चदश अथवा सप्तदश में कौनसी ठीक संख्या है। अतः प्रत्यक्षप्राप्त सामिधेनियोंको छोड़कर पञ्चदश आनुमानिक सामिधेनियां को ही आदर दिया जा सकता है। अतः सप्तदश सामिधेनियों उक्त प्रकृतियाग के लिये हैं, विकृतियाग के लिये नहीं।

सं०—प्रकृतियाग में सप्तदश सामिधेनियों के विधान का निरूपण करते हैं।

**उ०प.—नैमित्तिकं तु प्रकृतौ तद्विकारः संयोगा-विशेषात्॥ १०॥**

प०क्र०—(तु) शब्द सिद्धान्त के सूचनार्थ प्रयुक्त हुआ है। (नैमित्तिकम्) वैश्यनिमित्तक विहित सप्तदश सामिधेनियों के (प्रकृतौ) प्रकृतियाग में होने से, वे सप्तदश सामिधेनियां। (संयोगविशेषात्) वाक्यविशेष से विहित होने के कारण (तद्विकारः) पूर्वविहित पञ्चदश सामधेनियों की बाधक हैं।

भा०—सप्तदश सामिधेनियाँ, जो कि वैश्य के निमित्त विहित की हैं, वे प्रकृतियाग में पठित हैं। उनमें यजमान के वैश्य होने से वैश्यनिमित्तक सप्तदश सामधेनियों की विधि पाई जा सकती है। क्योंकि पूर्वविहित पञ्चदश सामधेनियाँ सामान्य होने से नैमित्तिक (वैश्य नि० १७ सा०) सामधेनियों की प्राप्ति में प्रतिबन्धक नहीं हैं। अतः सिद्ध हुआ—कि वैश्यनिमित्तक जो सप्तदश सामधेनियाँ विहित हैं, उनका विकृतियाग में निवेश नहीं है, किन्तु

प्रकृतियाग में ही निवेश मिलता है।

सं०—अब अग्न्याधान को 'पवमान' आदि इष्टियों का अङ्ग न होना प्रमाणित करते हैं।

### ४—पवमानेष्ट्यधिकरणम्—

### पू०प०—इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात्॥ ११ ॥

प०क्र०—(अग्न्याधेयम्) आग्न्याधान (इष्ट्यर्थम्) पवमान आदि इष्टियों का अङ्ग है। क्योंकि (प्रकरणात्) उनके प्रकरण में उसका विधान है।

भा०—'अग्नये पवमानायाष्टाकपालं निर्वपेत्' इत्यादि विधिवाक्यों में जो पुरोडाश प्रदान करने का विधान है। उसका यह सारांश है—कि जिसके लिये जो होता है, वह उसका अनिवार्य रूप से अङ्ग होता है। अतः अग्न्याधान का आहवनीय आदि अग्नियों के लिये, और उन आहवनीय आदि अग्नियों का इष्टियों के लिये होना ठीक ही है। आधान का साक्षात्-सम्बन्ध के समान यहाँ परम्परा-सम्बन्ध है। अर्थात् अग्न्याधान का पवमान-संज्ञक इष्टियों के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होते हुए भी आहवनीय आदि के द्वारा परम्परा सम्बन्ध है। अतः यह सिद्ध है—कि पवमान इष्टियों में जो अग्न्याधान विहित है, वह उन इष्टियों का अङ्ग है।

सं०—अब पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

### उ०प०—न वा तासां तदर्थत्वात्॥ १२ ॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ प्रयुक्त है। (न) पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं। क्योंकि (तासाम्) वे इष्टियाँ (तदर्थत्वात्) आहवनीय आदि अग्नियों के संस्कार के लिये विहित की गई हैं।

भा०—अग्न्याधान और पवमानेइष्टि—ये दोनों आहवनीय आदि अग्नियों के संस्कार बतलाये गये हैं, न कि एक दूसरे के लिये विहित हैं। और जो आधान का विधान उस प्रकरण में है, वह दोनों अग्निसंस्कार के प्रयोजन से है, न कि अङ्गाङ्गी भाव से। यदि अग्न्याधान को उन इष्टियों का अङ्ग मानें, तो वे फलवाली भी मानी जावेंगी, परन्तु वे फलहीन हैं। अतः पवमान आदि नामवाली इष्टियों में जो अग्न्याधान विधान किया गया है, वह उनका अङ्ग नहीं है।

सं०—अब इसको लक्षण से (हेतु द्वारा) प्रमाणित करते हैं।

### उ०प०स०—लिङ्गदर्शनाच्च॥ १३ ॥

प० क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) उसके लक्षण मिलने से भी

अर्थ की प्रामाणिकता है।

भा०—'जीर्यति वा एष आहित: पशुर्यदग्नि:, तदेतान्येव अथवा - धेयस्य हवींषि संवत्सरे निर्वपेत् तेन वा एष न जीर्यति, तेनैनं पुनर्न नवं करोति'—इस वाक्य में यह कहा गया है-कि स्नान न करने से शरीर जीर्ण होता है। अत: प्रतिदिन प्रात: स्नान करे। उसी प्रकार अग्नि का संस्काररूप धर्म (अग्निहोत्र) भी कर्त्तव्य है। अर्थात् गर्भाधान की भांति अग्न्याधान संस्कार भी कर्त्तव्य ही है। दोनों संस्कारकर्म होने से एक दूसरे के अङ्ग नहीं है। अत एव अग्न्याधान उन इष्टियों का अङ्ग नहीं कहा जा सकता। किन्तु दोनों आहवनीय अग्नि के निमित्त ही हैं, यही मानना समुचित है।

सं०—अग्न्याधान को विकृति तथा प्रकृति सब-वैदिक-कर्मों का अङ्ग बतलाने के लिए पूर्वपक्ष करते हैं।

### ५—प्रकृतिविकृत्यर्थताधिकरणम्—

### पू०प०—तत्प्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्यवादा: ॥ १४ ॥

प० क्र०—(यथा) जिस प्रकार (अन्ये-अनारभ्यवादा:) अप्रकरण पठित वाक्य आदि विहित खादिरत्वादि धर्म प्रकृतियाग के लिये हैं। उसी प्रकार (तत्) अग्न्याधान भी (प्रकृत्यर्थम्) प्रकृतियाग के निमित्त है।

भा०—अप्रकरणपठित होने के कारण खादिरत्वादि के समान अग्न्याधान भी केवल प्रकृतियाग के लिये है। अत: आधानकृत अग्नि में केवल प्रकृति नामवाले याग ही कर्त्तव्यरूप से विहित हैं, विकृतिसांज्ञावाले याग कर्त्तव्य नहीं। अर्थात् अग्न्याधान केवल प्रकृतियाग का अङ्ग है, प्रकृति अथवा विकृति दोनों का नहीं।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

### उ०प०—सर्वार्थं वाऽऽधानस्य स्वकालत्वात् ॥ १५ ॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के खण्डन के लिये आया है (सर्वार्थम्) अग्न्याधान प्रकृति-विकृति दोनों कर्मों के निमित्त है। (आधानस्य स्वकालत्वात्) क्योंकि उसका आधान समय नियत है।

भा०—अग्न्याधान-कर्म प्रत्यक्ष तथा किसी वैदिक कर्म का अङ्ग नहीं, किन्तु आहवनीय आदि अग्नियों में होता है। और वे अग्नियां प्रकृति और विकृति सब प्रकार के कर्मों में हैं। क्योंकि कोई भी वैदिक-कर्म उनके विना शास्त्रोक्त फल नहीं दे सकता। अत: उनके होते हुए आधान संस्कार सब स्थानों में होना चाहिये। क्योंकि सर्वत्र विद्यमान का संकोच प्रमाणरहित

है। अतः अग्न्याधान कर्म अग्नियों के द्वारा प्रकृति तथा विकृति दोनों कर्मों का अङ्ग है, न कि केवल प्रकृतिकर्म का।

सं०—पवमान इष्टि असंस्कृत अग्नि में कर्त्तव्य है, इसका निरूपण करते हैं।

## ६—पवमानेष्ट्यनतिदेशाधिकरणम्—

### पू०प०—तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत्स्यात्॥ १६॥

प०क्र०—(प्रयाजवत्) जिस प्रकार 'प्रयाज' नामक होम (प्रकृतितः) 'दर्शपूर्णमास' यज्ञ से होनेवाले 'आहवनीय' आदि सिद्ध (संस्कृत) अग्नि में होते हैं। उसी भाँति (तासाम्) 'पवमान' इष्टियां भी (अग्निः) उस सिद्ध (संस्कृत) अग्नि में ही (स्यात्) होनी चाहियें।

भा०—जिस भांति प्रथम 'अग्न्याधान' से आधान की गई 'आहवनीय' आदि अग्नि का पवमान आदि इष्टियों द्वारा संस्कार करके, पश्चात् 'दर्शपूर्णमास' आदि प्रधान इष्टियां की जाती हैं, और उन इष्टियों में विनियुक्त सिद्ध (संस्कृत) अग्नियों में प्रयाज आदि अङ्ग इष्टियां की जाती हैं, उसी भांति पवमान इष्टियां भी 'दर्शपूर्णमास' आदि प्रधान इष्टियों में विनियुक्त सिद्ध (संस्कृत) अग्नि में ही कर्त्तव्य हैं। क्योंकि इष्टित्वरूपधर्म के सदृश होने पर, अग्नि की विषमता, विना किसी पुष्टप्रमाण के मानी नहीं जा सकती। अत एव वे इष्टियां सिद्ध (संस्कृत) अग्नि में ही करनी ठीक हैं 'असिद्ध' (असंस्कृत) अग्नि में नहीं।

सं०—उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

### उ०प०—न वा तासां तदर्थत्वात्॥ १७॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के दूर करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। (न) पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं। क्योंकि (तासाम्)'पवमान' इष्टियाँ (तदर्थत्वात्) अग्नि के संस्कारार्थ विहित की गई हैं।

भा०—'प्रयाज' 'दर्शपूर्णमास' का अङ्ग है, वह अङ्गी (दर्शपूर्णमास) यज्ञ सिद्ध (संस्कृत) अग्नि द्वारा ही हो सकता है। परन्तु पवमान इष्टियाँ उस यज्ञ का अङ्ग का अङ्गरूप नहीं हैं। इस कारण पवमान इष्टियाँ, प्रयाज के समान प्रकृतियाग द्वारा सिद्ध (संस्कृत) अग्नि में नहीं की जा सकतीं। क्योंकि 'पवमान' इष्टियाँ होने से 'अग्नि' संस्कृत होता है। और संस्कृत अग्नि का प्रकृतियज्ञ में विनियोग किया जाता है। अतः प्रेरकवाक्य से वे इष्टियाँ प्राप्त होनी असम्भव हैं। इस अप्राप्ति के कारण ही वे अग्नियों (संस्कृत

अग्नियों) से अकर्त्तव्य हैं। असंस्कृत अग्नि का मिलना तो सर्वत्र सुलभ है। उसके द्वारा वे इष्टियाँ भी ठीक ठीक संपन्न हो जाती हैं। अतः यह सिद्ध हुआ कि 'पवमान' इष्टियाँ असिद्ध (असंस्कृत) लौकिक अग्नियों से ही होनी चाहियें। 'आहवनीय' आदि सिद्ध (संस्कृत) अग्नियों से नहीं।

सं०—'उपाकरण' आदि को आग्नीषोमीय पशु का धर्म प्रमाणित करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

### ७-पशुधर्माणमग्नीषोमीयार्थत्वाधिकरणम्—

**पू०प०—तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरण-विशेषात्॥ १८॥**

प०क्र०—(पशुविधिः) पशु-उदेश्य से विहित उपाकरण आदि विधियाँ अथवा धर्म (सर्वेषाम्) सब अग्निीषामीय पशुओं के (तुल्यः) सदृश हैं। क्योंकि (प्रकरणाविशेषात्) प्रकरण द्वारा सब पशुओं के साथ समान सम्बन्ध मिलता है।

भा०—यदि उक्त (उपाकरणादि[१]) धर्म अग्नीषोमीय आदि पशुओं के बीच किसी एक पशु के प्रकरण में विधान किये गये होते, तो उनका किसी एक के प्रकरण में ही विधान माना जाता। परन्तु ऐसा विधान न होने से, तथा साधारण रूप से विहित होने के कारण उपाकरणादि धर्म का किसी विशेषपशु व्यक्ति में कल्पना करना ठीक नहीं। अतः ज्योतिष्टोम में जो उपाकरण आदि पशु-धर्म कहे गये हैं, वे अग्नीषोमीय इत्यादि सब पशुओं के विधान किये गये हैं। उसका विचार करने से प्रतीत होता है, कि वे किसी एक के नहीं।*

---

१. उपाकरणम्, उपानयनम्, अक्षया बन्धः, यूपे नियोजनम्, नयनम्, संज्ञपनम्, विशसनमित्यवमादय इति देव आचार्यः।

* ज्योतिष्टोम यज्ञ में तीन पशुओं का 'दान' होता है। उनके क्रमशः अग्नीषोमीय, सवनीय और अनुबन्ध्य नाम हैं। जो औपवसथ्य दिन में किया जाता है, वह अग्नीषोमीय, सौत्यसंज्ञक दिन में प्रदत्त सवनीय और 'अवभृथ' संज्ञक इष्टि के पश्चात् दिया हुआ पशु अनुबन्ध्य कहलाता है। यहाँ यह समझना चाहिये कि यज्ञ के आरम्भ के दिन को 'औपवस्थ्य', सोम कूटकर रस निकालने वाले दिन को 'सौत्य', और 'अवभृथ' संज्ञक स्नान के पश्चात् अङ्गभूत इष्टि को 'अवभृथ' कहते हैं। और 'इमं पशुम्' (तै०सं० ३।१।४) और 'प्रजापतेर्जायमानाः' (तै०सं०३।१।४) इस मन्त्र द्वारा पशु स्पर्श को उपाकरण कहते हैं। यहाँ पर मिट्टी और शक्कर मिली वेदी बनाई जाती है। वह धिष्ण्य कहलाती है और यज्ञशाला को अग्निघ्र (आग्नीध्र) कहते हैं।

सं०—पुन: पूर्वपक्ष कहते हैं।

**पू०प०स०—स्थानाच्च पूर्वस्य॥ १९॥**

प०क्र०—यहाँ (च) शब्द पूर्वपक्ष का द्योतक है। (पूर्वस्य) वे धर्म अग्नीषोमीय के हैं। क्योंकि (स्थानात्) उसकी सन्निधि में पाठ है।

भा०—जो कर्म जिसकी सन्निधि में विहित होता है, वह उस कर्म का विधान करता है, न कि किसी अन्य का। उपाकरणादि धर्म 'अग्नीषोमीय' आदि सब पशुओं की सन्निधि में विधान किये गये हैं। अत: वे सब के धर्म हैं। परन्तु प्रथमपशु की सन्निधि में विधान किये जाने से तथा दिनों और स्थानों के विचार से उसी दिन उनके दान का विधान है। अत: दोनों का स्थान एक होने से वे धर्म आदि, सब पशुओं में होते, तो अग्नीषोमीय पशु सन्निधि में विधान न किये जाते। परन्तु किये जाने से अनुमान है कि वह उसी के हैं सब के नहीं।

सं०—तृतीय पूर्वपक्ष किया जाता है।

**पू०दे०सि०—श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक्श्रुतिर्गुणार्था॥ २०॥**

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष की सूचना देता है। (श्व:) वह धर्म सवनीय पशु के हैं। (एकेषाम्) शाखान्तर में उनका सम्बन्ध होने से। (तत्र) उन धर्मों का (प्राक्श्रुति:) जो सौत्य दिवस से पूर्व प्रथम औपवसथ्य दिवस में श्रवण होते हैं। (गुणार्था) वे गौण हैं।

भा०—'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति' इस वाक्य में उपाकरण बतलाया गया है। यह सवनीय पशु का उपाकरण संस्कार बताया है, अर्थात् सौत्य दिन को औपवसथ्य दिवस के अतिनिकट होने से, उससे प्रदेय सवनीय-पशु की भी समीपता है। इसी समीपता के कारण औपवसथ्य दिन में उस कार्य का विधान है, न कि अग्नीषोमीय पशु के प्रयोजन से। अत: वह धर्म सवनीय पशु के ही हैं, अग्नीषोमीय के नहीं।

सं०—इस अर्थ में आशङ्का करते हैं।

**पू०प०—तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत्॥ २१॥**

प०क्र०—(तेन) आश्विनवाक्य में (उत्कृष्टस्य) उत्तरकृत्य सवनीय-पशु का (कालविधि:) अनुष्ठान विहित है। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो।

भा०—'आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा' इसमें सवनीय पशु के उपाकरण का

विधान नहीं मिलता, किन्तु उसमें उसके अनुष्ठान का समय बतलाया गया है। सवनीय-पशु का उपाकरण-संस्कार आश्विनग्रहण के पश्चात् होना ठीक है। क्योंकि यदि उसमें काल का विधान विहित न होता तो 'क्त्वा' प्रत्यय का प्रयोग न होता। अतः स्पष्ट है, कि यह वाक्य काल का विधायक है।

सं०—आशङ्का का समाधान करते हैं।

**उ०प०—नैकदेशत्वात्॥ २२॥**

प०क्र०—(न) यह पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं। क्योंकि (एकदेशत्वात्) एकदेशीयविधान से समुदाय को विहित बतलाया गया है।

भा०—'आश्विन' वाक्य में उपाकरण आदि संस्कारों के एक-देशीय उपाकरणमात्र का ग्रहण है, और इसी कारण संपूर्ण संस्कारों का ग्रहण सिद्ध है। ऐसी दशा में वह वाक्य कालविधायक नहीं रहता, और उसमें वाक्यभेद दोष भी आता है। परन्तु दो अर्थों का विधायक मानने से वह दोष नहीं रहता। क्योंकि ऐसा नियम है-कि एक वाक्य एक ही व्यापार के दो अर्थ का तो विधायक हो सकता है, परन्तु अनुवादक और विधायक नहीं हो सकता है। अतः वे सब संस्कार सवनीय-पशु के विधान किये गये हैं, अग्नीषोमीय के नहीं।

सं०—पुनः आशङ्का करते हैं।

**पू०प०—अर्थेनेति चेत्॥ २३॥**

प०क्र०—(अर्थेन) अर्थ के द्वारा सब का ग्रहण है, न कि साक्षात्। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो,

भा०—एकदेश के ग्रहण से समुदाय का ग्रहण होते हुये भी समुदाय विधान का लाभ नहीं होता। परन्तु एकदेशानुवाद से समुदायानुवाद होना सम्भव है, तथा अनुवादपक्ष में वाक्यभेद रूप दोष का कथन भी ठीक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अनुवादपूर्वक समय का विधान ठीक है। अतः आश्विनवाक्य पूर्व विधान किये उपकरण आदि संस्कारों के अनुवादक हैं, सवनीय पशु के धर्म उपाकरण आदि के विधायक नहीं।

सं०—इस आशङ्का का परिहार करते हैं।

**उ०प०—न श्रुतिविप्रतिषेधात्॥ २४॥**

प०क्र०—(न) यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि (श्रुतिविप्रतिषेधात्) ऐसा मानने से साक्षात् श्रुति का विरोध होता है।

भा०—'श्रुताश्रुतयोः श्रुतं बलीयः' श्रुत तथा अश्रुत दोनों में श्रुत बलवान्

माना गया है। सवनीय पशु में उपाकरण आदि धर्म श्रुत हैं, उनको न लेकर प्रेरणावाचक (चोदक) वाक्य से प्राप्त अश्रुत का ग्रहण करना अनुचित है। अत एव ज्योतिष्टोमयाग में जो उपाकरणादि पशुधर्म विधान किये गये हैं, वे सवनीय-पशु के ही मानने चाहियें। क्योंकि वहाँ अग्नीषोमीय पशु का विधान नहीं है।

सं०-पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०-स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात्॥ २५॥**

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण करता है। (पूर्वस्य) वे धर्म अग्नीषोमीय पशु के विधान किये गये हैं। क्योंकि (स्थानात्) सन्निधिरूप प्रमाण है। तथा (संस्कारस्य) संस्कारमात्र को (तदर्थत्वात्) अग्नीषोमीय पशु के लिये होने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भा०—उपकरणादि जो पशु के संस्कार बतलाये गये हैं, वे पशु के उद्देश्य से हैं, न कि यज्ञोद्देश्य से। सब पशुओं में अग्नीषोमीय पशु ही मूल एवं प्रथम है। अत एव उसका अग्नीषोमीय के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध, और सवनीय के साथ आतिदेशिक सम्बन्ध है।

सं०-उक्तार्थ में लिङ्ग (प्रमाण) कहते हैं।

**उ०प०—लिङ्गदर्शनाच्च॥ २६॥**

प०क्र०-(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्गरूप प्रमाण से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भा०—'अग्नीषोमीयेन पुरोडाशेन प्रचरति'-इस वाक्य से विधान करके 'पुरोडाशेन माध्यन्दिने-सवने'-इससे माध्यन्दिन में पुरोडाश से हवन बतलाया गया है। इससे प्रतीत होता है, कि वहाँ पुरोडाशानुवादपूर्वक जो माध्यन्दिनकाल विधान किया है, वही उक्तार्थ में लिङ्ग है।

अत एव मानना चाहिये-कि अग्निष्टोम में उपाकरणादि धर्म का विधान अग्नीषोमीय-निमित्तक है, सवनीयादिनिमित्तक नहीं। क्योंकि उसमें उनका आदि देश से सम्बन्ध है।

सं०—'आश्विनम्' और पुरोडाशेन' ये उभय वाक्य हैं, काल विधायक नहीं, इसका उत्तर—

**उ०प०—अचोदना गुणार्थेन॥ २७॥**

प०क्र०—(गुणार्थेन) दोनों वाक्य को अर्थवादत्व होने से (अचोदना) काल का लाभ नहीं कहा जा सकता।

भा०—ज्योतिष्टोमयागप्रकरण में उपाकरण पर्यग्निकरण आदि धर्म अग्नीषोमीय पशुके विधान किये गये हैं। उनमें उनका अनुष्ठान विधिबल से है, और 'सवनीय' और अनुबन्ध्य पशु में प्रेरेकवाक्यरूप अतिदेश के द्वारा है। अतः दोनों में विधिबल द्वारा नहीं।

सं०—'शाखाहरण' को सायं प्रातः दोनों 'दोहों' का धर्म बतलाते हैं।

## ८—शाखाहरणादीनामुभयदोहार्थताधिकरणम्—

## पू०प०—दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं शृतं स्यात्॥ २८॥

प०क्र०—(शृतम्) दर्शपौर्णमास याग में सुने गये शाखाहरण' आदि(दोहयोः) सायं प्रातः दोनों समय के दूध दुहने के (असंयुक्तं स्यात्) धर्म नहीं हैं। क्योंकि (कालभेदात्)उनका काल भेद है।

भा०—जयोतिष्टोमयज्ञप्रकरण में पढ़े गये उपाकरणादि धर्मों का अग्नीषोमीय पशुके साथ सम्बन्ध है, न कि सवनीय और अनुबन्ध्यपशु के साथ। उसी प्रकार दर्शपूर्णामास यज्ञ में पठित होते हुए भी समीपतारूप प्रमाणबल के द्वारा दूध के 'दोहनरूप धर्म' का सायं दोहनके साथ ही सम्बन्ध है न कि प्रातः दोहन के साथ भी। अत एव दर्शपूर्णामासयागप्रकरण में जो शाखाहरण आदि दोहन के धर्म हैं, वे केवल सायंकाल दूध दुहने के ही हैं, न कि दोनों समय दुहने के।

सं०—उक्तपक्ष का समाधान यह है।

## उ०प०—प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य काल शास्त्रम्॥ २९॥

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये आया है। (कालशास्त्रम्) दूध दुहने के काल का विधान करने वाला शास्त्र (तत्संयुक्तस्य) सायं प्रातः दोनों समय का विधायक है, न कि सायंकाल दोहन का। क्योंकि (प्रकरणाविभागात्) प्रकरण से दोनों का सम्बन्ध है। तथा दर्शपूर्णमास में दही और दूध से हविः बनता है, उसके लिये दो वार गौयें दुही जानी चाहियें।

भा०—'ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्' ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्'-इन वाक्यों द्वारा दधि दूध की आहुति अमावास्या को दी जाती है। और इसी कारण सायं प्रातः गोदोहन और शाखाहरण आदि दोहन धर्मों का विधान किया गया है, अर्थात् विधायक-वाक्यों का स्थान एक ही है, और प्रकरण भी एक ही है। अतः उक्त प्रकरण तथा स्थान में बतलायें गये सब धर्म परस्पर

एक से होंगे। अतः सायं प्रातः दोनों समय दोहनकृत्य माना जा सकता है।

**९—ग्रहधर्माणां सवनत्रयार्थताधिकरणाम्—**

**उ०प०सि०—तद्वत्सवनान्तरे ग्रहाम्नानम्॥ ३०॥**

प०क्र०—(तद्वत्) दूध दुहने के धर्म के समान ही (ग्रहाम्नानम्) ग्रहके धर्म का अनुष्ठान (सवनान्तरे) प्रातःसवन के पश्चात् माध्यन्दिन तथा सायं सवन में होता है।

भा०—शाखाहरण-आदि-दोहनधर्म, सायं प्रातः दोनों समय के ही दोहन के धर्म हैं, और उन दोनों का समानरूप से अनुष्ठान होता है। उसी प्रकार सम्मार्जन आदि भी ग्रहमात्रके साधारण धर्म हैं, उनका भी अनुष्ठान सामान्यरूप से तीनों ही सवनों में उचित है।

सं०—'रशनावेष्टन' (रस्सीलपेटना) आदि धर्मों का अग्नीषोमीय आदि तीनों पशुओं में अनुष्ठान कहते हैं।

**१०—रशनाधर्मसाधारण्याधिकरणम्—**

**सि०प०—रशना च लिङ्गदर्शनात्॥ ३१॥**

प०क्र०—(च) और (रशना) रशनावेष्टनादि भी अग्नीषोमीय आदि तीनों पशुओं के धर्म हैं। क्योंकि (लिङ्गदर्शनात्) लक्षणों से ऐसा ही प्रतीत होता है।

भा.—"परिव्ययति, ऊर्वै रशना" इति, अर्थात् रसना दृढ होनी चाहिये। "त्रिवृद् भवति" इति,'दर्भमयी भवति इति, अर्थात् उसमें तीन बल दिये जावें, और वह दर्भमयी (दाभ की) होनी चाहिये। परन्तु यह नियम पशुधर्म के लिये नहीं है। किन्तु यूप आदि जो धर्म हैं, वे तीनों पशुओं में तुल्य हैं। समान होनेसे ही उससे रशना वेष्टन का सम्बन्ध है। तथा "त्रिवृता यूपं परिवीयाऽऽग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति", अर्थात् सवनीयपशु के पास यूप को तीन बल की रस्सी से लपेटे। यह कथन, अग्नीषोमीय आदि तीनों पशुओं में उस धर्म के अनुष्ठान का सूचक एवं प्रमाण है। अतः वे धर्म यूपादि के द्वारा अग्नीषोमीय आदि तीनों पशुओं के हैं, केवल अग्नीषोमीय के नहीं हैं।

सं०—'सम्मार्जन' को, अंशु तथा 'अदाभ्य' नामक ग्रहों का धर्म बतलाने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

**११—अंश्वदाभ्याधिकरणम्—**

**पू०प०—आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैः सन्निधानात्॥ ३२॥**

प०क्र०—(आरात्) प्रकरण से परे (पृथक्) (शिष्टम्) कथन होने

से 'अंशु' और 'अदाभ्य' उभय पात्रों का (इतरैः) ऐन्द्रवायवादिग्रहधर्मों के साथ (असन्निधानात्) ग्रहधर्मों का उसके समीप में विधान नहीं मिलता।

भा०—"दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि" आदि वाक्यों में सम्मार्जन आदि ग्रहधर्म बतलाये गये हैं। वे अप्रकरणपठित हैं। परन्तु वे अंशु और अदाभ्य दोनों पात्रों के धर्म हैं, अथवा नहीं-यह संदेह है। अर्थात् अंशु और अदाभ्य पात्रों की सन्निधि में विहित न होकर सम्मार्जन आदि धर्म, 'ऐन्द्रवायव' आदि ग्रहों की सन्निधि में कहे गये हैं। और जो जिसकी सन्निधि में हो, वह उसका धर्म कहा जाता है। इस कारण 'अंशु' और 'अदाभ्य' दोनों ग्रह, 'ऐन्द्रवायव' की भांति, प्रकरणमें पढ़े गये होते, तो सम्मार्जनादि भी इनके धर्म होते। परन्तु दोनों प्रकरणसे बाहर हैं। अतः उक्त याग में पठित सम्मार्जन आदि ग्रहधर्म 'ऐन्द्रवायव' आदि ग्रहों के ही धर्म हैं, न कि अप्रकरणपठित अंशु अथवा अदाभ्य के।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तवात्॥ ३३॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के हटाने के लिए है। (संयुक्तम्) सम्मार्जन आदि धर्मों का दोनों ग्रहों के साथ सम्बन्ध है। क्योंकि (तदर्थत्वात्) वे ग्रहमात्र के लिये विहित हैं। और (शेषस्य) ग्रहधर्मों का विधान (तन्निमित्तत्वात्) ग्रहमात्र के उद्देश्य से करना योग्य है।

भा०—सम्मार्जन आदि धर्मों का सम्बन्ध ज्योतिष्टोमयाग के साथ है। परन्तु वह उसके साथ ग्रहों द्वारा ही होता है, साक्षात् नहीं। जिस प्रकार 'ऐन्द्रवायव' आदि ग्रह उस याग के सम्बन्धी हैं, उसी प्रकार 'अंशु' और 'अदाभ्य' भी सम्बन्धी हैं। क्योंकि एक के साथ सम्बन्ध, और दूसरे के साथ सम्बन्ध की आशङ्का बिना प्रबल उदाहरण एवं प्रमाण के नहीं होती। अतः उस याग में सम्मार्जन आदि ग्रहधर्म बतलाये गये हैं, वे 'ऐन्द्रवायव' आदि ग्रहों के समान 'अंशु' और 'अदाभ्य' ग्रहों के भी हैं। ऐसा समझना चाहिये।

सं०—उक्तार्थ में हेतु देते हैं।

**उ०प०स०—निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत॥ ३४॥**

प०क्र०—(निर्देशात्) उक्त विहितवाक्यों द्वारा भी (व्यवतिष्ठेत) उक्त धर्मों की ग्रहमात्र के साथ सम्बन्ध की व्यवस्था हो सकती है।

भा०—ग्रहमात्र-संज्ञक 'ग्रह' पद के प्रयोग से सम्मार्जन आदि धर्मों

का विधान किया गया है। यदि ग्रहमात्र के वे धर्म न बतलाये जाते, तो इस भांति उनका कदापि विधान न होता। परन्तु विधान है। अतः उक्त धर्म 'ऐन्द्रवायव' आदि के समान 'अंशु' और 'अदाभ्य' संज्ञक ग्रह के भी माने जावेंगे।

सं०—अखण्डत्वादि वाक्य को अप्रकरणपठित 'चित्रिणी' आदि इष्टिकाओं (ईंटों) का धर्म बतलाते हैं।

## १२—चित्रिण्यधिकरणम्

## सि०प०—अग्न्यङ्गमप्रकरणे तद्वत्॥ ३५॥

प०क्र०—(तद्वत्) यथा अप्रकरणपठित 'अंशु' और 'अदाभ्य' के भी सम्मार्जन आदि धर्म होते हैं। उसी प्रकार अग्निचयनप्रकरण में पढ़े गये अखण्डत्वादि-धर्म (अप्रकरणे) अप्रकरणपठित (अग्न्यङ्गम्) चित्रिणी आदि इष्टिकाओं (ईंटों) के भी समझने चाहियें।

भा०—'अखण्डामकृष्णां कुर्यात्' तथा 'चित्रिणीरुपदधाति' 'वज्रिणी-रुपदधाति' 'भूतेष्टका उपदधाति' इत्यादि से 'चित्रिणी' 'वज्रिणी' 'अखण्ड' आदि कई प्रकार की ईंटों का विधान मिलता है। अग्निचयनप्रकरण में चित्रिणी आदि संज्ञक ईंटों का विधान नहीं मिलता, परन्तु उनका अग्निचयन सम्बन्ध से उपयोग मिलता है। क्योंकि इष्टिकाओं द्वारा भी अग्निचयन किया जाता है। और सम्बन्ध होने से उसका सम्बन्ध निर्विवाद प्राप्त है। अतः अग्निचयनप्रकरण में 'अखण्डत्वादि धर्मों का विधान चित्रिणी आदि ईंटों के धर्म के समान है। क्योंकि वह अग्निचयन का अङ्ग है।'*

सं०—'अभिषव' आदि को सोमपात्र का धर्म कहते हैं।

## १३—अभिषवादीनां सोमार्थत्वाधिकरणम्—

## सि०प०—नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमानविधानं स्यात्॥ ३६॥

प०क्र०—(नैमित्तिकम्) फलचमस में (असमानविधानम्) सोम के समान अभिषव आदि धर्मों का विधान नहीं (स्यात्) हो सकता है। क्योंकि (अतुल्यत्वात्) वे सोम के समान नहीं हैं।

भा०—'सोममभिषुणोति' 'सोमं क्रीणाति'-इत्यादि द्वारा अभिषव-

* 'अखण्ड' खांडे की, 'चित्रिणी' सांचे की ढली, 'वज्रिणी' पत्थर की छेनी आदि से काटकर बनाई हुई। पजावे में खण्डे की ईंट निकलती है, वे काली-काली अच्छी नहीं, किन्तु जल जाती हैं। 'चित्रिणी' डिब्बी की और 'वज्रिणी' पत्थर की बनती है।

धर्म बतलाये गये हैं। अर्थात् सोम नित्य होने से प्रकृति, और फलचमस नैमित्तिक होने से उसकी विकृति है। प्रकृति पूर्वभावी और विकृति पश्चाद्भावी (पीछे होनेवाली) होती है। परन्तु पूर्व होने के कारण प्रकृतिरूप सोमधर्म आकाङ्क्षारहित हो जाता है। और निराकाङ्क्ष हो जाने से फलचमसरूप विकृति में सम्बन्ध नहीं कर सकता। सम्बन्ध रहित हो जाने के कारण अभिषव-आदि-विहित-धर्म सोमपात्र के हो सकते हैं, न कि फलचमस के माने जा सकते हैं।

सं०—'नीवार' आदि प्रतिनिधि-द्रव्यों में जौ आदि मुख्यद्रव्यों के 'अवधान' आदि धर्मों का अनुष्ठान बतलाते हैं।

## १४—मुख्यप्रतिनिध्योः समानविध्यधिकरणम्—

## पू०प०—प्रतिनिधिश्च तद्वत्॥ ३७॥

प०क्र०—(च) शब्द 'तु' स्थानिक होते हुए पूर्वपक्ष का द्योतक है। (तद्वत्) जिस प्रकार नैमित्तिक 'फलचमस' अभिषव आदि धर्मवान् नहीं होता, उसी प्रकार (प्रतिनिधिः)नीवार आदि प्रतिनिधि-द्रव्य भी प्रोक्षण धर्मवान् नहीं हो सकता।

भा०—जो धर्म जिसके निमित्त विहित नहीं माना गया, उसका उसमें अनुष्ठान नहीं किया जाता। अत एव यज्ञ के साधक 'जौ' आदि मुख्य-द्रव्यों में अवधान आदि धर्म का विधान होने से, वह 'व्रीहि' आदि मुख्य-द्रव्यों में ही कर्त्तव्य है, न कि उसके प्रतिनिधिद्रव्य 'नीवार' आदि में भी करणीय है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

## उ०सि०प०—न, तद्वत् प्रयोजनैकत्वात्॥ ३८॥

प०क्र०—(तद्वत्) 'व्रीहि' आदि के समान नीवरादि के भी अवघात आदि धर्म होते हैं। क्योंकि (प्रयोजनैकत्वात्) दोनों का यागसिद्धहोनारूप तात्पर्य समान ही है।

भा०—'व्रीहिभिर्यजेत' इत्यादि वाक्यों द्वारा जिस प्रकार व्रीह्यादि मुख्यद्रव्य याग के साधन हैं, उसी प्रकार नीवार आदि प्रतिनिधि द्रव्य भी यज्ञ के साधक हैं। क्योंकि जौ और व्रीहि शब्दों से उभय (मुख्य और प्रतिनिधिरूप दोनों) प्रकार के द्रव्यों का ग्रहण होता है। अत: (व्राहीनवहन्ति) इत्यादि वाक्य से जो अवघात आदि धर्म विधान किया है, उसका नीवार आदि प्रतिनिधि-द्रव्यों में भी अनुष्ठान कर्त्तव्य है।

सं०—इस अर्थ में हेतु देते हैं।

**उ०प०स०—अर्थलक्षणत्वाच्च[1] ॥ ३९ ॥**

प०क्र०—(च) और (अर्थलक्षणत्वात्) अर्थापत्ति-प्रमाण से भी उक्त अर्थ की प्रामाणिकता है।

भा०—'व्री[2]हिभिर्यजेत' इत्यादि वाक्यों द्वारा व्रीहि आदि के समान 'नीवार' आदि को भी यज्ञ का साधन सिद्ध किया गया है। तथा अवघात आदि के बिना नीवरादि याग के साधन नहीं बन सकते। और जिसके बिना जो यज्ञ का साधन नहीं हो सकता, उसमें उसका अनुष्ठान मान लेने में कोई दोष नहीं आता। अत: व्रीहि के समान नीवार आदि प्रतिनिधि-द्रव्यों में भी अवघातादि अवश्य ही होने चाहियें।

सं०—प्रतिनिधि बतलानेवाली श्रुतियों का नियम बतलाते हैं।

**१५—प्रतिनिधिषु मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम्—**

**सि०प०—नियमार्था गुणश्रुतिः ॥ ४० ॥**

प०क्र०—(गुणश्रुतिः) प्रतिनिधि का विधान करने वाली श्रुतियाँ (नियमार्था) उक्त नियम के निमित्त हैं।

भा०—'यदि सोमं न विन्देत पूतीकानभिषुणुयात्' (तां० ब्रा० ९। ५। ३) इत्यादि वाक्य का यही तात्पर्य है, कि जहाँ व्रीहि आदिकों में प्रतिनिधि-द्रव्यों का विधान न मिलता हो, वहाँ सर्वत्र उसके समान बलाश्रित नीवार आदि द्रव्यों को प्रतिनिधि मान लें। तथा जहाँ 'सोमादि' न मिलते हों, वहाँ पूतीक आदि लता विशेष का विधान समझना चाहिये। अर्थात् वहाँ सर्वत्र नियम से विहित-प्रतिनिधि-द्रव्यों का ही ग्रहण है, अन्य का नहीं।

सं०—अब 'दीक्षणीय' आदि को अग्निष्टोम का अङ्ग बतलाते हैं।

**१९—संस्थाधिकरणम्—**

**पू०प०—संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविशेषात् ॥ ४१ ॥**

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष का सूचक है। (संस्थाः) सात यज्ञों की (समानविधानाः) दीक्षणीय आदि इष्टियाँ अङ्ग हैं। क्योंकि (प्रकरणाविशेषात्)

---

सूचना—(१) सतन्त्रवार्तिक शा०भा०मी०दर्शने 'अर्थ' इत्यस्य स्थाने 'अशास्त्र' इति पाठो वर्तते।

२. 'व्रीहिभिर्यजेत' इति विहितानां व्रीहीणामसम्भवे नीवाराः प्रतिनिधित्वेन स्वीकार्या इति षष्ठतृतीयचतुर्थाधिकरणे वक्ष्यते (जै०न्या०मा०टी०टि०) इति देव आचार्यः।

सबका प्रकरण समान (एक ही) है।

भा०—ज्योतिष्टोम-यज्ञ की सात[१] संस्था हैं। अर्थात् 'यज्ञायज्ञिय' स्तोत्रसमाप्तिपूर्वक ज्योतिष्टोम होता है, तो वह 'अग्निष्टोमसंज्ञक'। और 'उक्थ्य' स्तोत्र समाप्तिपूर्वक होता है, तो 'उक्थ्य'। तदुपरान्त 'षोडशी' स्तोत्र समाप्तिपूर्वक को 'षोडशी'। और 'अतिरात्र' पूर्वक को 'अतिरात्र' कहते हैं। इसी भांति ज्योतिष्टोम के एक होते हुए भी भिन्नस्तोत्रसमाप्तिपूर्वक भेद से उस संस्था के चार भेद हो जाते हैं। इनमें अग्निष्टोम प्रकृति, और 'उक्थ्य' आदि उसकी विकृति हैं। इन चारों संस्था वाले ज्योतिष्टोमप्रकरण में 'दीक्षणीय' और 'प्रायणीय' आदि संज्ञक अङ्ग इष्टियाँ भी पढ़ी गई हैं। इससे यह अभिप्राय निकलता है, कि उक्तयाग-प्रकरण में दीक्षणीय आदि इष्टियाँ जो बतलाई गई हैं, वे चारों संस्थाओं की अङ्गभूत हैं, केवल 'अग्निष्टोम' संस्था का ही अङ्ग नहीं मान लेनी चाहियें।

सं०—उक्त अर्थ में युक्ति देते हैं।

**पू०प०स०—व्यपदेशश्च तुल्यवत्॥ ४२॥**

प०क्र०—(च) और (तुल्यवत्) समानरूप से (व्यपदेशः) सब संस्थाओं का उक्त यंज्ञ के प्रकरण में कथन है।

भा०—'यद्यग्निष्टोमो जुहोति, यद्युक्थ्यः, परिधिमनक्ति'—इत्यादि वाक्य अग्निष्टोम आदि संस्थाओं का समान रूप से कथन करने वाले हैं। अतः स्पष्ट है—कि वे चारों संस्थाओं में प्रत्येक विषय में समान हैं। उन (संस्थाओं) में अङ्गों का विधान भी समानरूप से ही होना आवश्यक है। अतः दीक्षणीय-आदि इष्टियों को अग्निष्टोम आदि चारों संस्थाओं का अङ्ग मानना चाहिये, न कि केवल अग्निष्टोम का ही अङ्ग मानना चाहिये।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—विकारास्तु कामसंयोगे नित्यस्य[२] समत्वात्॥ ४३॥**

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष के दूर करने के लिए प्रयुक्त है। (विकाराः) उक्थ्य आदि तीनों संस्थायें अग्निष्टोम का विकार हैं। क्योंकि (कामसंयोगे) इनका पशु आदि फल की कामना के सम्बन्ध से विधान

१. अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उकथ्यः, षोडशी, अतिरात्रः, वाजपेयः, असोर्याम-इति सप्त संस्थाः। (जै०न्या०मा०टि०) इति देव आचार्यः।

२. सतन्त्रवार्तिक शा०भा०मी० दर्शने (नित्यस्य) इत्यस्य स्थाने (स नित्यस्य) इति पाठो वर्तत इति देव आचार्यः।

मिलता है। अतः (नित्यस्य) नित्य अग्निष्टोम संस्था के (समत्वात्) समान (एक बराबर) होने पर भी उनमें दीक्षणीय आदि का अङ्गरूप से विधान नहीं किया जा सकता, ऐसा समझना चाहिये।

भा०—पशुकाम उक्थ्यं गृहीयात्, षोडशिना वीर्यकामः स्तुवीत, अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्,—इन वाक्यों से संस्था का विधान मिलता है। उनसे उनका विकार भी सिद्ध होता है। क्योंकि 'काम्यो गुणः श्रूयमाणो नित्यमर्थं विकृत्य निविशते' का यही अर्थ है—कि काम्यफल के योग से नित्य भी विकारवान् हो जाता है। विकृत होने से वह 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' के अनुसार प्रकृति के ही अनुकूल करणीय है, अर्थात् ज्योतिष्टोम की मुख्य-संस्था अग्निष्टोम ही है, सब उसी के भीतर हैं। वे केवल काम्यफल के साथ सम्बद्ध होने से पृथक् पृथक् कही गई हैं। अतः 'दीक्षणीय' 'प्रायणीय' आदि विहित इष्टियाँ प्रकृतिभूत अग्निष्टोम संस्था की अङ्ग हैं, विकृतिभूत 'उक्थ्यादि' की नहीं।

सं०—अब 'व्यपदेशश्च तुल्यवत्' सूत्र में कथित युक्ति का समाधान किया जाता है।

**उ०प०स०—अपि वा द्विरुक्तत्वात्प्रकृतेर्भविष्यन्तीति ॥ ४४ ॥**

प०क्र०—(अपि वा) अथवा (द्विरुक्तत्वात्) द्विरुक्त होने से उक्त इष्टियां प्रकृति (ज्योतिष्टोम) की ही अङ्ग होगी।

भा०—ज्योतिष्टोम और अग्निष्टोम यह कथन द्विरुक्तमात्र है, वस्तुतः वस्तु एक ही है। अतः दीक्षणीयादि इष्टियां प्रकृति की ही अङ्गभूत हैं।

**वचनात्तु समुच्चयः ॥ ४५ ॥**

प०क्र०—'तु' शब्द का व्यावृत्ति के निमित्त प्रयोग है। (वचनात्) 'यद्यग्निष्टोम' इत्यादि वचनों से (समुच्चयः) अग्निष्टोम एवं उक्थ्यं आदि का परस्पर प्रकृतिविकृतिभावरूप संकलन मिलता है, उनका समान विधान नहीं पाया जाता।

भा०—'यद्यग्निष्टोमं जुहोति' 'यद्युक्थ्यम्' से अग्निंष्टोम संस्था का संकलनमात्र मिलता है, न कि समानरूप से अङ्ग का विधान है। यह समुच्चय अथवा संकलन प्रकृति अथवा विकृति दोनों प्रकार से मिलता है। अतः उक्थ्य आदि में दीक्षणीयादि अङ्गों के मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि दीक्षणीय आदि इष्टियाँ अग्निष्टोम की अङ्गभूत हैं, उक्थ्य आदि की नहीं हो सकती।

सं०—उक्तार्थ में युक्ति देते हैं।

**उ०प०स०—प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानाम्॥ ४६॥**

प०क्र०—(च) और (पूर्वलिङ्गानाम्) पूर्व करणीय हवनों का (प्रतिषेधात्) 'उक्थ्य' आदि में निषेध मिलने से भी वह अर्थ (दीक्षणीयादि सबके अङ्गभूत हैं, यह) सिद्ध नहीं हो सकता।

भा०—यद्यग्निष्टोमो जुहोति, यद्युक्थ्यः, परिधिमनक्ति, न जुहोति- इन वाक्यों से उक्थ्य आदि में हवन का निषेध मिलता है। अतः उक्थ्य आदि तीनों अग्निष्टोम की विकृति हैं। अतः दीक्षणीय आदि इष्टियाँ अग्निष्टोम की अङ्गभूत कही गई हैं, उक्थ्य आदि की नहीं।

सं०—ज्योतिष्टोम याग एक है, उसकी सात संस्था किस प्रकार हो सकती हैं।

**उ०प०स०—गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः॥ ४७॥**

प०क्र०—(गुणविशेषात्) स्तेत्रादिरूप गुणविशेष के भेद से (एकस्य) एक ही ज्योतिष्टोम का (व्यपदेशः) सत संस्थाओं द्वारा वर्णन है।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में सब से पूर्व 'यज्ञायज्ञिय' स्तोत्र का पाठ किया जाता है, और जहाँ इसकी समाप्ति है, वहीं तक ज्योतिष्टोम यज्ञ है। परन्तु यह ज्योतिष्टोम जहाँ-जहाँ होगा, अग्निष्टोम अवश्य होगा। क्योंकि उक्थ्यादि संस्थाओं में अनुवृत्त होता है। परन्तु उक्थ्य आदि संस्थायें ऐसा नहीं, जो सर्वत्र अनुभूत हों। अतः सम्पूर्ण अधिकरणों का यही तात्पयर्य है-कि ज्योतिष्टोम की अग्निष्टोम संस्था में दीक्षणीय आदि इष्टियों का अङ्गरूप से विधान है, और उक्थ्य आदि में उनका अतिदेश प्रेरणासंज्ञक वाक्य 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' द्वारा प्राप्त होता है।

**मीमांसादर्शने सभाषाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य षष्ठः पादः समाप्तः।**

## अथ तृतीयाध्यायस्य सप्तमः पादः प्रारभ्यते

सं०—वेदि और 'बर्हि' तथा उनके धर्मों को अङ्गसहित दर्शपूर्णमासयज्ञ के धर्म बतलाने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

### १—वेदिबर्हिरधिकरणम्—

**पू०प०—प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य॥ १॥**

प०क्र०—(प्रधानस्य) 'वेदि' आदि प्रधान यज्ञ के धर्म (अङ्ग) हैं,

न कि अङ्गों (प्रयाजादि) के। क्योंकि (प्रकरणविशेषात्) प्रकरण की विशेषता है। (असंयुक्तम्) उन (वेद्यादि) का अङ्गों के साथ सम्बन्ध नहीं है।

भा०—जैसे कि दर्शपूर्णमास यज्ञ में 'वेदिं खनति' 'वेद्यां हवींष्यासादयति' 'बर्हिर्लुनाति' 'बर्हिषि हवींष्यासादयति'-इत्यादि वाक्यों में जो धर्म पढ़े गये हैं, वे द्रव्यों के आसादनरूप धर्म हैं-अथवा प्रधान यज्ञ के हैं-ऐसा संदेह होने पर पूर्वपक्षी कहता है-कि जिस प्रकरण में बर्हि आदि का विधान है, वह दर्शपूर्णमास रूप प्रधानयज्ञ का ही प्रकरण है, न कि उसके प्रयाजादि अङ्गों का। विशेषकर जबकि 'जो जिसके प्रकरण में आया हो, उसका धर्म होता है' ऐसा नियम भी है। यदि वे अङ्ग यागों के धर्म होते, तो अवश्यमेव उसके प्रकरण में विधान किये जाते। परन्तु ऐसा नहीं है। अतः उन्हें (बर्हि आदि को) केवल प्रधानयाग का ही धर्म मानना चाहिये। प्रधान तथा अङ्ग दोनों का नहीं।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—सर्वेषां वा शेषत्वस्यातप्रयुक्तत्वात्॥ २॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये आया है। (सर्वेषाम्) वेदिखननादिक, प्रधान (दर्शपूर्णमास) तथा अङ्ग (प्रयाजादि) इन दोनों के धर्म (अङ्ग) हैं। क्योंकि (शेषस्य) धर्मधर्मिभाव का (अतत्प्रयुक्तत्वात्) नियमबाँधनेवाला 'वाक्य' है, 'प्रकरण' नहीं है।

भा०—उन वाक्यों (वेदि खनति इत्यादि) में वेदि का खोदना, और हविष् आदि का रखना इत्यादि जो धर्म हैं, वे प्रधान एवं अङ्ग इन दोनों को लक्ष्य करके सर्वसाधारणरीति पर विधान किये गये हैं। इनमें ऐसा कोई पद नहीं है, जिसके कि आधार पर यह कल्पना की जा सके, कि वे धर्म प्रधान के ही हैं, अङ्गों के नहीं हैं। और जिस प्रकरण में पढ़े गये हैं, यद्यपि वह प्रकरण प्रधानयज्ञ का है, तथापि शक्तिहीन होने से वह प्रकरण कुछ रुकावट नहीं कर सकता।

सं०—अब इस अर्थ में शङ्का करते हैं।

**पू०प०—आरादपीति[१] चेत्॥ ३॥**

प०क्र०—(आरादपि) प्रधानयज्ञ के साथ पढ़ जाने से 'वेदि' ( ) आदि धर्म 'पिण्डपितृज्ञ' के होने चाहियें। (चेत्) यदि कोई (इति) ऐसा

---

सूचना—(१)—'आराद् दूरसामीपयोः' अर्थात् आराच्छब्दः कचित् 'दूरे', 'क्वचित् समीपे' अर्थे आयातीति देव आचार्यः।

कहे, तो यह कथन वक्ष्यमाण युक्ति क कारण ठीक नहीं है।

भा०—जिस प्रकरण में 'वेदि' आदि धर्म विहित किये गये हैं, उस प्रकरण को भी त्यागकर जब वे अङ्गों के भी बन जाते हैं तब उनको पिण्डपितृयज्ञ का भी धर्म मानने में क्या हानि है। अत: वे पिण्डपितृयज्ञ के भी धर्म हैं। क्योंकि अङ्गों के समान वह (पिण्डपितृयज्ञ) भी प्रधानयज्ञ के समीप में ही पठित है।

सं०—उक्त आशङ्का का निराकरण करते हैं।

**न, तद्वाक्यं हि तदर्थत्वात्॥ ४॥**

प०क्र०—(न) पूर्वोक्त स्थान ठीक नहीं है। (हि) क्योंकि (तद्वाक्यम्) वे वाक्य (तदर्थत्वात्) प्रधान एवं अङ्ग—इन दोनों के लिये ही 'वेदि' आदि का विधान करते हैं।

भा०—दर्शपूर्णमासयागप्रकरण में ही 'वेदि' और वेदिधर्म तथा 'बर्हि' और 'बर्हिधर्म'—इन दोनों का विधान मानना ठीक है। यदि ऐसा न होता, तो वे वेद्यादिधर्म किसीके प्रकरण में विहित न किये जाते, तब वे प्रधान एवं उनके अङ्गों के समान 'पिण्डपितृयज्ञ' के भी धर्म मान सकते थे। परन्तु ऐसा नहीं है। वे तो दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पढ़े गये है। अत: वे प्रधान अथवा उसके अङ्गों को छोड़कर अन्य के धर्म नहीं कहे जा सकते। क्योंकि उसका कोई साधक प्रमाण नहीं है। इस कारण वे प्रधान (दर्शपूर्णमास) और उसके अङ्गों (प्रयाजादि) के ही धर्म हैं। 'पिण्डपितृयज्ञ' आदि अन्य के नहीं।

सं०—उक्तार्थ के लक्षण (प्रमाण एवं युक्ति) कहते हैं।

**लिङ्गदर्शनाच्च॥ ५॥**

प०क्र०—(च) तथा (लिङ्गदर्शनात्) प्रमाण (चिन्ह, हेतु) मिलने से भी उक्तार्थ प्रमाणित होता है।

प०क्र०—'ध्रुवामेवाग्रेऽभिघारयति, ततो हि प्रथमावाज्यभागौ यक्ष्यन् भवति' इसमें ध्रुवानामक पात्रका अवधारण बतलाया गया है। और तदुपरान्त 'आज्यभाग' नामक-आहुति का विधान है। अत: जिस प्रकार अवधारण दोनों अर्थों (प्रधान एवं अङ्ग) में आया है, उसी प्रकार वेदिखननादि भी दोनों ही अर्थों (प्रधान एवं अङ्ग) में है। क्योंकि वे परस्पर समान हैं। अत एव अवधारण के समान वेदिखननादि भी प्रधान एवं अंग दोनों के धर्म हैं, न कि केवल प्रधानमात्र के ही कहे जा सकते हैं।

भा०—यजमान द्वारा 'वपन' आदि संस्कारों को प्रधानयज्ञ का अङ्ग कहते हैं।

## २—यजमानधर्माणां प्रधानार्थताधिकरणम्—

## सि०प०—फलसंयोगात्तु स्वामियुक्तं प्रधानस्य॥ ६॥

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वाधिकरण के साथ विभिन्नता का सूचक है। (स्वामियुक्तम्) यजमानसम्बन्धी संस्कारकर्म (प्रधानस्य) प्रधानयज्ञ के अङ्ग हैं। क्योंकि उनका (संस्कारकर्मों का) (फलसंयोगात्) फल के साथ सम्बन्ध है।

भा०—जैसे यजमानसंस्कार कर्म में 'केशश्मश्रु[१] वपते' 'नखानि निकृन्तते' से वपन, 'पयो[२] ब्राह्मणस्य व्रतम्' इत्यादि से पयोव्रतादि धर्म कहे कहे गये हैं। इससे यजमान के दो प्रकार के संस्कार के आकार बनते हैं। एक तो 'याग का करना' और दूसरा 'याग का फल भोगना' इन में पहिला मुख्य, और दूसरा गौण है। मुख्य तथा प्रधान दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं। दोनों आकारों में यदि आकार की अपेक्षा से से यजमान के वे धर्म विहित माने जावें, तो प्रधान और गौण दोनों के वे धर्म हो सकते हैं। अर्थात् 'अग्नीषोमीय' आदि कर्म गौण हैं, उसी प्रकार 'वपन' आदि संस्कारकर्म भी गौण हैं। और उनका प्रधानकर्म के ही साथ सम्बन्ध होता है, परस्पर नहीं। अतः ज्योतिष्टोम में 'वपन' आदि धर्म, प्रकरण की समान योग्यतारूप बल के कारण प्रधान (ज्योतिष्टोम) सम्बन्धी कर्म हैं, प्रधान तथा अङ्ग (अग्नीषोमीयादि) इन दोनों के सम्बन्धी नहीं।

सं०—'सौमिकी' नामक वेदि को प्रधान एवं गौण दोनों कर्मों का अङ्ग कहते हैं।

## ३—सौमिकवेदेरङ्गप्रधानार्थताधिकरणम्—

## पू०प०—चिकीर्षया च संगोगात्॥ ७॥

प०क्र०—(च) तथा सौमिकी-संज्ञक वेदि प्रधान कर्म का अङ्ग है। क्योंकि (चिकीर्षया) इच्छाओं के द्वारा (संयोगात्) उसका उसी के साथ सम्बन्ध है।

भा०—ज्योतिष्टोम-यज्ञ में 'षट्त्रिंशत् प्रक्रमा प्राची, चतुर्विंशतिरग्रेण, त्रिंशज्जघनेन, इयति शक्ष्यामहे' इति। यद्यपि यहाँ 'इयति शक्ष्यामहे' से

---

१. (तै०सं०—६।१।१२)। (२) 'पयो ब्राह्मणस्य व्रतम्' यवागू राजन्यस्य (तै०सं०—६।२।५।२) जै०न्या०टि०—इति देव आचार्यः।

प्रधान तथा अङ्ग दोनों कर्मों की इच्छा पाई जाती है, और फलोद्देश्य से केवल प्रधानकर्म की ही इच्छा पाई जाती है, अङ्गकर्मों की नहीं। क्योंकि वे अङ्गकर्म फलवाले नहीं हैं। अतः ज्योतिष्टोमयागप्रकरण में जो सौमिकी वेदि का विधान है, वह वेदि फलोद्देश्य से प्रधानकर्म का ही अङ्ग है—ऐसा मानना चाहिये, न कि प्रधान और गौण—इन दोनों कर्मों का अङ्ग है, ऐसा मानना चाहिये।

सं०—'अभिमर्शन' प्रधान एवं अङ्ग दोनों प्रकरण के कर्मों का अङ्ग है। अतः पूर्वपक्ष करते हैं।

### ४—अभिमर्शनस्याङ्गप्रधानहविरर्थताधिकरणम्—

### पू०प०—तथाऽभिधानेन॥ ८॥

प०क्र०—(तथा) जिस भांति 'सौमिकी' वेदि प्रधानकर्म का अङ्ग है, उसी भांति 'अभिमर्शन' भी प्रधान आहुति का अङ्ग है। क्योंकि (अभिधानेन) उसका कथन मिलता है।

भा०—दर्शपूर्णमासयागप्रकरण में 'चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्' 'पञ्चहोत्राऽमावास्याम्' वाक्य अमावस्या आहुति के अभिमर्शन के लिए विहित हैं। अतः अभिमर्शन क्रिया का करनेवाला, पुरुष, पौर्णमासी एवं अमावास्या पद के वाच्य प्रधान-आहुति-कर्म का अङ्ग है। यहाँ पर कर्त्ता के-व्यापार अभिमर्शनरूप कर्म के साथ प्रधान आहुति देना स्पष्ट है। अतः वह अभिमर्शन उसी का अङ्ग है, प्रधान तथा अङ्ग दोनों आहुतियों का अङ्ग नहीं।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

### सि०प०—तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात् सर्वचिकीर्षा स्यात्॥ ९॥

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष को हटानेवाला है। (तद्युक्ते) अङ्गयुक्त प्रधान में (फलश्रुतिः) फल का श्रवण देखा जाता है। (तस्मात्) अत एव (सर्वचिकीर्षा) 'इयति शक्ष्यामहे' आदि अङ्ग एवं प्रधान सब की इच्छा (स्यात्) है, न कि प्रधान की ही।

भा०—ऐहिक और लौकिक फलप्राप्तिरूप कथन के पाये जाने से वह केवल प्रधानकर्म का अङ्ग नहीं, किन्तु अङ्गसहित प्रधान का विवेचन है। अर्थात् अङ्ग और प्रधान दोनों का कर्म है। और दोनों का कथन किया जाने से दोनों की चिकीर्षा मिलती है। क्योंकि सुख और उसके साधन

लोकशास्त्र से सिद्ध हैं। जैसे सुख का साधन प्रधानकर्म है, इसी प्रकार अङ्गकर्म भी सुख का साधन है। उन दोनों के बिना उस 'वेदि' का उक्त जनकत्व असंभव है। अतः जो सौमिकी वेदी बनाई जाती है।* वह प्रधान तथा अङ्ग दोनों प्रकार के कर्मों का अङ्ग है, केवल प्रधानकर्म का ही नहीं।

सं०—उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**सि०प०—गुणाऽभिधानात्सर्वार्थमभिधानम्॥ १०॥**

प०क्र०—(अभिधानम्) 'चतुर्होत्रा' आदि वाक्य में जो अभिमर्शन का विधान किया जाता है, वह (सर्वार्थम्) अङ्ग तथा प्रधान दोंनों के निमित्त है। क्योंकि (गुणाभिधानात्) उन (वाक्यों) में पौर्णमासी एवं अमावास्या पद से काल का प्रवचन मिलता है, न कि आहुति का।

भा०—'चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्' इत्यादि वाक्यों में पौर्णमासी और अमावास्या पद के आगे द्वितीया विभक्ति है। वह सप्तमी-विभक्ति के अर्थ में होने से आधारसंज्ञक है, कर्मसंज्ञक नहीं। क्योंकि पौर्णमासीकाल और अमावास्याकाल जिस प्रकार प्रधान-आहुति का आधार है, उसी भांति अङ्ग आहुतियों का भी आधार है। अतः वह प्रधान तथा अङ्ग दोनों आहुतियों का अङ्ग है, केवल प्रधान-आहुतियों ही का नहीं कह सकते।

सं०—दीक्षा तथा दक्षिणा को प्रधानकर्म का अङ्ग कहा है।

### ५—दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थत्वाधिकरणम्—

**सि०प०—दीक्षादक्षिणं तु वचनात् प्रधानस्य॥ ११॥**

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वाधिकरण की विभिन्नता (पृथक्ता) का सूचक है। (दीक्षादक्षिणम्) दीक्षा तथा दक्षिणा (प्रधानस्य) प्रधान कर्म का अङ्ग है। क्योंकि (वचनात्) वाक्य से इसी प्रकार की प्रतीति होती है।

भा०—ज्योतिष्टोम में 'दण्डेन दीक्षयति' इति, और यजमान दक्षिणा में 'तस्य द्वादशशतं दक्षिणा' इति च। अर्थात् ज्योतिष्टोम की १२००)रु० दक्षिणा का विधान है। और 'दीक्षाः सोमस्य' तथा 'दक्षिणाः सोमस्य' वाक्य भी इसी आशय के द्योतक हैं। इसमें सोम नाम से प्रधान और अङ्ग-

---

* छत्तीस डग लम्बी चौबीस डग तथा तीस डग आगे पीछे से चौड़ी वेदी में यज्ञ किया जाता था। यह 'प्राचीन' वंश नामक मण्डप में पूर्वदिशा में होने वाले 'सदः' और 'हविर्धान' आदि मण्डपविशेषयुक्त भूभाग का नाम 'सौमिकी' वेदि कहलाता है। यहाँ सौमिकी अर्थात् सोमसम्बन्धी कृत्य होते हैं।

इन सब कर्मों का ग्रहण है। परन्तु अङ्गकर्मों का यथार्थ ग्रहण नहीं। क्योंकि नाम की प्रवृत्ति सदैव प्रधानहेतुक होती है, अङ्गहेतुक नहीं। ज्योतिष्टोम भी एक नाम ही है। उसकी प्रवृत्तिका हेतु प्रधानकर्म ही होना ठीक है। अत: उसके सम्बन्ध में विहित दीक्षादि भी उसी (प्रधानकर्म) के धर्म होने चाहियें। अत: उक्त प्रकरण में जो दीक्षा और दक्षिणा बतलाई गई हैं, वे प्रधानकर्म के अङ्ग हैं, प्रधान तथा अङ्ग दानों कर्मों के अङ्ग नहीं।

सं०—इसमें युक्ति यह है।

**सि०प०स०—निवृत्तिदर्शनाच्च ॥ १२ ॥**

प०क्र०—(च) और (निवृत्तिदर्शनाच्च) निरूढ पशुबन्ध* संज्ञक यज्ञ में दीक्षा की निवृत्ति हो जाने से वह अर्थ सिद्ध होता है।

भा०—अध्वर्य्यो यत् पशुनाऽयाक्षीरथ कास्य दीक्षेति, यत् 'षड्ढोतारं जुहोति साऽस्य दीक्षा' इति इसके उत्तर में षड् होता कहा गया है, और आहुति दी जाती है। यही उसकी दीक्षा है। यहाँ 'निरूढपशुबन्धसंज्ञक' यज्ञ बतलाकर यागदीक्षा का प्रश्न करके षड्ढोता नामक मन्त्रों से आहुति देनी बतलाई है। अत: अङ्गकर्म में दीक्षा की निवृत्ति प्रतीत होती है। यदि ऐसा न होता तो अङ्गयाग में दीक्षा का प्रश्न न आता। अत: ज्योतिष्टोम में जो दीक्षा और दक्षिणा का विधान है, वह केवल प्रधानकर्म का अङ्ग है, प्रधान और अङ्ग दोनों का नहीं।

सं०—'वेदि' यूप का अङ्ग है, इस बात को अप्रमाणित करने के लिए पूर्वपक्ष करते हैं।

**६—यूपावटदेशलक्षणाधिकरणम्—**

**पू०प०—तथा यूपस्य वेदिः ॥ १३ ॥**

प०क्र०—(तथा) जिस प्रकार वाक्यविशेष से दीक्षा और दक्षिणा प्रधानकर्म के अङ्ग हैं, उसी प्रकार (वेदिः) वेदि भी यूप का अङ्ग होना चाहिये।

भा०—अग्नीषोमीय पशुयाग में 'वज्रो वै यूपो यदन्तर्वेदि मिनुयात् तन्निर्दहेत्, यद् बहिर्वेदि, अनवरुद्धः स्यात्, अर्द्धमन्तर्वेदि मिनोत्यर्द्धं बहिर्वेदि अनवरुद्धो भवति, न निर्दहति' इति-इससे पता लगता है—कि देने योग्य पशु के बाँधने के निमित्त यूप (खम्भा) गाड़ने के लिये वेदि के पास की

* जो पशु दिया जाता है, उसके निमित्तप्रक्षेपरूप घृताहुतियों को पशु कहते हैं।

भूमि की माप लिखी है। इसमें वेदि का यूप की 'अङ्गता' के अभिप्राय से ग्रहण है, अथवा भूमि में यूप गाड़ने के लिये 'भूमि' बतलाने का ग्रहण है। इसका अर्थ यह हुआ-कि दीक्षा और दक्षिणा वाक्यविशेष से प्रधानकर्म के अङ्ग हैं, उसी भाँति वेदि भी अपने को वाक्य से यूप का अङ्ग सिद्ध करती है। अतः वेदि भी यूप का अङ्ग है। क्योंकि यूप के गाड़ने के लिये भूमि के निमित्त वेदि का उपादान नहीं किया जाता।

सं०—इसका समाधान करते हैं।

**सि०प०—देशमात्रं वाऽशिष्येणैकवाक्यत्वात्॥ १४॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के हटाने के लिए प्रयुक्त है। (देशमात्रम्) अर्द्धयन्त्रवेदि-शब्द देशमात्र का उपलक्षण है। क्योंकि (अशिष्येण) उसकी अर्द्धबहिर्वेदि के साथ (एकवाक्यत्वात्) एकवाक्यता है।

भा०— दोनों वाक्यों की एकता होने के द्वारा बतलाये गये बाहर के देश का भी बोध होता है। जब देय पशु के लिये वेदि के समीप यूप गाड़ा जावे, तो बाहर इतनी भूमि नाप ले, कि जितना उसका नीचे का सिरा हो। अतः दीक्षा और दक्षिणा जैसे प्रधानकर्म के अङ्ग हैं, उस भाँति वेदि यूप का अङ्ग नहीं है, किन्तु वह (वेदि) यूप गाड़ने के लिये अपने पास की बाहरी भूमि का उपलक्षणमात्र है।

सं०—हविर्धानसंज्ञक (शकट) को सामिधेनियों की अनङ्गता के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

**७—हविर्धानस्य सामिधेन्यनङ्गताधिकरणम्—**

**पू०प०—सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्द्धानयोर्वचना-सामिधेनीनाम्॥ १५॥**

प०क्र०—(हविर्धानयोः) हविर्धान शकट, जिसके भीतर सोम कूटा जाता है, वह (हविर्धान) (सामिधेनीनाम्) सामिधेनियों का अङ्ग है। क्योंकि (सामिधेनीस्तदन्वाहुः) यह (वचनात्) वाक्य इस बात को कहता है।

भा०—'उत यत्सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहुः'-इस पठित वाक्य में 'दक्षिणहविर्धान' नामक शकट (छकड़े) के साथ सामधेनियों का सम्बन्धसुस्पष्ट है। वह सम्बन्ध शकटसम्बन्धी सामधेनियों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव माने विना नहीं बन सकता। उस शकट का अपलक्षण मानने में मुख्यार्थपरित्याग (मुख्य अर्थ को छोड़ना) रूप दोष उपस्थित होता है, जिसका कि मानना सर्वथा अनुचित है। अतः सिद्ध हुआ-कि उक्त शकट

सामधेनियों का अङ्ग है, न कि अपने पास के देशसम्बन्ध विशेष का उपलक्षण (द्योतक) है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य॥ १६॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के दूर करने के लिए यहाँ प्रयुक्त है। (देशमात्रम्) वह शकट अपने से सम्बन्धित (संबद्ध) देशविशेष का उपलक्षण है। (हि) क्योंकि (सोमस्य) वह ज्योतिष्टोम याग का (अर्थकर्म) अङ्ग (प्रत्यक्षम्) स्पष्ट है।

भा०—यह कहा गया है कि 'दक्षिणे हविर्धाने सोममासादयन्ति' अर्थात् दक्षिणहविर्धानसंज्ञक छकड़े में सोम रक्खें। दर्शपूर्णमास यज्ञ में अङ्गरूप से सामधेनियों का विधान है। इस कारण उन (सामधियों) की प्रेरकवाक्य (प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या) द्वारा प्राप्ति है। इस उक्त प्रकृतियाग में सामधेनी को आहवनीयअग्नि के पश्चिमदेश में उच्चारण किया जाता है। ज्योतिष्टोम में 'उत्तरवेदि' आहवनीय-अग्नि के स्थान में होती है, उसके पश्चिमदेश में हविर्धान-नामक शकट का स्थान होता है। अतः वहाँ शकट का उपादान करते हैं। इस कारण शकट उन (सामिधेनियों) का अङ्ग नहीं, किन्तु उसका उच्चारण उसके देश के सम्बन्ध का उपलक्षण मात्र है।

सं०—इस अर्थ के समर्थक हेतु देते हैं।

**उ०प०स०—समाख्यानं च तद्वत्॥ १७॥**

प०क्र०—(च) और (तद्वत्) जैसे शकटसंज्ञक देशविशेष का उपलक्षण है उसी भांति (समाख्यानम्) हविर्धान को ज्योतिष्टोम का अङ्ग कथन करना भी, उसी अर्थ का साधक है।

भा०—जैसे शकटसंज्ञक यत् तत् पद शकटसम्बन्धी देशविशेष के द्योतक हैं, उसी भांति 'सोमस्य हविर्धानम्' में ज्योतिष्टोम का हविर्धानसंज्ञक शकट भी एक अङ्ग है। समाख्या से भी शकट को ज्योतिष्टोम का अङ्ग ही कहा है। वह सामिधेनी ओंकार प्रधानकर्म का अङ्ग भी है। यतः अङ्ग परस्पर सम्बन्ध नहीं रखते, अत एव हविर्धान शकट तथा सामिधेनियों का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं हो सकता। उक्त दशा में उनके अङ्गाङ्गिभाव की कल्पना भी सम्भव नहीं। जो संभावित नहीं, वह अमाननीय होता है। अतः 'उत यत्सुन्वन्ति' वाक्यस्थ यत् तत् पद दक्षिणहविर्धानसंज्ञक शकट के निर्देशक हैं। अतः सामिधेनियों की वह अङ्गता का बोधक माना जा सकता

है।

सं०—ऋत्विजों द्वारा अङ्गकर्म का अनुष्ठान बतलाने के लिये प्रधान कर्म का अनुष्ठान यजमान द्वारा कर्त्तव्य है, इसको कहते हैं।

**८—यजमानभिन्नकर्त्रन्तरप्रतिपादनाधिकरणम्—**

**पू०प०—शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात्॥ १८॥**

प०क्र०—(शास्त्रफलम्) शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि कर्मों का फल (प्रयोक्तरि) अनुष्ठानकर्त्ता को मिलता है। क्योंकि शास्त्र (तल्लक्षणत्वात्) उसको उसी के लिए विधान करता है। (तस्मत्) अतः (प्रयोगे) उन (अग्निहोत्रादि) के करने का (स्वयम्) अपने आप ही (स्यात्) अनुष्ठान करना चाहिये।

भा०—यथाविधि कर्म करने का अनुष्ठान कहते हैं। 'जुहुयात्' इत्यादि पदों में धातु एवं प्रत्यय—यह दो ही अंश होते हैं। धातु का अर्थ होम आदि, तथा प्रत्यय का अर्थ कर्त्ता माना जाता है। उसका 'स्वर्गकामः' से सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध है। और दोनों के ही अर्थ में एकता है। सुखभोग की कामनावाला तथा अग्निहोत्रकर्त्ता दोनों एक ही हैं। अतः यजमान के अतिरिक्त अन्य किसी को वह कर्म कर्त्तव्य नहीं, और न यजमान के अतिरिक्त कोई उसका फल ही पाता है।

सं०—अन्य से भी अङ्गकर्मों का अनुष्ठान होता है, उसके बतलाने के लिए पूर्वपक्ष करते हैं।

पू०प०—उत्सर्गे तु प्रधानत्वाच्छेषकारी प्रधानस्य तस्मादन्यः स्वयं वा स्यात्॥ १९॥

प०क्र०—(तु) शब्द पूर्वपक्ष के सूचनार्थ आया है। (उत्सर्गे) दक्षिणा में (प्रधानस्य) यजमान का (प्रधानत्वात्) मुख्यत्व अपेक्षित है, सर्वत्र नहीं। अतः (शेषकारी) दक्षिणा के अतिरिक्त संपूर्ण अङ्गों का अनुष्ठान करने वाला (तस्मात्) यजमान से (अन्यः) भिन्न ऋत्विज् (वा) अथवा (स्वयम्) आप (यजमान) ही (स्यात्) होता है।

भा०—प्रधानकर्म के समान दक्षिणादानरूप अङ्ग कर्म को त्यागकर, शेष अङ्गकर्मों का अनुष्ठान, स्वतः ही यजमान को अथवा ऋत्विजों को करना चाहिये। क्योंकि दोनों एक से हैं।

सं०—पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

**उ०प० — अन्यो वा स्यात्परिक्रयाम्नानाद्विप्रषेधा-त्प्रत्यगात्मनि ॥ २० ॥**

प०क्र० — 'वा' शब्द का पूर्वपक्ष हटाने के लिए प्रयोग किया है। (अन्यः) यजमान के अतिरिक्त ऋत्विज् भी (स्यात्) शेष अङ्गकर्मों का अनुष्ठान कर सकते हैं। क्योंकि (परिक्रयाम्नानात्) उन्हीं कर्मों के अनुष्ठान के लिये ऋत्विजों का परिक्रय कहा गया है। वह परिक्रय (प्रत्यगात्मनि) अपने आप में (विप्रतिषेधात्) विरोधी होने से नहीं हो सकता।

भा० — यज्ञों के प्रधान एवं अङ्गरूप कर्मभेद से अनेक भेद हैं। उन्हें यदि केवल एक यजमान ही करना चाहे, तो कठिन है। वह अपने सेवकों (ऋत्विजों आदि) द्वारा भी उन्हें करा सकता है। अतः स्वयं-कर्त्तव्य-प्रधानकर्म एवं दक्षिणादानरूप अङ्ग कर्म को छोड़कर शेष जितने अङ्गकर्म हैं, वे सब ऋत्विजों को ही करने उचित हैं। उन्हें यजमान न भी करे, तो कोई हानि नहीं है।

सं० — यज्ञ में कितने ऋत्विज् होने चाहियें, इसका निरूपण करते हैं।

**९ — ऋत्विक्संख्यानियमाधिकरणम् —**

**तत्रार्थात्कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात् ॥ २१ ॥**

प०क्र० — (अनियमः) ऋत्विज् संख्या का नियम नहीं। क्योंकि (अविशेषात्) उनके नियम का विधान करने वाला वाक्य नहीं है। अतः (तत्र) अङ्गकर्मों के अनुष्ठान में (कर्तृपरिमाणम्) उनकी संख्या (अर्थात्) अर्थ के अनुसार (कर्मानुसार) (स्यात्) होनी चाहिये।

भा० — ज्योतिष्टोम में ऋत्विजों की संख्या का विधायक वाक्य नहीं मिलता। क्योंकि उस (ज्योतिष्टोम) में उनका कोई नियम नहीं है। सर्वत्र कर्तव्य कर्म के अनुसार ही संख्या होती है। अर्थात् जैसा जितना कर्म, वैसे उतने मनुष्य नियुक्त किये जाते हैं। अतः ऋत्विजों का परिक्रयण काम के ऊपर है। अतः उनकी कोई संख्या नियत नहीं।

सं० — पूर्वपक्ष का समाधान यह है।

**उ०प० — अपि वा श्रुतिभेदात् प्रतिनामधेयं स्युः ॥ २२ ॥**

प०क्र० — (अपि वा) ये शब्द पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं। (स्युः) ज्योतिष्टोम-यज्ञ में १७ ऋत्विज् होते हैं। क्योंकि (प्रतिनामधेयम्) वे प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म के अनुसार हैं। (श्रुतिभेदात्) और उनके भिन्न-भिन्न नाम हैं।

भा० — ज्योतिष्टोम यज्ञ में इतने ऋत्विज् होने चाहियें। इस प्रकार का

विधान न मिलने पर भी प्रतिकर्मभेद (प्रतिकर्मव्यवस्था) से उनकी संख्या १७ मानी गई है। अतः उसमें इस प्रकार संख्या नियत हो जाती है, अतः उसको अनियत नहीं कह सकते।*

सं०—उक्तार्थ में शङ्का करते हैं।

**पू०प०—एकस्य कर्मभेदादिति चेत्॥ २३॥**

प. क्र.—(कर्मभेदात्) क्रियाभेदद्वारा (एकस्य) एक ही ऋत्विक् के अध्वर्यु आदि नाम हैं। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहें तो (ठीक नहीं)।

भा०—जैसे एक ही सेवक विभिन्नकंर्म करने से अनेक नाम वाला हो जाता है। उसी प्रकार उसके कर्मविभाग से पृथक् पृथक् नाम पड़ जाते हैं। अर्थात् एक ही ऋत्विक् कर्मभेद के कारण अध्वर्यु आदि संज्ञावाला हो जाता है। इसी कारण ज्योतिष्टोम-यज्ञ में ऋत्विजों की संख्या नहीं कही गई। क्योंकि वहाँ नियति का नियम ही नहीं है।

सं०—इस शङ्का का समाधान करते हैं।

**उ०प०—नोत्पत्तौ हि॥ २४॥**

प०क्र०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं। (हि) निश्चय ही (उत्पत्तौ) वरणविधायक वाक्य में 'अध्वर्यु' आदि १७ ऋत्विजों का वरण किया जाता है।

भा०—'अध्वर्यु वृणीते', 'ब्रह्माणं वृणीते' 'होतारं वृणीते', 'उद्गातारं वृणीते' अर्थात् क्रियाभेद से एक ही ऋत्विक, अध्वर्यु आदि संज्ञक होता

---

* 'तान् पुरोऽध्वर्युर्विभजाति' इत्यादि वाक्य से प्रतीत होता है, कि 'अध्वर्यु', जिसका काम ऋत्विग् विभाग करना है। 'प्रतिप्रस्थाता', जो मन्थीनामक पात्र द्वारा होम करता है। 'नेष्टा' अग्नि के पास यजमानपत्नी को लाने वाला कहलाता है। 'उन्नेता' चमसमात्र को बाहर करनेवाला। 'प्रस्तोता' प्रस्तावसंज्ञक, लाभ गान करने वाला। 'उद्गाता', सामगायक। प्रतिहर्ता, साम के चतुर्थ भाग का गायक। 'सुब्रह्मण्य' सुब्रह्मण्या संज्ञक ऋचा का बोलनेवाला। 'होता' प्रातरनुवाक का बोलनेवाला। 'मैत्रावरुण' प्रैष का उच्चारक। अच्छावाक् यज्ञकर्ता। 'ग्रावस्तुत्' ग्रावस्तोत्र का पाठ करनेवाला कहलाता है। अतः ज्योतिष्टोम में इस प्रकार १७ ऋत्विज् होते हैं। ब्रह्मा, ब्राह्मणच्छंसी, आग्नीध्र और पोता आदि गौण भी हैं।—
अतो यावन्ति कार्यणि तावन्त ऋत्विजो वरीतव्या (जै०न्या०मा०टी०) इति देव आचार्यः।

है। परन्तु वरण वाक्य से प्रतिवरण विधान मिलने से नाना वरणविधान वृथा हो जाते हैं। अत: ज्योतिष्टोम में १७ ऋत्विज् मानने ठीक हैं। जिनमें अध्वर्यु, होता, उद्गाता और ब्रह्मा ये चार मुख्य हैं, शेष तीन-तीन उनके सहकारी ऋत्विज् होते हैं। इस प्रकार के विभाग से, एवं दक्षिणाभेद से भी शेष अन्य ऋत्विज् हो जाते हैं।

सं०—कर्मभेद से चमसाध्वर्यु नामक सहकारी ऋत्विजों के भेद बतलाते हैं।

## १०—चमसाध्वर्य्वधिकरणम्—

## सि०प०—चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्यपदेशात्॥ २५॥

प०क्र०—(च) तथा (चमसाध्वर्यव:) चमसाध्वर्यु आदि, उन १७ ऋत्विजों से भिन्न हैं। (तै:) उन १७ के साथ (व्यपदेशात्) इनके वरण का पृथक् कथन मिलता है।

भा०—यद्यपि कर्मभेद से ऋत्विजों का विभाग किया जाता है, तथापि 'चमसाध्वर्यून् वृणीते' इति। मध्यत:कारिणां[1] चमसाध्वर्यव:, 'होत्रकाणां[2] चमसाध्वर्यव इति—इन वाक्यों में षष्ठी के द्वारा उन पूर्वोक्त ऋत्विजों से चमसाध्वर्यु पृथक् सिद्ध होते हैं।'

अर्थात् पूर्वोक्त परिगणित ऋत्विजों के साथ इनका पृथक् कथन करने से यह स्पष्ट है, कि ये (चमसाध्वर्यु) उनसे पृथक् हैं।

सं०—'चमसाध्वर्यु' की संख्या नियत करने के लिए पूर्वपक्ष करते हैं।

## ११—चमसाध्वर्यूणां बहुत्वाधिकरणम्—

## पू०प०—उत्पत्तौ तु बहुश्रुते:॥ २६॥

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष का सूचक है। चमसाध्वर्यु अनेक होते हैं। क्योंकि (उत्पत्तौ) वरण वाक्य में (बहुश्रुते:) बहुवचन से कहे गये हैं।

भा०—'चमसाध्वर्यून् वृणीते' इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग होने से प्रतीत होता है—कि चमसाध्वर्यु अनेक होते हैं। इसी कारण यथासमय कभी कभी तीन, चार, पाँच, सात, दश अथवा बीस तक भी उनकी संख्या पहुँच जाती है। अत: चमसाध्वर्यु की संख्या नियत नहीं हुआ करती। वह

---

१. होतृब्रह्मोद्गातृयजमाना मध्यत:कारिण:।

२. मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसि, पोतृ, नेष्ट्र-च्छावाका-ग्नीध्रा:-होत्रका:। (जै०न्या०मा०टि०) इति देव आचार्य:।

अनियत ही रहती है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान यह है।

### १२—चमसाध्वर्यूणामियत्ताधिकरणम्—

### दशत्वं लिङ्गदर्शनात्॥ २७॥

प०क्र०—(दशत्वम्) चमसाध्वर्यु दश हैं। क्योंकि (लिङ्गदर्शनात्) हेतु एवं प्रमाण उनके ऐसे मिलते हैं-कि वे दश ही होने चाहियें।

भा०—'दश दशैकैकं चमसमनुसर्पन्ति शतं ब्राह्मणाः' इस वाक्य से एक-एक चमस के प्रति दश-दश ब्राह्मणों के अनुसर्पण पूर्वक जो एक सौ संख्या मिलती है, इससे चमसों का दश होना स्पष्ट है। अतः वे (चमसाध्वर्यु) दश ही हैं। और एक-एक के साथ दश-दश ब्राह्मणों की अनुसर्पता मानने से उनकी संख्या सौ तक पहुँच जाती है। अतः ज्योतिष्टोम में दस ही वरण चमसाध्वर्युओं के हैं।

सं०—अब 'शमिता' संज्ञक ऋत्विक् का अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न न होने का कथन करते हैं।

### १३—शमितुरपृथक्त्वाधिकरणम्—

### पू०प०—शमिता च शब्दभेदात्॥ २८॥

प०क्र०—(च) शब्द यहाँ 'तु' शब्द के अर्थ में प्रयुक्त है। अतः पूर्वपक्ष को कहता है। (शमिता) शमिता-संज्ञक ऋत्विक्, अध्वर्यु-आदि १७ ऋत्विजों से भिन्न है। क्योंकि (शब्दभेदात्) उनसे उसके नाम का भेद है।

भा०—'शमितारमुपनयति' इत्यादि वाक्य से 'शमिता' का कथन मिलता है। सारांश यह है—कि नाम एवं कर्त्तव्य-कर्म ये दोनों, भेद के प्रयोजक हैं। और यह दोनों ही 'शमिता' नामक ऋत्विक् में मिलते हैं। अत एव वह अध्वर्यु आदि १७ ऋत्विजों से भिन्न है।

सं०—उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

### उ०प०—प्रकरणाद्वोत्पत्त्यसंयोगात्॥ २९॥

प०क्र०—'वा' शब्द का यहाँ पूर्वपक्ष के परिहारार्थ प्रयोग हुआ है। (प्रकरणात्) प्रकरण में पढ़े हुए अध्वर्यु आदि के सहकारी प्रतिप्रस्थाता आदि पुरुषों से 'शमिता' पृथक् नहीं है। क्योंकि (उत्पत्त्यसंयोगात्) उसका भिन्न वरणवाक्य नहीं मिलता।

भा०—यज्ञभूमि में पशु, दानार्थ लाया जाता है, और यदि वह चञ्चल

हो, अथवा बहुत से जनसमुदाय को देखकर भड़क उठता हो, तो अध्वर्यु के सहकारी उसे शान्तिपूर्वक लाते हैं। अतः उस पशु को शान्त करने के कारण उस अध्वर्यु की 'शमिता' संज्ञा होती है। परन्तु इसका वरण पृथक् कहीं नहीं मिलता। इससे शमिता भी सत्रह ऋत्विजों से भिन्न नहीं कहा जा सकता।

सं०—अब उपगाता, अध्वर्यु-आदि ऋत्विजों से भिन्न नहीं हैं, इसको कहते हैं।

### १४—उपगातृणामपृथक्त्वाधिकरणम्—

### सि०प०—उपगाश्च लिङ्गदर्शनात्॥ ३०॥

प०क्र०—(च) तथा (उपगाः) उपगाता भी अध्वर्यु आदि के भीतर ही है। क्योंकि (लिङ्गदर्शनात्) उसके होने का प्रमाण मिलता है।

भा०—उद्गाता आदि चार ऋत्विक् सामगाता (सामगाने वाले) होते हैं, और आस-पास बैठे हुए ऋत्विक् उपगाता कहलाते हैं। इन उपगाताओं के वरण का विधान नहीं मिलता। अतः शमिता के समान उपगाता भी अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से अलग नहीं कहे जा सकते।

सं०—सोम बेचनेवाले को ऋत्विकों से भिन्न बतलाते हैं।

### १५—सोमविक्रेतुः पृथक्त्वाधिकरणम्—

### सि०प०—विक्रयी त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात्॥ ३१॥

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्व की अपेक्षा विलक्षणता का सूचक है। (विक्रयी) सोम बेचनेवाला (अन्यः) अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से प्रथक् होता है। क्योंकि (कर्मणः) उसके कर्म सोम बेचने आदि का (अचोदितत्वात्) विधान नहीं मिलता है।

भा०—ज्योतिष्टोम में 'सोमं क्रीणाति' इत्यादि वाक्यों से उसका क्रय (मोल लेना=खरीदना) ही बतलाया गया है, न कि विक्रय (बेचना)। परन्तु यदि बेचनेवाला ही न हो, तो मोल कौन किससे लेगा। अर्थात् क्रय विक्रय में लेने देने वाले होने चाहियें। क्योंकि ये परस्पर सापेक्ष शब्द हैं। परन्तु ऐसा होने का विधान यज्ञादि में नहीं मिलता है। अत एव अध्वर्यु आदि इस कर्म को नहीं कर सकते हैं। क्योंकि उनका वरण यज्ञ में ही होता है। अतः वह (सोमविक्रयी) उन पूर्व ऋत्विजों से भिन्न ही है।

सं०—यज्ञ में कर्म करने वाले पुरुषों में ऋत्विक् किसे कहते हैं, इसको बतलाते हैं।

## १६—सर्वेषामृत्विक्शब्दवाच्यताधिकरणम्—

**पू०प०—कर्मकार्यात्सर्वेषामृत्विक्त्वमविशेषात्॥ ३२॥**

प०क्र०—(सर्वेषाम्) यज्ञ में जितने कार्यकर्त्ता हैं, वे सब (ऋत्विक्-त्वम्) ऋत्विक् कहे जाते हैं। क्योंकि (अविशेषात्) समान रूप से (कर्मकार्यात्) सभी विहितकर्मों के करनेवाले हैं।

भा०—जितने भी यज्ञकर्त्ता हैं, वे ऋत्विक् कहे जाते हैं। अतः ज्योतिष्टोम में कर्मकर्त्ताओं के बीच में केवल अध्वर्यु आदि का नाम ही ऋत्विक् नहीं है, किन्तु १७ अध्वर्यु आदि, और १० चमसाध्वर्यु ये सब ऋत्विक् ही हैं, ऐसा समझना चाहिये।

सं०—अब इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—न वा परिसङ्ख्यानात्॥ ३३॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के निवृत्त्यर्थ आया है। (न) ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि (परिसंख्यानात्) ऋत्विजों की सत्रह की संख्या सुनी जाती है।

भा०—यद्यपि 'ऋतुषु यजति'—इति ऋत्विक्—इस यौगिक अर्थ से सब ही त्रत्विक् कहे जा सकते हैं, परन्तु अध्वर्यु आदि को ही ऋत्विक् नाम से पुकारा गया है। क्योंकि शास्त्रोक्त (रूढि) नाम को छोड़कर अवयवार्थ का ग्रहण करना ठीक नहीं। प्रसिद्धि भी है कि—'योगाद् रूढिर्बलीयसी' अर्थात् यौगिक अर्थ से रूढ अर्थ बलवान् होता है। अतः ज्योतिष्टोम यज्ञ में जितने अनुष्ठानकर्म करनेवाले हैं, वे सब ही ऋत्विक नहीं कहे जा सकते। किन्तु केवल अध्वर्यु आदि की ही ऋत्विक् संज्ञा हो सकती है।

सं०—इस अर्थ में शङ्का करते हैं।

**पू०प०—पक्षेणेति चेत्॥ ३४॥**

प०क्र०—पक्षेण 'सौम्यस्याध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदशर्त्विजः' इन वाक्यों में १७ का ग्रहण एकदेश के प्रयोजन के लिये हुआ है। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जावे, तो (ठीक नहीं)।

भा०—उक्त वाक्य में सत्रह की संख्या इस कारण नहीं है, कि ज्योतिष्टोम में जितने कर्म करनेवाले हैं, उनमें ऋत्विज् केवल अध्वर्यु आदि सत्रह ही माने जाते हैं। किन्तु अवयुत्यानुवाद[१] (अवयुत्यनुवाद) है। अर्थात्

१. यत्र परा संख्या कीर्त्यते, तत्रावयुत्यानुवादो भवति। यथा द्वादशकपाले यदष्टाकपालो भवति—इति देव आचार्यः।

एकदेशग्रहणपूर्वक समुदाय के अनुवाद की योग्यता से है। यथार्थ में ज्योतिष्टोम में सत्रह ऋत्विक् होते हैं, और सब की ऋत्विक् संज्ञा है।

सं०—इस आशङ्का का समाधान करते हैं।

**उ०प०—न सर्वेषामनधिकारः ॥ ३५ ॥**

प०क्र०—(न) यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि (सर्वेषाम्) सब का (अनधिकारः) होना नहीं बतलाया गया।

भा०—उपर्युक्त वाक्य 'सौम्यस्य' के अतिरिक्त अन्यत्र वाक्यों में भी ऋत्विजों की संख्या सत्रह से अधिक यदि पाई जाती, तो उसकी अवयुत्यानुवाद (अवयुत्यनुवाद) के भाव से कल्पना की जा सकती थी। ज्योतिष्टोम में तो सब कर्मानुष्ठानकर्त्ता ऋत्विक् कहलाते हैं—यह एक पक्ष का कथन है। अतः सर्व कर्मकर्त्ता ऋत्विज् नहीं, किन्तु अध्वर्यु आदि ही ऋत्वज् हैं।

सं०—अब पूर्वोक्त वाक्य में सप्तदश ऋत्विज्, अध्वर्यु आदि को ही मानना चाहिये, इसका नियम करते हैं।

**१७—ब्रह्मादीनामृत्विक्त्वनियमाधिकरणम्—**

**सि०प०—नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् ॥ ३६ ॥**

प०क्र०—'तु' शब्द का नियम की निवृत्ति के लिये प्रयोग किया गया है। (नियमः) सत्रह ऋत्विज् अध्वर्यु-आदि ही हैं, अन्य नहीं। यह बात (दक्षिणाभिः) दक्षिणा-वाक्य से सिद्ध होती है। क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) दक्षिणा-वाक्य में उनकी सज्ञा (उनके नाम) का सङ्केत मिलता है।

भा०—'ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति' इस वाक्य में ऋत्विजों को दक्षिणा देने का विधान है; तदुपरान्त 'अग्नीध्रे[१]' प्रथमं ददाति, ततो ब्रह्मणे, ततोऽध्वर्यवे—पहिले अग्नीध्र को दक्षिणा दे, पीछे ब्रह्मा और अवर्ध्यु को दक्षिणा दे। इनमें दक्षिणा के क्रम का विधान पाया जाता है। यदि इन सप्तदश में चमसाध्वर्यु भी लिये गये होते, तो पूर्वोक्त 'ऋत्विगभ्यो दक्षिणां ददाति'-इस वाक्य में प्रत्येक ऋत्विज् को दक्षिणा देने के विधान की प्रतिज्ञा करके, वे ऋत्विज् कौन हैं? इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में जो ऋत्विजों के नाम गिनाये गये हैं, उनमें चमसाध्वर्युओं का अवश्य नाम लेते, पर ऐसा नहीं किया। अतः स्पष्ट सिद्ध होता है, कि सप्तदश ऋत्विजों में अध्वर्यु आदि ही लिये गये हैं, चमसाध्वर्यु नहीं लिए गये।

---

१. तै०सं० ६।६।१।५। (जै०न्या०मा०टि०) इति देव आचार्यः।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

**सि०प०स०—उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षा-विधानात्॥ ३७॥**

प०क्र०—(च) और (यजमानत्वम्) सत्र में सब ऋत्विजों को यजमान (उक्त्वा) कहकर (तेषाम्) तदुपरान्त अध्वर्यु आदि की (दीक्षा-विधानात्) दीक्षा विधान की है। इससे भी पूर्वोक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

भा०—'जैसे (सत्रप्रकरणे) ये यजमानास्त ऋत्विजः'—यहाँ यजमान को ही ऋत्विज् कहा है। पीछे 'अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति', तत उद्गातारम् ततो होतारम्, ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वाऽर्धिनो दीक्षयति-इत्यादि क्रम से दीक्षा देना कहा है। अतः सिद्ध है—कि अध्वर्यु को ही ऋत्विज् माना है, चमसाध्वर्यु को नहीं।

सं०—उन सत्रह अध्वर्यु आदि ऋत्विजों[१] में सत्रहवाँ यजमान ही है, इसको कहते हैं।

### १८—यजमानसप्तदशत्वाधिकरणम्—

**सि०प०—स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात्॥ ३८॥**

प०क्र०—(स्वामिसप्तदशाः) 'अध्वर्यु' आदि उन सत्रह में अध्वर्यु आदि के अतिरिक्त सत्रहवाँ यजमान भी ऋत्विज् कहा जाता है। क्योंकि (कर्मसामान्यात्)''विहित कर्म का करना'' यह बात और ऋत्विजों की भांति उसमें भी समानरूप से बराबर विद्यमान है।

भा०—यद्यपि ज्योतिष्टोम में अनेक-पुरुष कर्मानुष्ठान करनेवाले होते हैं, तथापि विहितकर्मकर्त्ता केवल सत्रह ही होते हैं। जिनमें १६ तो अध्वर्यु आदि होते हैं और सत्रहवाँ यजमान होता है। तथा उन सोलह में अध्वर्यु, होता, और उद्गाता एवं ब्रह्मा ये चार मुख्य ऋत्विज् कहे जाते हैं। शेष इनके सहकारी होते हैं। इन १२ सहकारियों में विशेष और साधारण भी होते हैं। अत एव उनकी दक्षिणा भी उसी क्रम से होती है। सारांश यह है—कि यदि यज्ञ की ४०) रु० दक्षिणा हो, तो मुख्य ऋत्विजों को चार चार,

---

सूचना— (१)—अध्वर्युः[१]—ब्रह्मा[२]—उद्गाता[३]—होता।
(२)—प्रतिप्रस्थाता—ब्राह्मणाच्छसी—प्रस्तोता—मैत्रावरुणः।
(३)—नेष्टा—आग्नीध्रः—प्रतिहर्ता—अच्छावाकः।
(४)—उन्नेता—पोता—सुब्रह्मण्यः—ग्रावस्तुत्। इति चत्वारो गणाः, षोडशर्त्विजो वेदितव्याः। (जै०न्या०मा०टि०)—इति देव आचार्यः।

अर्धियों को तीन तीन, तृतीयांश वालों को दो दो, चतुर्थांश वालों को एक एक रुपया दक्षिणा दे देनी चाहिये। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना चाहिये।

सं०—यज्ञ में अध्वर्यु आदि ऋत्विजों का नियत कर्म कथन करते हैं।

## १९-२०—ऋत्विजां नियतपदार्थकर्तृत्वाधिकरणम्—

**पू०प०—ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्नयश्च स्वकालत्वात्॥ ३९॥**

प०क्र०—(ते) अध्वर्यु आदि ऋत्विज् (सर्वार्थाः) यज्ञसम्बन्धी सर्वकर्मों को कर सकते हैं। क्योकि (प्रयुक्तत्वात्) समानरूप से प्रत्येक कार्य के लिये ही वे नियत किये जाते हैं। (स्वकालत्वात्—अग्नयश्च) इसी प्रकार यथासमय विहित होने से अग्नियों के विषय में भी यही समझना चाहिये। अर्थात् किसी भी अग्नि में वे कार्य कर सकते हैं।

भा.—अध्वर्यु आदि सोलह जो ऋत्विज् होते हैं उनमें अमुक-अमुक यह कर्म करे, इस प्रकार का कोई भी नियत विधान नहीं, अतः सब सर्वकर्म करने के अधिकारी हैं। क्योंकि सर्वकर्मानुष्ठान (यथासमय कोई भी कर्म करने) के लिये ही उनकी नियुक्ति होती है। अतः प्रत्येक प्रत्येककर्म कर सकता है।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—तत्संयोगात् कर्मणो व्यवस्था स्यात्, संयोगस्यार्थवत्त्वात्॥ ४०॥**

प०क्र०—(कर्मणः) कौन ऋत्विज् किस कर्मको करे, इस प्रकार कर्म करने की (व्यवस्था) प्रत्येक ऋत्विज् के लिए व्यवस्था (स्यात्) है। क्योंकि (तत्संयोगात्) उसके साथ 'आध्वर्यवम्' इत्यादि समाख्या का सम्बन्ध मिलता है। और (संयोगस्य) वह सम्बन्ध समाख्यारूप (अर्थवत्त्वात्) सार्थक होता है, निरर्थक नहीं होता।

भा०—यद्यपि ज्योतिष्टोम यज्ञ में कर्म करने की व्यवस्था नहीं है, कि कौन-कौन क्या करे। परन्तु पुनरपि समाख्या के बल पर प्रत्येक कर्म प्रत्येक-ऋत्विक् का नियमित हो जाता है। इसी कारण जिस कर्म की 'आध्वर्यवम्' समाख्या है, उसे अध्वर्यु और जिसकी 'हौत्र' समाख्या है, उसे होता तथा जिस की औद्गात्र समाख्या है, उसे उद्गाता करता है। अत एव उसी प्रकार उन का वरण भी पाया जाता है।

सं०—समाख्या द्वारा नियम का बाध बतलाते हैं।

## सि०प०—तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः ॥ ४१ ॥

प०क्र०—(उपदेशसमाख्यानेन) कहीं वाक्यविशेष द्वारा (तस्य) उस कर्म करने का (निर्देशः) नियम मिलता है।

भा०—यद्यपि समाख्या के बल पर प्रैषोच्चारण तथा अनुवचन पाठ अध्वर्यु आदि के कर्त्तव्य होते हैं, तथापि उनका वाक्यविशेष के साथ विरोध होने से, वे कर्म उनके कर्त्तव्य नहीं माने जा सकते। क्योंकि प्रबल होने से वाक्य द्वारा समाख्या का बाध हो जाता है। और बाधित अर्थ प्रमाणित न होने के कारण ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः प्रैषोच्चारण आदि मैत्रावरुणसंज्ञक ऋत्विक् का कार्य है, न कि अध्वर्यु का।

सं०—इसका लक्षण (प्रमाण) यह है।

## सि०प०स०—तद्वच्च लिङ्गदर्शनम्॥ ४२ ॥

प०क्र०—(च) तथा (तद्वत्) पूर्वोक्त कथनानुसार उसी भांति का (लिङ्गदर्शनम्) लक्षण (प्रमाण) भी मिलता है।

भा०—'होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवतः' इत्यादि वाक्य में होता के अनुवचन का अनुवाद किया गया है। अतः इससे सिद्ध होता है- कि जो वेदमन्त्र प्रातरनुवाकसंज्ञक हैं, वे प्रातः पठनीय हैं। यदि यह अनुवचन (अनुवाक) पाठ समाख्या द्वारा होता को विहित न किया जाता, तो उक्त लिङ्गवाद में उसका अनुवाद नहीं हो सकता था। परन्तु है। अतः इस अनुवाद के होने से समाख्या द्वारा प्राप्त वस्तु वाक्यविशेष का बाधक होता है, यह स्पष्ट सिद्ध होगया है, इस कारण समाख्या से होता आदि को प्राप्त होने पर चह कर्म समुचितवाक्यविशेष द्वारा मैत्रावरुण को ही कर्त्तव्य होता है, न कि अन्य को। जैसा कि अग्रिम-सूत्र में वर्णित है।

षं०—सब प्रैषानुवचन को मैत्रावरुण का कर्तव्य बतलाने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं।

## २१—प्रैषानुवचनस्य मैत्रारुणकर्तृत्वाधिकरणम्—

## पू०प०—प्रैषाऽनुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात्॥ ४३ ॥

प०क्र०—(प्रैषानुवचनम्) समस्त एवं व्यस्त सब प्रैष एवं अनुवचन (मैत्रावरुणस्य) मैत्रावरुण को कर्त्तव्य हैं। क्योंकि (उपदेशात्) वाक्य विशेष से ऐसा ही प्रतीत होता है।

भा०—'मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह'—इस वाक्य से प्रैष एवं अनुवचन मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् को ही कर्त्तव्य हैं। समस्त तथा व्यस्त

जितने प्रैष और अनुवचन हैं, उनका उच्चारण मैत्रावरुण ही करे। यहां 'प्रेष्यति' और 'अनु चाह' पद से प्रैष-मात्र और अनुवचन मात्र का होना प्रतीत होता है। क्योंकि सामान्यवाची शब्द से विशेषार्थ का लाभ नहीं होता। यह सार्वभौम नियम है। क्योंकि यहां सामान्य अर्थ के वाचक शब्द का प्रयोग है, अतः समस्त व्यस्त जितने प्रैष एवं अनुवचन हैं, वे सब मैत्रावरुण को ही करने चाहियें।

सं०—इस पक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात्॥ ४४॥**

प०क्र०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ है। (पुरोऽनुवाक्य-धिकारः) प्रैष-सहित अनुवचन में मैत्रावरुण का अधिकार है, सब में नहीं। क्योंकि (प्रैषसन्निधानात्) वहां प्रैष के साथ ही अनुवचन का भी विधान है।

भा०—उक्त वाक्य में जो 'प्रेष्यति' का 'अन्वाह' की सन्निधि में प्रयोग मिलता है, वह विशेषार्थ के बिना नहीं मिल सकता था। और विशेषार्थ के मानने में व्यस्त प्रैष और अनुवचन का ग्रहण होना असम्भव है। अतः उस वाक्य में जो मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् का प्रैष और अनुवचन कर्त्तव्य बतलाया है, वह समस्त का है, न कि व्यस्त का।

सं०—इस अर्थ में युक्ति देते हैं।

**उ०प०स०—प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात्॥ ४५॥**

प०क्र०—(च) और (प्रातरनुवाके) अनुवचनरूप प्रातः पठित अनुवाक में (होतृदर्शनात्) होता का सम्बन्ध मिलने से पूर्वोक्त कथन ही सिद्ध होता है।

भा०—यदि समस्त प्रैषों और अनुवचनों का करना मैत्रावरुण का ही कर्त्तव्य माना गया होता, तो अनुवचनरूप प्रातरनुवाक में होता का सम्बन्ध नहीं मिलना चाहिये था। परन्तु 'होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवतः' इस वाक्य में अनुवचनरूप प्रातरनुवाक के साथ होता का सम्बन्ध स्पष्ट मिलता है। अतः जो प्रैष और अनुवचन का कर्त्ता मैत्रावरुण है, वह समस्त व्यस्त सब प्रेषानुवचनों का नहीं, किन्तु समस्त प्रैषानुवचनों का ही है। क्योंकि उन्हीं को कहा है।

सं०—अब अध्वर्यु चमसहोमों का कर्त्ता है, इसको दिखलाने के लिए पूर्वपक्ष उठाते हैं।

**पू०प०—चमसांश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात्॥ ४६॥**

प०क्र०—(चमसान्) चमसहोमों को (चमसाध्वर्यवः) चमसाध्वर्यु करें। क्योंकि (समाख्यानात्) चमसाध्वर्यु समाख्या से ऐसा ही मिलता है।

भा०—श्रुति, लिङ्ग आदि के समान समाख्या भी एक विनियोजक प्रमाण है। यदि अन्य कोई प्रमाण न हो, तो समाख्या से अर्थ करना चाहिये। प्रकृत में 'चमसाध्वर्यु' समाख्या है ही। अतः समाख्या के बल से सिद्ध है—कि चमसहोमों का कर्त्ता चमसाध्वर्यु है, दूसरा नहीं। इसी भांति के लिङ्गदर्शन (लक्षण) भी मिलते हैं।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान किया जाता है।

**उ०प०—अध्वर्युर्वा तन्न्यायत्वात्॥ ४७॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष के निरास के लिये आया है। (अध्वर्युः) चमसहोम का कर्त्ता अध्वर्यु है। क्योंकि (तन्न्यायत्वात्) वह न्याय प्राप्त है।

भा०—यद्यपि समाख्या से ही यावद् होम का करनेवाला अध्वर्यु, और चरमहोमों को करनेवाला चमसाध्वर्यु ये दोनों होना सिद्ध हैं, तथापि 'चमसहोम' का कर्त्ता चमसाध्वर्यु नहीं हो सकता। क्योंकि 'आध्वर्यव' समाख्या की अपेक्षा रखने के कारण सापेक्ष होने से 'चमसाध्वर्यु' यह समाख्या प्रबल नहीं है। किन्तु चमसाध्वर्यु समाख्या की अपेक्षा न रखने के कारण निरपेक्ष होने से 'आध्वर्यव' समाख्या प्रबल है। अतः चमस-होमों के करनेवाले चमसाध्वर्यु नहीं, किन्तु यावद् होमों के कर्त्ता होने से उन के कर्त्ता अध्वर्यु ही हैं।

सं०—इस कथन में युक्ति देते हैं।

**उ०प०स०—चमसे चान्यदर्शनात्॥ ४८॥**

प०क्र०—(च) और (चमसे) चमस होम में (अन्यदर्शनात्) अन्य का सम्बन्ध मिलने से भी इस अर्थ की प्रामाणिकता है।

भा०—'चमसांश्चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति' इस वाक्य में होमकर्त्ता को देनेवाला और चमसाध्वर्यु को लेनेवाला कहा है। आदान एवं प्रदान करनेवाले एक नहीं होते, अर्थात् चमसहोम का कर्त्ता चमसाध्वर्युओं से भिन्न होना चाहिये, और जो भिन्न है, वह 'आध्वर्यव' इस समाख्या के कारण अध्वर्यु ही ठीक हो सकता हैं। अतः चमसहोम का कर्त्ता अध्वर्यु है, न कि चमसाध्वर्यु कहा जा सकता है।

सं०—यदि चमसाध्वर्यु चमसहोम का कर्त्ता नहीं, तो उनकी समख्या

क्यों की गई, इसका समाधान करते हैं।

**उ०प०ए०—अशक्तौ ते प्रतीयेरन्॥ ४९॥**

प०क्र०—(अशक्तौ) अध्वर्यु के होम करने में अशक्त होने पर (ते) चमसाध्वर्यु (प्रतीयेरन्) हवन कर सकते हैं।

भा०—इस समाख्या का मूल हेतु, अध्वर्यु के असमर्थ होने पर चसमाध्वर्युओं द्वारा चमसहोम का करना है। अत: उसे नियत होम नहीं कह सकते।

सं०—अनेक विधि-कर्म जो कि वेदानुसार अनुष्ठेय हैं, उनका वर्णन करते हैं।

### २३—अनेककर्तृकत्वाधिकरणम्—

**वेदोपदेशात्पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः॥ ५०॥**

प०क्र०—(पूर्ववत्) पूर्व अधिकरण की भांति (वेदोपदेशात्) जैसे वैदिकसमाख्यानुसार चमसहोमकर्त्ता अध्वर्यु ही कहा जावेगा उसी प्रकार (वेदान्यत्वे) नाना वेदाक्त कर्म भी (यथोपदेशम्) जैसी वैदिकविधि हो, उसके अनुसार ही (स्युः) अनुष्ठेय हैं।

भा०—ईश्वरीय प्रेरणा के कारण स्वत:प्रमाण एकमात्र वेदों को ही गौरव प्राप्त है। जिनमें कि कर्मों की विधि अथवा निषेध का उपदेश उपादेय एवं होम दृष्टि से है। अत: वे वेदोक्त कर्म ही कर्त्तव्य हैं, शेष अकर्त्तव्य एवं त्यज्य हैं।

सं०—अब साङ्ग वेदाध्ययन की शिक्षा उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये आवश्यक है, अत: उसे कहते हैं।

**तद्ग्रहणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात्**
**सहाङ्गैरव्यक्तः शेषे॥ ५१॥**

प०क्र०—(वा) शब्द पूर्वपक्ष से विलक्षणता द्योतन करता है। (अधिकारसामर्थ्यात्) अपनी शक्ति के अनुकूल, (अङ्गैः) व्याकरण आदि अङ्गों के (सह) सहित (तद्ग्रहणात्) वेद का ग्रहण होने से ही (स्वधर्मः) अपने धर्म का (स्यात्) निश्चय होता है, नकि किसी दूसरे प्रकार से, व्याकरणादि (शेषे) अङ्गों को छोड़कर केवल वेद से अल्बुद्धिवालों को (अव्यक्तः) स्पष्ट नहीं होता।

भा०—वेदोक्त कर्मों का ही अनुष्ठान करना मनुष्यमात्र का धर्म है। परन्तु वेद बड़े गम्भीर और समस्त विद्यामय होने से कठिनता से समझ में

आते हैं। यही कारण है—कि साधारण मनुष्य तो वेदों को पढ़कर अपना धर्म भी निश्चय नहीं कर सकता। वेद का निश्चित अर्थ षट् अङ्ग और षट् उपाङ्गों के अध्ययन के अधीन है अर्थात् जो मनुष्य पाँच अथवा आठ वर्ष की आयु से लेकर पच्चीस अथवा तीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य से रहकर गुरुकुल में साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों को पढ़े, वही पुरुष अनुष्ठेय और अननुष्ठेय कर्म का निश्चय कर सकता है। अतः वेदानुयायियों को कर्मनिश्चय की दृढ़ता के लिये साङ्गोपाङ्ग (अङ्ग और उपाङ्गों का) अध्ययन करना चाहिये।

**मीमांसादर्शने सभाषाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य सप्तमः पादः समाप्तः।**

## अथ तृतीयाऽध्यायस्य अष्टमः पादः प्रारभ्यते

सं०—यजमान ऋत्विजों का वरण करे, इस को स्पष्ट करते हैं।

### १—दक्षिणादानस्य स्वामिकर्तृकत्वाधिकरणम्—

**सि०प०—स्वामिकर्म परिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात्॥ १॥**

प०क्र०—(परिक्रयः) ऋत्विजों का वरण (स्वामिकर्म) यजमान करे। क्योंकि (कर्मणः) यज्ञ (तदर्थत्वात्) उसी के निमित्त है।

भा०—यज्ञ में आहुति आदि नाना प्रकार के कर्म होते हैं, जिसे केवल यजमान ही नहीं कर सकता। उसे उनके अनुष्ठान के लिये सहायक चाहिये ही। अतः जब तक वरण न हो, तब तक वे सहायक कैसे मिल सकते हैं। अतः जब यह वरण यजमान ही कर सकता है, न कि ऋत्विज्। क्योंकि अकारण ऋत्विज् क्यों वरण करेगा। अतः ऋत्विजों का वरण करना यजमान का ही कर्म है।

सं०—यजमान की आज्ञा से वरण किये हुए अध्वर्यु का कर्त्तव्य बतलाते हैं।

### २—अध्वर्युकर्तृकत्वाधिकरणम्—

**सि०प०स०—वचनादितरेषां स्यात्॥ २॥**

प०क्र०—(वचनात्) यजमान की आज्ञा से (इतरेषाम्) अध्वर्यु आदि ऋत्विज् द्वारा भी (स्यात्) वह वरण किया जाता है।

भा०—यजमान के द्वारा वरण करने पर जैसे ऋत्विजों का वरण माना जाता है उसी भाँति यजमान की आज्ञा से अध्वर्यु आदि ऋत्विजों द्वारा वरण किये गये ऋत्विज् यजमान के वरण किये कहे जा सकते हैं। अतः अध्वर्यु को भी यजमान ही वरण करे, यह निश्चय कर लेना चाहिये।

सं०—'वपन' आदि संस्कार याजमानता के कथन के लिये हैं।

### ३—वपनादिसंस्काराणां याजमानताधिकरणम्—

### पू०प०—संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्म-वद्व्यवतिष्ठेरन्॥ ३॥

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष का सूचक है। (पुरुषसामर्थ्ये) अनुष्ठान की योग्यता के निमित्त (संस्काराः) विहित 'वपन' आदि संस्कारों की (कर्मवत्) 'आध्वर्यव' आदि कर्म के समान (यथावेदम्) वेदानुकूल ही (व्यवतिष्ठेरन्) व्यवस्था होनी चाहिये।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में 'केशश्मश्रू वपते' 'दतो धावते' 'नखानि निकृन्तते',—'स्नाति'—अर्थात् बाल, डाढ़ी मुड़ावे, दातौन करे, नाखुन कटवाये और स्नान करे, इत्यादि वाक्यों में 'वपन' भी संस्कार माना है। अतः जैसे शस्त्र, स्तोत्र, आदि कर्म 'आध्वर्यव' और 'शास्त्र' आदि समाख्या से अध्वर्यु आदि को कर्त्तव्य हैं, उसी भाँति बाल, डाढ़ी आदि वपन भी हैं। ज्योतिष्टोम में इन्हें भी संस्कार माना गया है। अतः ये संस्कार भी अध्वर्यु को करने चाहियें।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

### उ०प०—याजामानास्तु तत्प्रधानत्वात्कर्मवत्॥ ४॥

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष के परिहार के लिये आया है। (कर्मवत्) जिस प्रकार प्रधान-कर्म यजमान का होने से—उसे 'याजमान' कहा जाता है, उसी भाँति (याजमानाः) केशवपन आदि संस्कार-कर्म भी 'याजमान' ही के हैं। क्योंकि (तत्प्रधानत्वात्) वह फल का भोक्ता होने से प्रधान है।

भा०—मनुष्य को संस्कार कराने के प्रश्चात् वैदिक कर्म का अनुष्ठान कर्त्तव्य है, और जब तक यजमान अधिकारी नहीं बन जाता, तब तक ऋत्विग्वरण असम्भव है। अतः यजमान का वपन कार्य, कर्म का अङ्ग है। और ये वपनादि कार्य (आध्वर्यव) (अध्वर्यु करे) इस समाख्या के आधार पर नहीं हैं। इन वपनादि कार्यों को केवल यजमान करे।

सं०—इसमें हेतु देते हैं।

### उ०प०स०—व्यपदेशाच्च॥ ५॥

प०क्र०—(च) तथा (व्यपदेशात्) और कर्मसम्बन्धी अभ्यङ्ग से भी पूर्वोक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भा०—'तमभ्यनक्ति' वाक्य से लोकप्रसिद्ध इस क्रिया की सिद्धि

होती है, कि क्षौर-कर्म के अनन्तर अभ्यङ्ग (तेलमर्दन) करे, पुनः स्नान करे। इस विषय में लौकिक और ब्राह्मणवाक्यों की एकता है। अतः वपन कार्य ज्योतिष्टोम में संस्कार कर्म है, परन्तु वह अध्वर्यु का नहीं, यजमान का है।

सं०—पूर्वार्थ के साधक का कथन करते हैं।

**उ०प०स०—गुणत्वे[1] तस्य निर्देशः॥ ६॥**

प०क्र०—(गुणत्वे) यजमान का धर्म होने पर ही (तस्य) वपन आदि का (निर्देशः) विधान सङ्गत हो सकता है।

भा०—जिसका और कर्म कहा गया है, उसी का अभ्यङ्ग एवं स्नान बतलाया है। यदि और कर्म ऋत्विजों का और अभ्यङ्ग यजमान का हो, तो वैयधिकरण्य हो जायगा, और अधिकरण से बाहर (पृथक्) होने से ब्राह्मणवाक्य की समता न रहेगी। अतः वह वपन यजमान का ही है।

सं०—इस अर्थ में साधकान्तर बतलाते हैं।

**उ०प०स०—चोदनां प्रति भावाच्च॥ ७॥**

प०क्र०—(च) तथा (चोदनां प्रति) जिसके लिये विधान मिलता है, उसके प्रति (भावात्) संस्कार कर्म का सद्भाव होने से भी उक्ज अर्थ की सिद्धि होती है।

भा०—जो प्रधान-कर्म का कर्त्ता है, संस्कार कर्म भी उसी के होते हैं, और फलभोक्ता होने से यजमान ही निश्चित प्रधान-कर्त्ता है। अतः वपन आदि संस्कार यजमान के ही होने चाहियें।

प०क्र०—जैसे यजमान का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार समाख्यावश अध्वर्यु का भी कर्त्तव्य क्यों न मानें।

**अतुल्यत्वादसमानविधानाः स्युः॥ ८॥**

प०क्र०—(असमानविधानाः स्युः) वे संस्कार (वपनादि) कर्म अध्वर्यु और यजमान दोनों को समानरूप से कर्त्तव्य नहीं हो सकते। क्योंकि (अतुल्यत्वात्) दोनों समान (एकसे) नहीं हैं।

भा०—वपन आदि संस्कार यजमान के लिये कहा गया है; अध्वर्यु के लिये नहीं। अतः अध्वर्यु को न कराना चाहिये।

---

सूचना—(१) सतन्त्रवार्तिकशाबरभाष्योपेतमीमांसादर्शने 'गुणत्वे' इति पाठः मीमांसासूत्रपाठे च 'गुणत्वेन' इति च पाठोऽस्तीति देव आचार्यः।

सं०—'तप' याजमान कर्म है।

### ४—तपसो याजमानताधिकरणम्—

### सि०प०—तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत्॥ ९॥

प०क्र०—(च) और (तपः) वपन आदि के समान तप (व्रत) भी यजमान का कर्म है। क्योंकि (लोकवत्) लोकप्रसिद्ध परिश्रम उभयत्र समान है। वह भी (फलसिद्धित्वात्) फलसिद्धि का हेतु है।

भा०—'द्व्यहं नाश्नाति' दो अथवा तीन दिन तक न खावे, यह निरालस्यरूप तप का विधान यजमान के निमित्त है, न कि अध्वर्यु के लिये। क्योंकि अधिक अन्न खाने से यज्ञ सम्पादन नहीं हो सकता। ज्योतिष्टोम में 'अनशन' व्रत का विधान इसी कारण है, कि आलस्यरहित स्फूर्तिपूर्वक यजमान कार्य करता रहे।

सं०—वाक्यशेष से उक्त अर्थ की सिद्धि पाई जाती है।

### सि०प०स०—वाक्यशेषश्च तद्वत्॥ १०॥

प०क्र०—(च) और (तद्वत्) संसार के समान (वाक्यशेषः) वाक्यशेष भी उक्तार्थ का समर्थक है।

भा०—यदा[१] वै दीक्षितः कृशो भवति अथ मेध्यो भवति। यदाऽस्मिन्नन्तर्न किञ्चन भवति, अथ मेध्यो भवति। इस वाक्य का यही अर्थ है—कि यजमान का यदि कर्म 'अनशन' न होता, तो वाक्यशेष में तप के प्रभाव से उसकी पवित्रता न बतलाई जाती, किन्तु अल्प ऋत्विजों का पवित्र करना बतलाया जाता, वह न होने से यजमान का ही कर्म है।

सं०—तप को वाक्यशेष के बल से कहीं ऋत्विजों का भी कर्म कहा है।

### सि०प०स०—वचनादितरेषां स्यात्॥ ११॥

प०क्र०—(वचनात्) वाक्यशेष के बल से (इतरेषाम्) कहीं-कहीं ऋत्विजों का भी कर्म तप कहा गया (स्यात्) है।

भा.—'रात्रिसत्रे सर्वे ऋत्विज उपवसन्ति' रात्रिसत्र में सब ऋत्विज् उपवास करें। अतः यह निश्चय है कि वाक्यविशेष से कहीं-कहीं ऋत्विजों का भी कर्म तप हो सकता है।

सं०—इसे ही पुनः दृढ करते हैं।

---

१. आप०श्रौ० १०।१४।९।१०। (जै०न्या०मा०टि०) इति देव आचार्यः।

**सि०प०स०—गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात्॥ १२॥**

प०क्र०—(च) और (वेदेन) वेद-सम्बन्धी 'आध्वर्यव' आदि समाख्या द्वारा (व्यवस्था) 'तपः' कर्मादि की व्यवस्था (न) नहीं (स्यात्) होती। क्योंकि (गुणत्वात्) वह गौण कर्म है, सब का नहीं।

भा०—युक्ति द्वारा तथा सन्निकट के प्रमाणों से वह तप आदि कर्म यजमान को, और वाक्यविशेष के बल से कहीं-कहीं ऋत्विजों को भी कर्त्तव्य हैं। परन्तु अध्वर्युमात्र को नहीं।

सं०—फलकामना यजमान का कर्त्तव्य है।

**१६-६—गुणकामानां यजमानत्वाधिकरणम्—**

**सि०प०—कामोऽर्थसंयोगात्॥ १३॥**

प०क्र०—(तथा) जिस प्रकार 'तप' यजमान का कर्म है, उसी प्रकार (कामः) फलेच्छा भी यजमान को ही करनी चाहिये। क्योंकि (अर्थसंयोगात्) उस फल का भोक्ता वही है।

भा०—ज्योतिष्टोम यज्ञ में 'यदि[1] कामयेत वर्षुकः पर्जन्यः स्याद्'-इति, नीचैः सदो मिनुयात्'- इस वाक्य में यह बतलाया है, कि यदि यह इच्छा हो-कि शीघ्र वृष्टि करनेवाले मेघ आकाश में आ जावें, तो पूर्व और पश्चिम भाग में 'हविर्धान' एवं 'प्राचीन वेश' नामक दो मण्डप ऊँचे बनाये जावें। और उसके बीच में 'सदः' नामक मण्डप कुछ नीचा बनाया जावे। यहाँ वृष्टिरूप फल की इच्छा पाई जाती है। इच्छा और भोग समान (एक) पदार्थ में ही होते हैं, भिन्न में नहीं। अतः यजमान ही फल का भोक्ता होता है, जिसकी कि कामना उसे होना स्वाभाविक है। इसी कारण फल की कामना यजमान का ही कर्त्तव्य है, ऋत्विजों का नहीं।

सं०—इसका कुछ अपवाद कथन करते हैं।

**सि०प०स०—व्यपदेशादितरेषां स्यात्॥ १४॥**

प०क्र०—(व्यपदेशात्) वाक्यविशेष के बल से (इतरेषाम्) ऋत्विज् भी (स्यात्) उक्त कामना के कर्त्ता होते हैं।

भा०—'एवंविद् उद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति' इस उद्गीथोपासना-प्रकरण में उद्गाता द्वारा यजमान के लिये फलप्राप्ति की प्रार्थना के निमित्त सामगान का विधान है, जो वाक्यविशेष से

---

सूचना—(१) मै०सं० ३।८।९। (जै०न्या०मा०टि०) इति देव आचार्यः।

है। अत एव अपवाद विषय को त्यागकर उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है। इस कारण ऋत्विक् भी इष्टकामना के कर्त्ता होते हैं।

सं०—'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि' मन्त्र का पाठ यजमान को करना चाहिये या ऋत्विजों को—इसको कहते हैं।

### ७—प्रोत्साहनमन्त्राणां याजमानत्वाधिकरणम्—

### सि०प०—मन्त्राश्चाऽकर्मकरणास्तद्वत्॥ १५॥

प०क्र०—(च) और (अकर्मकरणाः) जिन मन्त्रों में आहुति डालना आदि का विनियोग कियात्मक नहीं। (मन्त्राः) उन मन्त्रों का पाठ (तद्वत्) कामनाफल की प्राप्ति के निमित्त यजमान करे।

भा०—'तेज' आदि शब्दों का 'मयि' के साथ सम्बन्ध होने से गुणों के आधान की प्रार्थना करना यजमान का ही कर्त्तव्य है, न कि ऋत्विजों का। क्योंकि यजमान का परिक्रीत ऋत्विज् होता है, वह उक्त गुणों की प्रार्थना का अधिकारी नहीं।

सं०—इसमें यह युक्ति देते हैं।

### विप्रयोगे च दर्शनात्॥ १६॥

प०क्र०—(च) तथा (विप्रयोगे) प्रवास (दूर देश) में रहने पर भी (दर्शनात्) प्रार्थना का विधान मिलने से यह उक्त अर्थ सिद्ध होता है।

भा०—'इहैव सन् तत्र सन्तं त्वाग्ने' इस याक्य द्वारा प्रवास में (दूर देश में) रहते हुए भी गुणों के लिए प्रार्थना करना, प्रमाधित करता है कि यजमानों को ही ऐसे मन्त्र पढ़ने चाहियें। अध्वर्यु आदि ऋत्विजों को नहीं।

सं०—'वाजस्य मा प्रसव' यजुर्वेद १७। ६३ का मन्त्र यजमान और अध्वर्यु दोनों पढ़ें या कोई एक-इसका निर्णय करते हैं।

### ८—द्व्याम्नातानामुभयार्थत्वाधिकरणम्—

### सि०प०—द्व्याम्नोतेषूभौ द्व्याम्नानस्यार्थत्वात्॥ १७॥

प०क्र०—(द्व्याम्नातेषु) दो वार जिन मन्त्रों का पाठ किया जावे, उनको पढ़ना (उभौ) यजमान और अध्वर्यु दोनों का कर्त्तव्य है। क्योंकि (द्व्याम्नानस्य) इसका दो वार पाठ पढ़ना (अर्थवत्त्वात्) अर्थयुक्त (सार्थक) हो जाता है।

भा०—यदि अध्वर्युकाण्ड में पठित, और यजमानकाण्ड में अपठित आम्नाय (वेद) का पाठ मानें, तो एक अविहित हो जावेगा। यदि दोनों में मानें तो सार्थक होता है। अतः दर्श पौर्णमास-याग-प्रकरण में 'वाजस्य मा'

इत्यादि पठित मन्त्र यजमान और अध्वर्यु दोनों को साथ-साथ पढ़ने चाहियें, अलग-अलग नहीं।

सं०—मन्त्रार्थवेत्ता यजमान मन्त्रपाठ करे, इसके विषय में कहते हैं।

### ९—अभिज्ञवाचनाधिकरणम्—

**सि०प०—ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति॥ १८॥**

प०क्र०—(ज्ञाते) मन्त्रार्थज्ञाता यजमान से (च) ही (वाचनम्) यज्ञ में पठनीय मन्त्र पढ़वावे। (हि) क्योंकि (अविद्वान्) मन्त्रार्थ न जाननेवाले (विहितः) यजमान, विहित (न अस्ति) नहीं माना गया।

भा०—सर्वत्र विद्वान् को ही यजमान बनाना ठीक है। क्योंकि वह मन्त्रार्थवेत्ता और करनेयोग्य कर्त्तव्यकर्म का सर्मथ-कर्त्ता हो सकता है। अविद्वान् नहीं हो सकता। जैसे कहा है—कि 'न ह्य विद्वान् विहितोऽस्ति'।

सं०—बारह द्वन्द्वकर्मों का करनेवाला अध्वर्यु होता है-इसको कहते हैं।

### १०—द्वादशद्वन्द्वानामाध्वर्यवत्वाधिकरणम्—

**पू०प०—याजमाने समाख्यानात् कर्माणि याजमानं स्युः॥ १९॥**

प०क्र०—(कर्माणि) द्वन्द्व-संज्ञक द्वादश-कर्म (याजमानम् स्युः) यजमान को करने चाहियें। (याजमाने) क्योंकि यजमान काण्ड में (समाख्यानात्) उनका कथन मिलता है।

भा०—दर्शपूर्णमास-यजन के याजमानकाण्ड में ''द्वाद्वश द्वन्द्वानि दर्शपूर्णमासयोस्तानि सम्पाद्यानीत्याहुः-वत्सञ्चोपवसृजति, उखाञ्चाधिश्रयति अव च हन्ति, दृशदुपले च समाहन्ति''-इत्यादि वाक्य से द्वन्द्वकर्मों का विधान किया है। जो विधान जिसके काण्ड में है, वह उसी (यजमान) को कर्त्तव्य होता, न कि अध्वर्यु आदि किसी अन्य को।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—अध्वर्युर्वा तदर्थो हि न्यायपूर्वं समाख्यानम्॥ २०॥**

प०क्र०—वा शब्द पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये आया है। (अध्वर्युः) अध्वर्यु को उक्त द्वाद्वश कर्म करने चाहियें। (हि) क्योंकि (तदर्थः) उनका उस (अध्वर्यु) के लिये उपक्रम किया गया है। (समाख्यानम्) उनका यजमान काण्ड में कथन (न्यायपूर्वम्) युक्तियुक्त भी है। क्योंकि 'आध्वर्यव' नामक महाकाण्ड के अन्तर्गत ही अवान्तर भेद से यजमानकाण्ड पढ़ा गया है।

भा०—यजमानकाण्ड सम्बन्धी द्वाद्वशद्वन्द्वकर्म का विधान सम्पादनीय अर्थात् कर्त्तव्य है, जो कि 'तानि सम्पाद्यानि' पद से स्पष्ट हो रहा है। परन्तु यजमान यज्ञसम्बन्धी अनेक व्यवहारों में फँसे हुये होने से उसके सम्पादन में असमर्थ होते हैं। इस कारण शास्त्रने अपने स्थान में कर्म कराने के लिए अध्वर्यु को परिक्रम बतलाया है। अतः अध्वर्यु को ही द्वाद्वश द्वन्द्वकर्म करने चाहियें, यजमान को नहीं करने चाहियें।

सं०—अध्वर्यु के किये कर्म का अनुष्ठान होता को करना चाहिये, इसको कहते हैं।

### ११—होतुः करणमन्त्रानुष्ठानतृत्वाधिकरणम्—

### विप्रतिषेधे करणः समवायविशेषादितरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यात्॥ २१॥

प०क्र०—(विप्रतिषेधे) विरोध होने पर अध्वर्युतया अनुष्ठान किये कर्म को "कुण्डपायिनामयनम्" इत्यादि-विधिवाक्यों से होता को करना कहा है। (करणः) अर्थात् अध्वर्यु से अनुष्ठान किया हुआ कर्म होता को करना चाहिये। क्योंकि (समवायविशेषात्) उसका उसी से सम्बन्ध है। (इतरम्) दूसरे कर्म (तेषाम्) होता आदि ऋत्विजों के बीच (अन्यः) होता से भिन्न 'मैत्रावरुण' संज्ञक ऋत्विक् को करने चाहियें। (यतः) क्योंकि (विशेषः) उसमें होता का सामीप्यरूप विशेष सम्बन्ध (स्यात्) है।

भा०—'यो होता सोऽध्वर्युः'-इस वाक्य से होता को अध्वर्यु कहा है। यह वाक्य उस आध्वर्यवकर्म का होता! के साथ सम्बन्धविशेष बतलाया है, और 'मैत्रावरुण' से होता का सम्बन्ध स्वतः विशेषरूप से स्पष्ट है। अतः पूर्व परिवेष्टनकरण और तदनुवादनरूप दोनों कर्म केवल होता को नहीं करने चाहियें, किन्तु (परिवीरसि) मन्त्र से यूपपरिवेष्टनकरणरूप कर्म होता करे, और 'युवा सुवासाः' मन्त्र से परिवेष्टन का अनुवादरूप कर्म मैत्रावरुण को करना चाहिये।

सं० प्रैषकर्ता से प्रैषार्भकर्ता भेद बतलाते हैं।

### १२—प्रैषप्रैषार्थयोर्भिन्नकर्तृकत्वाधिकरणम्—

### प्रैषेषु च पराधिकारात्॥ २२॥

प०क्र०—(च) और (प्रैषेषु) प्रेष का कर्त्ता (प्रेषणकर्ता) 'प्रैष' कर्म के कर्ता से पृथक् है। क्योंकि (पराधिकारात्) उसका अन्य के ही लिये विधान है।

भा०—प्रैषवाक्यों में आग्नीध्र आदि ऋत्विक् को सम्बोधन करके 'प्रोक्षणीः' आदि लाना बतलाया है। उससे प्रषकर्त्ता (प्रेरक) तथा प्रैषार्थ का कर्त्ता कदापि एक नहीं होता है। क्योंकि प्रेरक और प्रेरित (कार्य को) करनेवाला एक नहीं होता। अतः प्रैषकर्त्ता (प्रेरक) और प्रैषार्थकर्त्ता (प्रेर्य) अर्थात् प्रयोजक और प्रयोज्य दोनों ऋत्विक् भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं।

सं०—अब अग्नीध्र को प्रैषार्थ का करनेवाला बतलाते हैं।

**१३—प्रैषस्याध्वर्यवत्वाधिकरणम्—**

**यू०प०—अध्वर्युस्तु दर्शनात्॥ २३॥**

प०क्र०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष का सूचक है। (अध्वर्युः) उस प्रैष का करने वाला अध्वर्यु है। क्योंकि (दर्शनात्) उसका प्रैषकर्त्ता से भेद से देखा जाता है।

भा०—"वज्रो वै, स्फ्यः यदन्वंञ्चं धारयेत्, वज्रेणाध्वर्युं क्षिण्वीत" इस प्रकार ऋत्विक् प्रैष का उच्चारण करता है—यह 'स्फ्य' तलवार के समान लकड़ी का बना हुआ होता है। सार यह है—कि यदि अध्वर्यु प्रैषकारी अर्थवाला न होता, तो स्फ्यधारी से उसका अभेद बतलाया जाता। परन्तु भेद पाया जाने से स्फ्यधारी प्रैषकर्त्ता ही मानना समीचीन है। अतः प्रैषकर्त्ता से प्रैषार्थकारी भिन्न है, वह अध्वर्यु ही है, अन्य नहीं।

सं०—इस पूर्वपक्ष का यह समाधान है।

**सि०प०—गौणो वा कर्मसामान्यात्॥ २४॥**

प०क्र०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण करता है। (गौणः) उस वाक्य में जो (अध्वर्युः) शब्द है, वह गुणवृत्ति से अग्नीध्र का नाम है। क्योंकि (कर्मसामान्यात्) उसमें कर्म करना पाया जाता है।

भा०—जिस भांति अध्वर्यु प्रैष का करनेवानला है, उसी प्रकार अग्नीध्र प्रैष का करनेवाला है। प्रैष तथा प्रैषार्थ का भेद होने पर भी काम करने का अंश है, उसमें कुछ भी भेद नहीं। और प्रैष-कर्म तथा प्रैषार्थ-कर्म दोनों का अभेद होने से अध्वर्यु शब्द भी सिंह शब्द के समान दोनों का नाम है, केवल इतना ही भेद है—कि अध्वर्यु प्रैष करनेवाला एवं अग्नीध्र प्रैषार्थ करनेवाला है। अर्थात् उस वाक्य में 'अध्वर्यु' यह शब्द अध्वर्यु अर्थ में नहीं, किन्तु कर्मकरनेरूप की तुलना से अग्नीध्र का वाचक है। अतः सिद्ध है—कि प्रैषकरनेवाले अध्वर्यु से प्रैषार्थकरनेवाला भिन्न है, और वह 'अग्नीध्र' नामक ऋत्विक् ही है।

सं०—'करण' मन्त्रों में यजमान के द्वारा फल की प्रार्थना की जाती

है, उसमें पूर्वपक्ष करते हैं।

### १४—करणमन्त्रप्रकाश्यफलस्य याजमानताधिकरणम्—

### पू०प०—ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्त्वात्॥ २५॥

प०क्र०—'करणेषु' करणवाचक मन्त्रों में (ऋत्विक्फलम्) अध्वर्यु ऋत्विक् के लिए फल की प्रार्थना करता है, यह समीचीन है। क्योंकि (अर्थवत्त्वात्) ऐसा होने से सार्थक होता है।

भा०—'ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु' ऋ० ८।७।१५।१। इस मन्त्र में बतलाया है-कि हे परमात्मन् वेदविहित एवं साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान किए कर्म का जो फल है, वह सब मेरे को मिले। ऐसे मन्त्रों को करण कहते हैं, और इन मन्त्रों का आवहनीय अग्नि का आधान करते समय पाठ किया जाता है। परन्तु यदि फलप्रार्थना कल्पनामात्र मानी जावे, तो प्रसिद्ध अर्थ के छूट जाने से सम्पूर्ण मन्त्र निरर्थक हो जाता है। परन्तु वेद निरर्थक और असम्बद्ध नहीं होते। अत: यही मानना ठीक है-कि पाठकर्त्ता अध्वर्यु की ओर से यज्ञफलप्राप्ति की प्रार्थना की गई है, वह अपने लिए है, न कि यजमान के लिए।

सं०—इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

### उ०प०—स्वामिनो वा तदर्थत्वात्॥ २६॥

प०क्र०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष के खण्डन के लिए आया है। (स्वामिनः) यजमान के लिए याग के फल की प्रार्थना है। क्योंकि (तदर्थ-त्वात्) वह यज्ञ उसी के लिए है, और वही यज्ञफल का भोगनेवाला है।

भा०—आत्मा दो प्रकार का माना गया है, एक मुख्य दूसरा गौण। यथार्थ में अध्वर्यु का आत्मा मुख्य और यजमान का गौण आत्मा कहलाता है। परन्तु (अस्मद्) शब्द का प्रयोग दोनों के लिए एक समान ही होता है, जो सर्वसम्मत है। अत एव 'करणवाचक' मन्त्रों के पाठ करनेवाले अध्वर्यु की ओर से उन मन्त्रों में यजमान के निमित्त यज्ञफलप्राप्ति की प्रार्थना की गई है, न कि अपने लिए।

सं०—इसमें यह लिङ्ग (प्रमाण) है।

### उ०प०स०—लिङ्गदर्शनाच्च॥ २७॥

प०क्र०—(च) तथा (व्येपदेशात्) कहीं-कहीं वाक्यशेष से अध्वर्यु एवं यजमान दोनों में फल की प्रार्थना का होना समानरूप से पाया जाता है।

भा०—'किमत्र नः' इस वाक्य से फलप्राप्ति की प्रार्थना यजमान

और अध्वर्यु दोनों की ओर से समान है। उसे केवल यजमान की प्रार्थना नहीं माननी चाहिये।

सं०—द्रव्यसंस्कार प्रकृति एवं विकृति सब कर्मों के लिये है।

**सि०प०—द्रव्यसंस्कारः प्रकरणविशेषात् सर्वकर्मणाम्॥ ३०॥**

प०क्र०—(द्रव्यसंस्कारः) यज्ञके उपयोगी 'बर्हि' आदि द्रव्यों के आस्तरण आदि संस्काररूप धर्म (सर्वकर्मणाम्) सब कर्मों के लिये, अर्थात् प्रकृति एवं विकृति दोनों के लिये हैं। (प्रकरणाविशेषात्) क्योंकि प्रकरण से उनका सामान्य सम्बन्ध पाया जाता है।

भा०—प्रकृतियज्ञ में जो बर्हि आदि द्रव्यों के आस्तरणरूप आदि संस्कार हैं, उनमें विकृति-भागों का प्रकृति-भाग के साथ उपकार्योपकारक-भाव सम्बन्ध है, और उसी सम्बन्ध से प्रकृतियज्ञप्रकरण में पढ़े गये द्रव्यसंस्कार का अनुष्ठान विकृतियाग में ही होना ठीक है। अत एव द्रव्यसंस्काररूप धर्म प्रकृति तथा विकृति दोनों के लिये है, केवल प्रकृति-याग के लिये ही नहीं।

सं०—कहीं-कहीं प्रकृति में बतलाये गये धर्मों का विकृति में असम्बन्ध कहते हैं।

**१७—धर्माणां प्राकृतकार्यार्थत्वाधिकणम्—**

**सि०प०-निर्देशात्तु विकृतावपूर्वस्याऽनधिकारः॥ ३१॥**

प०क्र०—'तु' शब्द विलक्षणता का सूचक है। (विकृतौ) अग्नीषोमीय पशुसंज्ञक विकृतियज्ञ में (अपूर्वस्य) बर्हि आदि के लवनादि धर्मों का (अनधिकारः) सम्बन्ध नहीं होता। क्योंकि (निर्देशात्) उनके कार्य आदि का उस विकृति में ही विधान है, दर्शपूर्णमासरूप प्रकृति में नहीं।

मा०—बर्हि आदि के आस्तरण आदि कार्य का, प्रकृतियाग के द्वारा विकृतियाग में सम्बन्ध न होने से, उनके अपेक्षित लवनादिधर्म, तथा यूपावट का आस्तरण, एवं घी से यूप को चिकना करना आदि बतलाये गए धर्म भी प्रकृति के द्वारा विकृति में नहीं आते। क्योंकि दर्शपूर्णमास-याग में पशुदान के निमित्त यूप नहीं गाड़ा जाता, और उसके न गाड़ने से आस्तरण और अञ्जन भी नहीं हो सकते। इस कारण उनका विकृति में सम्बन्ध नहीं होता।

सं०—विधृति और पवित्र दोनों के एकपरिभोजनीयसंज्ञक (नामक) बर्हि से बनाये जाने को बतलाते हैं।

## १८—लवनस्याऽसर्वार्थताधिकरणम्—

**सि०प०—विरोधे च श्रुतिविशेषादव्यक्तः शेषे॥ ३२॥**

प०क्र०—(च) और (शेषे) विधृति तथा पवित्र दोनों में (अव्यक्तः) 'असंस्कृत बर्हि' का विनियोग है, संस्कृत का नहीं। क्योंकि (श्रुतिविशेषात्) उसका दोनों में विनियोग होने से वाक्य विशेष के साथ (विरोधे) विरोध हो जाता है।

भा०—विधृति और पवित्र दोनों डाभ से बनाये जाते हैं। परन्तु वेदि के आस्तरण आदि का संस्कृत बर्हि से ही बनाने का नियम है। ये एक दूसरे पर लागू नहीं हो सकते। यदि संस्कृत बर्हि का वेदि के आस्तरण में विनियोग पाया जाता है, तो उसका उभयत्र प्रयोग होना सम्भव है, न कि केवल वेदि आस्तरण में ही। अतः उपर्युक्तवस्तुयें 'परिभोजनीय' नामक दर्भविशेष से बनानी चाहियें, संस्कृत से नहीं।

सं०—प्रकृति पुरोडाश के शकल का 'ऐन्द्रवायव'-पात्र में रक्खा जाना बतलाते हैं।

## १९—शेषनिधानाधिकरणम्—

**सि०प०—अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमानसंयोगात्॥ ३३॥**

प०क्र०—(एकदेशस्य) प्राकृत पुरोडाश के एकदेश का (तु) निश्चय ही (अपनयः) ऐन्द्रवायवनामकपात्र में अपनय होने योग्य है। क्योंकि (विद्यमानसंयोगात्) ऐसा होने से विद्यमान का संयोग हो जाता है।

भा०—'पुरोडाशशकलमैन्द्रवायवस्य पात्रे निदधाति' वाक्य में पुरोडाश का एक खण्ड 'ऐन्द्रवायव' संज्ञक पात्र में रखे—इस विधान से एकदेश प्राकृत-सवनीय पुरोडाश का होना चाहिये। अतः ऐन्द्रवायव-संज्ञक-पात्र में पुरोडाश के एकदेशीय होने का ही विधान है, किसी अन्य का नहीं, यह भाव है।

सं०—प्रधान काम्येष्टि के उपांशु धर्म का अनुष्ठान बतलाते हैं।

## २०—उपांशुत्वस्य प्रधानार्थात्वाधिकरणम्।

**पू०प०—विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत्॥ ३४॥**

प०क्र०—(प्रकृतिवत्) दर्शपूर्णमासयाग की भाँति (विकृतौ) काम्येष्टिरूप विकृतियाग में (शेषः) विधान किया हुआ उपांशुत्व-रूपगुण भी (सर्वार्थः) अङ्ग एवं प्रधान सब इष्टियों के लिये है।

भा०—अङ्ग तथा प्रधान सब काम्य कर्मों का अनुष्टान उपांशु होना चाहिये। उपांशुमन्त्रों का होठों में उच्चारणपूर्वक जो अनुष्ठान होता है, उसे

ही उपांशु अनुष्ठान कहा जाता है।

सं०—इस पक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—मुख्यार्थो वाऽङ्गस्याचोदितत्वात्॥ ३५॥**

प०क्र०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष के निराकरण के लिए आया है। (मुख्यार्थ:) उपांशु-धर्म का विधान प्रधान के निमित्त है। क्योंकि (अङ्गस्य) अङ्ग का (अचोदित्वात्) वह धर्म विधान नहीं किया गया।

भा०—'काम्या इष्टय:' वाक्य में इष्टियों का काम्यगुण विशेष है-ऐसा कहा है। उससे अङ्ग-इष्टियों की स्पष्टरूप से व्यावृत्ति होती है। क्योंकि बलवती होने से यजमान को केवल प्रधान-इष्टि ही मुख्य-काम्य-कर्म है। फलहीन होने से अङ्गइष्टियां नहीं। अर्थात् काम्येष्टियों का ही उपांशु अनुष्ठान किया जाता है, अकाम्येष्टियों का नहीं।

सं०—नवनीत आज्य को 'श्येन' नामक यज्ञ के अङ्गभूत दीक्षणीय आदि इष्टियों का धर्म बतलाते हैं।

**२१—दृतिनवीनताज्याधिकरणम्—**

**सि०प०—सन्निधानविशेषादसम्भवे तदङ्गानाम्॥ ३६॥**

प०क्र०—(असंभवे) 'श्येन' याग में आज्य द्रव्य का होना असम्भव होने से (तत्) विधान किया गया मक्खन घी (अङ्गानाम्) उस याग के अङ्गभूत दीक्षणीय आदि इष्टियों का धर्म है। क्योंकि (सन्निधानविशेषात्) उसका धर्म होने पर भी उस का याग के साथ विशेष सम्बन्ध हो सकता है।

भा०—'इति नवनीतमाज्यं भवति' इस वाक्य का यह भाव है—कि यद्यपि श्येन-यज्ञ की भांति उसके अङ्गभूत इष्टियों में भी प्रेरणार्थक वाक्य द्वारा ज्योतिष्टोमरूप प्रकृतयाग से 'घी' रूप द्रव्य सिद्ध है। तथापि मक्खन घी का विधान नहीं मिलता। और जिसकी अप्राप्ति है, उसका विधान आवश्यक है। अत: उस वाक्य में जो नवनीतमाज्यम् (मक्खन घी) का विधान मिलता है, वह श्येन यज्ञ के अङ्गभूत इष्टियों का धर्म है, न कि श्येनयाग का।

सं०—इस अर्थ में आशङ्का करते हैं।

**पू०प०—आधानेऽपि तथेति चेत्॥ ३७॥**

प०क्र०—(तथा) जैसे नवनीताज्य श्येनयाग के अङ्गों का धर्म है, इसी प्रकार (आधाने) अग्न्याधान का (अपि) भी धर्म है। (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो (ठीक नहीं)।

भा०—अन्य इष्टियां जैसे श्येन-याग का अङ्ग हैं, उसी प्रकार

अग्न्याधान भी उसका ही अङ्ग है। क्योंकि अन्य इष्टियों के समान अग्न्याधान के बिना भी श्येनयाग सिद्ध नहीं होता। अतः नवनीताज्य जैसे अङ्गभूत इष्टियों का धर्म है, उसी प्रकार अग्न्याधान भी उनका धर्म होना चाहिये।

सं०—इस आशङ्का का समाधान करते हैं।

**उ०प०—नाऽप्रकरणत्वादङ्गस्य तन्निमित्तत्वात्॥ ३८॥**

प०क्र०—(न) पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं। क्योंकि (अप्रकरण-त्वात्) अग्न्याधान का प्रकरण नहीं। और (अङ्गस्य) नवनीताज्य (अतन्निमित्त-त्वात्) उसके उद्देश्य से विधान नहीं किया गया।

भा०—प्रकरण और उद्देश्य सम्बन्ध के प्रेरक होते हैं। परन्तु यह दोनों अग्न्याधान में नहीं हैं। क्योंकि वह अग्न्याधान श्येनयाग के प्रकरण में नहीं पढ़ा गया, और न उसके उद्देश्य से नवनीताज्य का विधान ही किया गया है। अतः वह आज्य उक्त याग की अङ्गभूत दक्षणीयादि इष्टियों का ही धर्म है, अग्न्याधान का नहीं।

सं०—आज्य के श्येनयाग की अङ्गभूत सब इष्टियों का धर्म कहते हैं।

**२२—श्येनाङ्गानां दृतिनवनीताज्यताधिकरणम्—**

**पू०प०—तत्काले वा लिङ्गदर्शनात्॥ ३९॥**

प०क्र०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष का सूचक है। (तत्काले) वह आज्य सुत्यादिन में होने वाली इष्टियों का अङ्ग है। क्योंकि (लिङ्गदर्शनात्) ऐसे प्रमाण मिलते हैं।

भा०—अङ्ग के दो भेद हैं, सुत्यादिन जिसमें सवनीय पशु का दान होता है, दूसरा सुत्याकालीनाङ्ग जिसमें पुरोडाश का निर्वाप होता है। उक्त याग की अङ्गरूपता से 'सह पशूनालभते' अर्थात् साथ ही पशुदान भी कह गया है, और उसका आज्य के साथ साहित्य भी कहा गया है। वह अर्थ की सिद्धि में एक चिह्न है। अतः स्पष्ट है-कि आज्य सुत्याकालीन अङ्गों का ही धर्म है, सम्पूर्ण अङ्गों का नहीं।

सं०—उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं।

**उ०प०—सर्वेषां वाऽविशेषात्॥ ४०॥**

प०क्र०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष का निराकरण करता है। (सर्वेषाम्) वह आज्य 'श्येनयाग' के सब अङ्गों का धर्म है। क्योंकि (अविशेषात्) उसका सामान्यरूप से विधान है।

भा०—नवनीताज्य श्येनयाग का अङ्ग है। यदि अङ्ग न होता, तो

साधारणरूप से विधान न पाया जाता, तथा नवनीताज्य वाक्य से उसका साधारण होना स्पष्ट है। अत: वह सम्पूर्ण अङ्गों का धर्म है, केवल सुत्यकालीन अङ्गों का ही नहीं।

सं०—पूर्वपक्ष में आए हुए लिङ्ग का समाधान किया जाता है।

**उ०प०स०—न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनम्॥ ४१॥**

प०क्र०—(न्यायोक्ते) प्रकरण में नवनीत-वाक्य सम्पूर्ण की अङ्गता का द्योतक है। (लिङ्गदर्शनात्) क्योंकि इसमें प्रमाण मिलता है।

भा०—प्रकरण के अनुकूल वाक्य मिलाकर शीघ्र ही आज्य और सम्पूर्ण अङ्गों का परस्पर धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध बतलाते हैं, जिसका कि खण्डन होना कठिन है। अत: आज्य श्येनयाग-दीक्षणीयादि सम्पूर्ण अङ्ग का धर्म है, केवल सुत्याकालीन का नहीं।

सं०—सवनीयपुरोडाशों के प्रकृतिभूत द्रव्यों को कहते हैं।

**२२—सवनीयपुरोडाशाधिकरणम्—**

**सि०प०—मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात्॥ ४२॥**

प०क्र०—'तु' शब्द सिद्धान्त का सूचक है। (सवनीयनाम्) सवनीयपुरोडाशों का (मांसम्) 'व्रीहि आदि के न मिलने पर मांसल-प्रकृति-द्रव्य है।' क्योंकि (चोदनाविशेषात्) उन द्रव्य-विधायक वाक्यों में ऐसा ही विधान है।

भा०—सवनीय-पुरोडाशों में साठी के चावल सर्वत्र माने गये हैं। और अवकाश मांसल (मसूर) का व्यवहार नहीं है। दोनों की समानरूपता से साठी उपादेय नहीं। क्योंकि उसको असवनीय पुरोडाशों में अवकाश है। इस कारण विकतियज्ञ में सवनीय पुरोडाश का सर्वत्र प्रकृति-द्रव्य (मसूर) मांसल है, नीवार (साठी आदि) नहीं, यही समीचीन है।

सं०—मांस शब्द का जो गौणीवृत्ति से मांसल अर्थ किया गया है। उसको ठीक न मानकर आशङ्का करते हैं।

**पू०प०—भक्तिरसन्निधावन्याय्येति चेत्॥ ४३॥**

प०क्र०—(असन्निधौ) अन्य पद के समीप न होने से (भक्ति:) मांस पद का जो मांसल अर्थ माना है। (अन्याय्या) वह ठीक नहीं, (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो (ठीक नहीं है)।

भा०—गौणी-वृत्ति से मांस का मांसल अर्थ किया गया है। वह गौडणी-वृत्ति से सम्भव हो सकता है। परन्तु मांस शब्द एकाकी यदि सूत्र में न होता, तथा 'सिंहो माणवक:' में माणवक की भाँति होता, तो गौणी-

वृत्ति से ऐसा अर्थ हो सकता था। परन्तु यहाँ तो एकाकी है। अतः अन्य अर्थ को ग्रहण नहीं कर सकता। इस कारण पूर्वोक्त अर्थ करना ठीक नहीं।

सं०—इस आशङ्का को उठाकर समाधान करते हैं।

**उ०प०—स्यात्प्रकृतिलिङ्गत्वाद्वैराजवत्॥ ४४॥**

प०क्र०—(वैराजवत्) जिस प्रकार 'वैराज' प्रकृतिभूत मन्त्र को बतलाने वाले साम-शब्द, सन्निद्धि से वैराजपृष्ठ नामक स्तोत्र के वाचक हो जाते हैं, (सवनीयानाम्) उसी भांति सवनीयादि शब्द की समीपता से 'मांस' शब्द भी मांसलं-वाचक (स्यात्) हो सकता है। अतः पूर्वोक्त कथन ठीक है।

भा०—सम्पूर्ण पुरोडाश व्रीहि (जौ आदि) अथवा साठी (नीवार) आदि के बनते हैं, अन्य अन्न के नहीं। सवनीय-शब्द भी मुख्यवृत्ति से पुरोडाश का वाचक है। एवं षष्ठ्यन्त होने से उसका 'मांस' शब्द से सम्बन्ध भी अनुचित है। यदि मांस का अर्थ मांस न मानें, किन्तु मांसल ही मानें, तो उसकी अन्न के धर्म के साथ समानता सम्भव है। लोक में मांस तथा पुरोडाशों का सम्बन्ध नहीं मिलता। अतः यज्ञ में मांस द्रव्य की कल्पना असत्य एवं असमीचीन है।*

**इति मीमांसादर्शने सभाषाभाष्ये तृतीयाध्यायस्याष्टमः पादः समाप्तः।**

❀❀❀

---

* बहुधा नये मीमांसा के भाष्यकारों ने यज्ञ में मांस द्रव्य का विचार करते हुए भी मांस के विषय में १०।७।१। था ११।३।१६-१७। के प्रमाण देकर मांसाहुति विहित बतलाई है। परन्तु ऐसा अनर्थ करना यज्ञ को कलङ्कित करना है। महर्षि जैमिनि ने बलपूर्वक सिद्ध किया है, कि यज्ञ में हिंसा करने का विधान कहीं नहीं है। इस कारण 'मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत्' मीमांसा० १२।२।२।२ और 'मांसपाको विहितप्रतिषेधः स्यादाहुतिसंयोगात्' मी० १२।२।६ में वेदविहित यज्ञों में मांसपाक का निषेध है, न कि मांस की आहुतियों से। अर्थात् इस सूत्र में मांस शब्द, 'सवनीयानाम्' पद की समीपता से मांसल अर्थ का ही द्योतक है, मांस का नहीं। क्यों स्वसमीपवर्ती पदान्तर के सम्बन्ध से अर्थ का निर्णय होता है।

**अलीगढ़मण्डलान्तर्गत 'भमसोई' ग्रामवास्तव्योपाध्यायपदसमलङ्कृत-श्री-चिन्तामणिशर्मसूनु—श्रीचुन्नीलालशर्मोपाध्यायात्मजाचार्य-देवदत्तशर्मोपाध्यायकृतं 'मीमांसादर्शन-भाष्यम्' तृतीयाध्यायपर्यन्तं समाप्तम्।**

**—इति शुभम्—**

# भाष्यकर्तृ-निवेदनम्

शास्त्रस्य चास्य विपुलं विलयं विलोक्य
क्षुद्रैश्च दूषितमिदं नितरां निरीक्ष्य।
शास्त्रं प्रशस्तमतुलं विहितं विमृश्य
भाष्यं मया कृतमिदं जनताग्रहैश्च॥ १॥

केचिद् वदन्ति पशुपक्षिबलिप्रदं हा
केचिद् वदन्ति भुवि मद्यपवर्धकं हा।
केचिद् वदन्ति पशुयागविधायकं हा
शास्त्रं श्रुतिज्ञमुनिजैमिनिना प्रणीतम्॥ २॥

एतादृशैः क्रकचकर्कशदुर्वचोभिः
दीर्णं मदीयहृदयं विबुधा विदन्तु।
तेनापि कारणवशेन सुभाष्यमेनत्।
चाकारि तुच्छवचसाञ्च व्यपोहनाय॥ ३॥

भाष्यं मयापि विहितं यदि संस्कृते स्यात्।
स्यान्नैव चाद्य सुमहाञ्जनतोपकारः।
तस्माच्च सर्वहितकामनयैव हिन्द्याम्
विज्ञा! व्यधायि शुभसुन्दरभाष्यमेनत्॥ ४॥

नूनं पठन्तु विबुधा बहुशः पठन्तु
नूनं सुचिन्त्य सुचिरं ननु सूचयन्तु।
दोषान् गुणाँश्च सकलानिह बोधयन्तु
भाष्यं स्वधीत्य भुवि माञ्च कृतार्थयन्तु॥ ५॥

सैषा हि भाष्यरचना भगवन् मदीया
लोकोपकारकरणे सफला सुभूयात्।
विद्यावतां मतिमतां महतां मुदे स्यात्
छात्राः स्वधीत्य सुतरां सुखिनः सदा स्युः ॥ ६ ॥

श्रीप्रेमशङ्कर इति प्रथितः सदायम्
भाष्यप्रकाशक इह प्रथतां जनेषु।
भूयाच्चिरायुरधिकोऽतिमहान् यशस्वी
पुत्रकलत्रसुखशान्तिसमृद्धिमाँश्च ॥ ७ ॥

श्रीमानभूद् ऋषिवरो गुरुशुद्धबोधः
विद्यानिधिर्गुणनिधिश्च गुरुर्गरिष्ठः।
सोऽयं यतिः सुमहतां यमिनां वरिष्ठः
तस्यैव चाद्य फलिता सुफला सुशिक्षा॥ ८ ॥

विद्यालये महति काशिकराजकीये,
प्राध्यापको मुनिकृतास्तिकदर्शनानाम्।
सोऽयं मुदा भगवते सुसमर्प्य भाष्यम्,
चेत्थं निवेदयति पण्डितदेवदत्तः॥ ९ ॥

# सूत्रों की वर्णानुक्रमसूची

# सत्यधर्म प्रकाशन

## द्वारा प्रकाशित नयी पुस्तकें

| क्र. | पुस्तक | लेखक | मूल्य |
|---|---|---|---|
| १. | सत्यार्थप्रकाश | महर्षि दयानन्द सरस्वती | ६०/- |
| २. | संस्कारविधि | महर्षि दयानन्द सरस्वती | ५०/- |
| ३. | भारतीय देशभक्तों की कारावास और बलिदान की कहानी | आचार्य सत्यानन्द | ४००/- |
| ४. | भजन संगीत सागर ( भाग-२ ) | आचार्य सत्यानन्द | १००/- |
| ५. | यज्ञ-चिकित्सा | डॉ० फुन्दनलाल अग्निहोत्री | १००/- |
| ६. | सांख्यदर्शन | स्वामी ब्रह्ममुनिजी परिव्राजक | २२५/- |
| ७. | वेदान्तदर्शन | स्वामी ब्रह्ममुनिजी परिव्राजक | २५०/- |
| ८. | मीमांसादर्शन | गंगाप्रसाद उपाध्याय | १८५/- |
| ९. | उपनिषद् भाष्य ( भाग-१ ) ( ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्नो० ) | स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती | २००/- |
| १०. | उपनिषद् ( भाग-२ ) ( ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर ) | दामोदर सातवलेकर, पं० भीमसेन | १००/- |
| ११. | वैराग्य शतक | बाबू हरिदास वैद्य | १००/- |
| १२. | मनु स्मृति | डॉ० सुरेन्द्रकुमार | १२५/- |
| १३. | महर्षि मनु बनाम डॉ० अम्बेडकर | डॉ० सुरेंन्द्रकुमार | ११०/- |
| १४. | दयानन्द लघुग्रन्थ संग्रह | महर्षि दयानन्द सरस्वती | २५/- |
| १५. | दयानन्द दर्शन | डॉ० वेदप्रकाश गुप्त | २७५/- |
| १६. | दयानन्द सिद्धान्त भास्कर | कृष्णचन्द विरमानी | प्रेस में |
| १७. | कर्म व्यवस्था | पूर्णचन्द एडवोकेट | प्रेस में |
| १८. | अरब में सात साल | पं० रुचिराम जी | प्रेम में |
| १९. | वैदिक इतिहासार्थ निर्णय | शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ | प्रेस मे |
| २०. | नेताजी और आजाद हिन्द फौज | मे०जनरल शाहनवाज खां | प्रेस में |
| २१. | १८५७ का भारतीय स्वातंन्त्रय समर | वि० दामोदर सावरकर | प्रेस में |
| २२. | आग और पानी | रघुवीर शरण मित्र | प्रेस में |
| २३. | बृहदारण्यकोपनिषंद्भाष्यम् | शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ | प्रेस में |
| २४. | छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम् | शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ | प्रेस में |
| २५. | सन्ध्या और ब्रह्म-साक्षात्कार | पं० जगन्नाथ पथिक | प्रेस में |

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी; ०११-६५८४५५९९, ९३१३७८४२७२